डॉ॰ सुशील कुमार डे

भाग ❋ २

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास

(खंड २)

History of Sanskrit Poetics

(Part II)

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास

(खंड २)

लेखक

डॉ० सुशील कुमार डे

अनुवादक

श्री मायाराम शर्मा

पुनरीक्षक

डॉ० दशरथ ओझा

प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भाषा-संपादक

श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त'

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना-३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत सरकार शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित यह ग्रंथ श्री सुशील कुमार डे, लिखित और Firma K. L. Mukhopadhyay, Calcutta-12 द्वारा प्रकाशित 'History of Sanskrit Poetics' का हिंदी अनुवाद है।

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या-८२

प्रथम संस्करण : नवम्बर, १९७३

२०००

मूल्य : रु० ११.५० (ग्यारह रुपए तथा पचास पैसे मात्र)

प्रकाशक :

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

सम्मेलन भवन, पटना-३

मुद्रक :

मुरलीधर प्रेस,

पटना-६
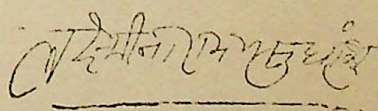
प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परि-चालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्ष-णिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ डॉ० सुशील कुमार डे लिखित History of Sanskrit Poetics का हिंदी अनुवाद है, जो भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। इसका अनुवाद-कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली के श्री मायाराम शर्मा ने किया है। इसका पुनरीक्षण डॉ० दशरथ ओझा, प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय ने किया है। यह ग्रंथ विश्वविद्यालय-स्तर के विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

अध्यक्ष
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना
दिनांक २०-११-७३

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रंथ 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' डॉ० सुशील कुमार डे लिखित तथा Firma K. L. Mukhopadhyay, Calcutta-12 द्वारा प्रकाशित 'History of Sanskrit Poetics' का हिंदी अनुवाद है। यह अनुवाद वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के अनुसंधान सहायक, श्री मायाराम शर्मा ने किया है। इसका पुनरीक्षण दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रोफेसर डॉ० दशरथ ओझा ने किया है। भाषा-संपादन का कार्य हिंदी के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' ने किया है। यह ग्रंथ विश्वविद्यालय-स्तर के छात्रों के लिए अत्यंत लाभदायक होगा, ऐसा विश्वास है।

ग्रंथ के भाग-२ का मुद्रण-कार्य मुरलीधर प्रेस, पटना-६ ने किया है। प्रूफ-संशोधन का कार्य श्री प्रफुल्लचंद्र ओझा मुक्त ने किया है। इसके आवरण-शिल्पी श्री बी० के० सेन हैं। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

शिवनन्दन प्रसाद

निदेशक
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना
दिनांक २०-११-७३

विषय-सूची

खंड-2

खंड 2

पद्धति और सिद्धांत

अध्याय : एक

आदिकाल से भामह तक

पहले खंड में, एक शास्त्र के रूप में काव्यशास्त्र के अज्ञात आरंभ पर विचार-विमर्श किया गया था।[1] उससे यह सूचित होता है कि इस विषय के प्राचीनतम अवशिष्ट ग्रंथों, सामान्य साहित्य में तत्संबंधी यत्र-तत्र विकीर्ण उद्धरणों, अन्य शास्त्रों में इसी प्रकार के विचारों से संबंधित व्याख्याओं तथा पूर्ण विकसित काव्य-रीतियों पर आधारित परोक्ष अनुमानों से यह माना जा सकता है कि इस शास्त्र तथा इसके अनुप्रयोग से संबंधित कुछ सिद्धांत पहले से ही विद्यमान थे।

इन अनुमानों के अतिरिक्त, भरत के नाट्यशास्त्र के 16 वें अध्याय में काव्यशास्त्र की रूपरेखा के प्रथम बार दर्शन होते हैं। यह रूपरेखा, सार रूप में, संभवतः प्राचीनतम उपलब्ध काव्य से भी पहले की है, भले ही इसका रचनाकाल इतना पुराना न हो। उक्त अध्याय में यदि काव्यशास्त्र का एक सिद्धांत नहीं तो एक विकसित मत अवश्य परिलक्षित होता है, जिसमें काव्य के चार अलंकारों, दस गुणों, दस दोषों तथा छत्तीस लक्षणों का वर्णन है। अति प्राचीन काल में, प्रत्यक्ष रूप में इस शास्त्र के यही अंग थे। संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में, अन्य सामग्री के अभाव के कारण, इसी काल को प्रथम ज्ञात काल माना जा सकता है।

इस संबंध में यह कहना उचित होगा कि भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में मुख्य रूप से नाट्य तथा तत्संबंधित विषयों का ही प्रतिपादन किया है;[2] काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रसंगवश ही है। परवर्ती काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों में नाट्य को काव्यशास्त्र का ही अंग मान लिया गया है और तदनुसार नाटक को भी काव्य का ही भेद माना गया है। यह माना जा सकता है कि आरंभिक काल में नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र पृथक्-पृथक् रहे होंगे। अन्य प्रमाणों के

---

1. देखिए खंड 1, पृ० 1-17.
2. विंटरनित्ज GIL iii, पृ० 7 इत्यादि, तथा काणे की 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स' पृ० vi-vii पर भरत के 'नाट्यशास्त्र' के विभिन्न अध्यायों की रूपरेखा दी गई है।

अभाव में नाट्य-शास्त्र को ही संस्कृत काव्य-शास्त्र का प्रथम ज्ञात अध्याय स्वीकार करना होगा। यह पहले ही बताया जा चुका है[1] कि 'नटसूत्र' पाणिनि के काल में भी विद्यमान थे। सूत्र-पद्धति में लिखे गए इन सूत्रों में संभवतः नाट्यकला का विवेचन किया गया था। किंतु ऐसे 'अलंकार-सूत्रों' का, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, कहीं भी उद्धरण नहीं मिलता। वास्तव में शास्त्रीय अर्थ में अलंकार शब्द, प्राचीन साहित्य में कहीं है ही नहीं। काव्यशास्त्र के प्राचीनतम विद्यमान ग्रंथों में नाट्य-विषयक विवेचन का सर्वथा अभाव है। क्योंकि नाट्य स्वयं एक पृथक् शास्त्र था, इसलिए संभवतः काव्य-शास्त्र के अंतर्गत उसका विवेचन नहीं किया गया। निस्संदेह, भामह तथा दंडी, दोनों ही 'आचार्यों' ने 'नाट्य' को 'काव्य' का एक भेद बताया है, किंतु इस विषय पर विस्तृत विवेचन के हेतु उन्होंने विशिष्ट ग्रंथों को ही निर्दिष्ट किया है।[2] इन आचार्यों के पश्चात्, काव्यशास्त्र-विषयक महत्त्वपूर्ण लेखक वामन हुए हैं। उन्होंने नाटक के प्रति असामान्य पक्षपात किया है (i. 3, 30-22), किंतु उन्होंने इस विषय पर अधिक लिखना उचित नहीं समझा। परवर्ती काल में हेमचंद्र, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ही ऐसे लेखक हुए हैं, जिनकी रचनाएँ इस शास्त्र में आलोचनात्मक विवेचन तथा तत्संबंधी परिपक्व सिद्धांतों को परिलक्षित करती हैं। उनके अंतर्गत विशिष्ट अध्यायों में इस शास्त्र पर विचार किया गया है। विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ऐसे अर्वाचीन लेखक हैं, जिन्होंने नाट्यकला के प्रामाणिक ग्रंथ, 'दशरूपक' को निर्दिष्ट करते हुए, उसे संक्षिप्त रूप में उद्धृत किया है। सर्वकोशकार हेमचंद्र ने भरत तथा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त के प्रति बहुत आदर प्रकट किया है, किंतु इस विषय पर उन्होंने संक्षिप्त रूप में ही विचार किया है और अधिक जानकारी के लिए भरत तथा कोहल के सिद्धांत ग्रंथों को निर्दिष्ट किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्य-शास्त्र, काव्यशास्त्र के प्राचीन संप्रदाय से पृथक् रूप में विद्यमान था। इस प्रकार यह कोई विस्मय की बात नहीं है कि भरत ने काव्य के नाटकाश्रित अलंकारों का विवेचन एक पृथक् अध्याय में किया है। नाटकाश्रित गुणों तथा दोषों की चर्चा करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप में उन्हें क्रमशः 'काव्य गुण' तथा 'काव्य दोष' के नामों से लक्षित किया है (16, 92, 84)। अलंकारों के विषय में 'काव्यस्येते ह्यलंकाराः' (16,

1. खंड 1, पृ० 16.
2. 'काव्यादर्श' i. 31, 'भामहालंकार' i 24, टीकाकारों के अनुसार दंडी के ग्रंथ में 'अन्यत्र' शब्द भरत को निर्दिष्ट करता है।

41)[1] कहते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन अलंकारों का प्रयोग केवल आलंकारिक भाषा में ही किया जाता है।

भरत ने काव्यशास्त्र विषयक इस अध्याय के आरंभ में 'लक्षणों' का निरूपण किया है। ये लक्षण आंशिक रूप से काव्य के औपचारिक तथा आवश्यक अंग प्रतीत होते हैं।[2]

भरत ने इस प्रकार के 36 लक्षणों का उल्लेख किया है। उस अध्याय के अधिकांश में इन्हीं की परिभाषाएँ दी गई हैं। जैसा कि अध्याय 17 के श्लोक 17 में[3] कहा गया है, इन्हीं लक्षणों के आधार पर इस शास्त्र को काव्य-लक्षण नाम से परिलक्षित किया गया है। जिस प्रकार भरत ने लक्षणों का विवेचन किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि से अलंकारों की अपेक्षा लक्षण अधिक महत्त्वपूर्ण थे। भरत ने कुछ अलंकारों का उल्लेख मात्र ही किया है।

---

1. संस्करण काव्यमाला (निर्णयसागर प्रेस), संस्करण गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, xvi. 41, किंतु चौखंबा संस्कृत सीरीज संस्करण xvii. 42 में पाठ भिन्न है। यहाँ पर संदर्भ काव्यमाला संस्करण से ही दिए गए हैं। श्लोक 104 तथा 110 से भी तुलना कीजिए। भरत ने अन्य अध्यायों की तरह इस अध्याय में नाटक को निर्दिष्ट करने के लिए 'काव्य' शब्द का कई बार प्रयोग किया है, किंतु यह बात ध्यान देने की है कि भरत के विचार में काव्य आलंकारिक पदावली है और इसलिए उसे काव्य शब्द से लक्षित करना उचित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अध्याय में उन्होंने 'काव्य' तथा 'नाटक' को प्रबंध के दो भेदों के रूप में परिलक्षित किया है।

2. लक्षणों तथा गुणों के विवेचन से संबंधित मूल पाठ के दो भेद हैं। यहाँ उन्हें क तथा ख पाठ से लक्षित किया जा रहा है। अभिनवगुप्त दोनों पाठों से परिचित थे, किन्तु लक्षणों के संबंध में उन्होंने क पाठ का ही अनुसरण किया है, क्योंकि यह पाठ उन्हें परंपरागत रूप में अपने गुरुओं से प्राप्त हुआ था। (अस्मदुपाध्याय परंपरागत :, पृ० 384)। काव्यमाला तथा गायकवाड़ सीरीज में पाठ दिया गया है। उसमें 39 श्लोक हैं, आरंभ में उपजाति में तथा बाद में अनुष्टुप छंद में। चौखंबा संस्कृत सीरीज के संस्करण में ख पाठ दिया गया है (पाद टिप्पणी में क पाठ भी दिया गया है। उसमें 42 श्लोक हैं। सभी अनुष्टुप में हैं। 'दशरूपक' में क पाठ का अनुसरण है, किंतु शिंगभूपाल तथा विश्वनाथ ने ख पाठ को स्वीकार किया है। भोज को दोनों पाठ ज्ञात थे, किंतु उन्होंने 64 लक्षण दिए हैं। शारदातनय ने भोज का अनुसरण किया है।

3. काव्यमाला तथा गायकवाढ़ संस्करणों में; चौखंबा संस्करण पृ० 204, श्लोक 16.

काव्यशास्त्र के सिद्धांत में इन लक्षणों को क्या स्थान दिया जाना चाहिए, यह बात भरत के विवेचन से ठीक तरह स्पष्ट नहीं होती, किंतु परवर्ती काव्य-सिद्धांत में काव्य-अलंकारों अथवा काव्य-गुणों को ही उनके स्थान में प्रयुक्त कर लिया गया है। दंडी ने नाटकाश्रित 'संध्यंग' तथा 'वृत्यंग' के साथ-साथ, व्यापक अर्थों में अलंकारों के अंतर्गत संक्षिप्त रूप में उनका उल्लेख किया है। (ii. 366) तथा विवेचनार्थ 'आगमांतर' (तरुणवाचस्पति के मतानुसार 'आगमांतर' भरत को सूचित करता है) को निर्दिष्ट किया है। धनंजय ने भी ऐसा ही किया है (संस्करण निर्णयसागर प्रेस, iv. 84)। विश्वनाथ (सं० दुर्गाप्रसाद, vi. 171-111 पृ० 316-332) ने नाटक का विवेचन करते हुए कुछ लक्षणों को 'नाट्यालंकार' के नाम से सूचित किया है तथा यह भी कहा है कि यद्यपि कुछ लक्षणों को 'गुण, अलंकार, भाव तथा संधि' के अंतर्गत मानना उचित है, तथापि उनका विशिष्ट उल्लेख अपेक्षित है, क्योंकि नाटक में उनकी सिद्धि प्रयत्न से ही होती हैं (पृ० 332)। परवर्ती साहित्य में नाटक के अंतर्गत, रूढ़ परंपरा के कारण, लक्षणों का उल्लेख किया जाता रहा; किंतु काव्यशास्त्र के ग्रंथों में उनका सर्वथा लोप हो गया। अपवादस्वरूप परवर्ती साहित्य में जयदेव कृत 'चंद्रालोक' ही एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें लक्षणों पर विचार किया गया है। इस अनुशीलन से संभवत: यही सूचित होता है कि लक्षण नाटकाश्रित ही माने गए थे। इसके अतिरिक्त यह निष्कर्ष भी निकलता है कि काव्यशास्त्र के आदिकाल में लक्षणों को काव्य-गुणों तथा अलंकारों से भिन्न मानकर उन्हें पृथक् रूप से विवेचन-योग्य समझा गया था। आलोचना के सिद्धांतों में विकास हो जाने के कारण बाद में इनका उचित स्थान काव्य-गुणों तथा अलंकारों के क्षेत्र में निश्चित कर लिया गया और उन्हीं में इनका समावेश भी कर लिया गया।[1]

वी० राघवन ने लक्षण-विचार पर विस्तृत इतिहास लिखा है।[2] चूँकि लक्षण-पद्धति का बड़ी जल्दी लोप हो गया; अथवा वह काव्यशास्त्र तथा नाट्य

---

1. उदाहरण के लिए भरत ने 'आशी:' को एक 'लक्षण' कहा है; भामह ने 'अलंकार' के रूप में 'ससंदेह' का उल्लेख करते हुए इस प्रकार कहा है— 'आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मता' (iii. 94.) दंडी ii. 357 (तथा भट्टि) ने इसे पहले से ही अलंकार मान लिया है। यह महत्त्वपूर्ण है कि कुतंक ने इसे अलंकार कहनेवालों का विरोध किया है।
2. 'सम कान्सेप्ट्स ऑफ़ दि अलंकारशास्त्र', अड्यार लाइब्रेरी 1942, पृ० 1-47.

के इतिहास का एक अनावश्यक अवशेष मात्र बनकर रह गई थी, इसलिए यहाँ आनुषंगिक रूप में ही उसका उल्लेख अपेक्षित है। भरत के मूलपाठ की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लक्षण के संबंध में दस विभिन्न मतों का उल्लेख किया है; किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षण अथवा भूषण को (संभवत: सामुद्रिक लक्षण की तरह), सामान्यत: काव्यरूपी शरीर का शोभाकर सहज साधन अथवा स्वयं काव्य ही मान लिया गया था। यद्यपि अलंकार की तरह लक्षण का धर्म भी काव्य-शोभाकर होता है, तथापि उसका अपना पृथक् अस्तित्व नहीं होता। वह अपृथक्-सिद्ध होता है, अर्थात् वह स्वयं काव्य को शोभायमान करता है, किंतु अलंकार की तरह विशिष्ट शोभा के हेतु उसे बाहर से जोड़ा नहीं जाता। इतनी बात तो स्पष्ट है कि आरंभ से ही लक्षण तथा अलंकार में आंशिक समानधर्मिता थी; कालांतर में लक्षण अलंकार में विलीन हो गए। नाट्य-संध्यंग-परक नाटकधर्म के रूप में भी लक्षण का अधिक महत्त्व नहीं था। 'दशरूपक' में लक्षण का पृथक् रूप में विवेचन न होना महत्त्वपूर्ण बात है। मुख्य रूप से यह सिद्धांत कि अलंकार के समान, लक्षण भी शोभाकर-धर्मी है, अभिनवगुप्त द्वारा अंतिम बार समर्थित हुआ। अभिनव-गुप्त के साथ ही इस मत की समाप्ति हो गई।

लक्षणों के पश्चात् भरत ने काव्यालंकारों के अधिक रोचक विषय की चर्चा की है। भरत के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय में इस प्रकार के केवल चार अलंकार ही स्वीकार किए गए थे: 'उपमा', 'रूपक', 'दीपक'[1] तथा 'यमक'। 'उपमेय' अथवा 'उपमान' की एकता अथवा अनेकता के अनुसार 'उपमा' के चार भेद किए गए हैं।[2] भरत ने स्पष्ट रूप में इन शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है। उपमानाश्रित गुणों के अनुसार एक अन्य दृष्टिकोण से 'उपमा' के उदाहरणों-सहित पाँच भेदों का उल्लेख किया गया है: (1) प्रशंसोपमा, (2) निंदोपमा, (3) कल्पितोपमा, (4) सदृशी उपमा तथा (5) किंचित सदृशी उपमा।[3] परवर्ती काल में भामह, दंडी तथा उद्भट प्रभृति आचार्यों ने व्याकरण इत्यादि पर आश्रित उपमा के सूक्ष्म भेदों का विवेचन किया था तथा वामन ने उपमा की एक व्यापक परिभाषा की थी। भरत इन सब बातों से अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। उपमा का ऐसा सूक्ष्म

1. अनुवाद अनावश्यक है।
2. अर्थात् (1) एकस्य एकेन, (2) एकस्य अनेकेन, (3) अनेकस्य एकेन, (4) बहूनां बहुभि:।
3. अभिनवगुप्त ने 'असदृशी' पाठांतर पर विचार किया है।

विश्लेषण इस काल में तत्संबंधी गंभीर चिंतन को परिलक्षित करता है।[1] भामह (ii. 37) ने भरत द्वारा दिए गए उपमा के प्रथम दो भेदों की आलोचना की है, किंतु दंडी ने उन्हें मीनमेष विना ही स्वीकार किया है (ii. 30-31); वामन (iv. 2,2) ने तीसरे भेद का लक्षण न देकर केवल उसका नाम ही दिया है। रूपक तथा दीपक[2] के उपभेदों का उल्लेख नहीं किया गया है। संभवत: उनका आविष्कार बाद में हुआ था। इसके विपरीत यमक के दस उपभेदों की विस्तार से व्याख्या की गई है तथा उनके उदाहरण भी दिए गए हैं।[3] भामह ने भी यमक के इतने उपभेद नहीं दिए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य शास्त्र के विकासारंभ में परवर्ती लेखकों ने सुलभ शब्दालंकारों पर अधिक विचार-विमर्श किया था[4]। इन शब्दालंकारों में यमक अत्यधिक प्रिय था। अपेक्षाकृत वर्त्तमानकाल के घटिया लेखकों ने भी इस प्रकार के काव्य-प्रयोगों में आनंद का अनुभव किया है।

1. उपमा निश्चित रूप में अत्यंत प्राचीन अलंकार है, आचार्य यास्क भी इससे परिचित थे। (देखिए खंड i, पृ० 3-6)।
2 विभिन्न संस्करणों में इन दो अलंकारों से संबंधित पाठ भिन्न-भिन्न रूपों दिए गए हैं। किंतु काव्यमाला संस्करण में (xvi.55) 'संप्रकीर्तित' को छोड़कर सभी पाठों में समान शब्द हैं। 'संप्रकीर्तित' स्पष्ट रूप में (जैसा कि अभिनव की टीका से सिद्ध होता है) 'संप्रदीपक' के स्थान पर अशुद्ध पाठ है। अन्य संस्करणों में शुद्ध पाठ ही दिया गया है।
3. भट्टि, दंडी इत्यादि लेखकों की रचनाओं में इनमें से अधिकांश उपभेदों के नाम मिलते हैं, किंतु उनकी परिभाषाओं में भिन्नता आ गई है। देखिए खंड i, पृ० 52, पा० टि० 1.
4. भट्टि, दंडी, वामन, रुद्रट, अग्नि-पुराण तथा भोज इत्यादि प्राचीन लेखकों की रचनाओं में यही स्थिति है। भामह ने केवल पाँच भेद बताए हैं। उद्भट ही एक ऐसे प्राचीन लेखक हैं, जिन्होंने इस विषय को अछूता छोड़ दिया है। भरत के विस्तृत विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इस अलंकार का बहुत पहले ही विवेचन किया जा चुका था, यथा, 'रामायण' में सुंदरकांड, v. 15-17, तथा ईसा की दूसरी शती के रुद्रदामा के शिला-लेख से प्रमाणित होता है। संभवत: इसे अंत्यानुप्रास के तुल्य मान लिया गया। प्राचीन संस्कृत में अनुप्रास का अभाव ही रहा है। परवर्ती साहित्य में 'अंत्यानुप्रास' से ही इसकी उत्पत्ति हुई है। किंतु मम्मट तथा परवर्ती लेखकों ने, संभवत: आनंदवर्धन (ii. 16 इत्यादि की टीका) के इस कथन का पालन करते हुए कि यमक प्रयत्न-साध्य होने के अतिरिक्त रस की पुष्टि के लिए भी है, कुछ शब्दों में ही यमक को समाप्त कर दिया है। काव्य की सौंदर्य बोधात्मक-आवश्यकताओं के सूक्ष्म विवेचन में जैसे-जैसे प्रगति होती गई, वैसे वैसे काव्यशास्त्र से मुख्य रूप से शब्दाडंबर पर आश्रित अलंकारों

परवर्ती काल में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के परस्पर भेद-विवेचन का न तो भरत ने उल्लेख किया है[1] और न ही भामह ने, किंतु भरत ने यमक के संबंध में 'शब्दाभ्यास' का प्रयोग किया है। जैसा कि इस विषय पर अभिनव की टीका से सूचित होता है, उक्त शब्द परवर्ती वर्गीकरण का द्योतक हो सकता है। प्रथमतः दंडी ने अपने तत्संबंधी विवेचन में ऐसा ही परिलक्षित किया है।

अलंकारों के पश्चात् दस काव्य-दोषों (xvi. 84 इत्यादि) तथा दस काव्य गुणों (xvi. 92 इत्यादि) पर विचार किया गया है। प्राचीन काल में काव्य के दोषों तथा गुणों की यही संख्या थी। रीति-सिद्धांत के प्रवर्तकों की चर्चा के प्रसंग में गुण तथा दोष के सिद्धांत की चर्चा आगे की जाएगी। सबसे पहले इन्हीं आचार्यों ने काव्य-गुणों तथा दोषों का गंभीर विवेचन किया था। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि भरत के निकटतम परवर्ती आचार्यों ने दोषों तथा गुणों की जो संख्या दी है और जिस प्रकार उनके लक्षण दिए हैं, वे भरत-द्वारा दी गई संख्या तथा विवेचन के अनुरूप नहीं हैं। भामह तथा दंडी दोनों ने परंपरागत दस की संख्या का पालन किया है, किंतु गुणों तथा दोषों के विषय में उन्होंने भरत के तत्संबंधी उपदेश को स्वीकार नहीं किया है। भामह ने तर्काश्रित शुद्धता[2] की दृष्टि से एक स्थल पर ग्यारहवें दोष का उल्लेख किया है तथा एक अन्य स्थल पर काव्य के दस दोषों की सूची दी है। उन्होंने केवल तीन काव्य गुणों का ही उल्लेख किया है।

भरत ने निम्नलिखित दोषों का उल्लेख किया है (xvi. 84)[3]—

की संख्या तथा उनकी चर्चा में स्वाभाविक रूप से ह्रास होता गया, यद्यपि ह्रासोन्मुख परवर्ती काव्यों में स्वयं यमक तथा अनुप्रास का बहुल प्रयोग हुआ है। परवर्ती लेखकों में असत्य कथन का दोष रहा है, भोज ने भी 'मुरज-बंध' जैसे अलंकारों को 'भरत कथित' कह डाला है।

1. किंतु अभिनव के मतानुसार भरत ने इस भेद को लक्षित किया। अपने 'लोचन' के पृ० 5 पर उनका कथन है—
"चिरंतनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे शब्दार्थालंकारत्वेनेष्टे।"

2. ग्यारहवें दोष को छोड़कर दंडी ने भामह के साथ अपनी सहमति प्रकट की है तथा दोषों इत्यादि की संख्या और उनकी परिभाषाओं में लगभग भामह का अक्षरशः अनुसरण किया है। इस विषय पर आगे चर्चा की जायगी।

3. भरत-विवेचित दोषों के संबंध में वी० राघवन् का 'शृंगार-प्रकाश', भाग 2, पृ० 229-233 देखिए। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन प्रबंध-दोषों

(1) गूढ़ार्थं पर्यायशब्दाभिहितम्[1] ।
(2) अर्थांतर (अवर्ण्यस्य वर्णनम्)[2] ।
(3) अर्थहीन (असंबद्ध) (अशेषार्थ) ।
(4) भिन्नार्थ (असभ्य अथवा भिन्नार्थ) ।
(5) एकार्थ (एकार्थस्य अभिधानम्) ।
(6) अभिप्लुतार्थ (यत्पदेन समस्यते)[3] ।
(7) न्यायादपेतं (प्रमाण-वर्जितम्) ।
( ) विषम (वृत-दोष) ।
(9) विसंधि[4] ।

का उल्लेख है—व्याघात, पुनरुक्त, अपशब्द (व्याकरणागत अशुद्धि) तथा संप्लव (शब्द-संघटना से व्यत्यय) ।

1. भरत द्वारा प्रयुक्त 'गूढ़ार्थ' शब्द का अभिप्रेतार्थ 'पर्यायशब्दाभिहितं' नहीं है, अन्यथा 'गूढ़ार्थ' तथा इससे आगे दिए गए दोष 'एकार्थ' में भेद करना कठिन हो जाएगा। संभवतः परवर्ती लेखकों ने इस दोष को 'पर्यायोक्त' नामक अलंकार के रूप में निरूपित किया है। अभिनवगुप्त ने भी इसकी इसी प्रकार व्याख्या की है। संभवतः परवर्ती आचार्यों ने विशेष संदर्भ में 'पर्यायोक्त' को एक संभव अलंकार मानते हुए अलंकार के रूप में उसका विवेचन किया था। परवर्ती शास्त्रीय अनुशीलन के परिणामस्वरूप अलंकारों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि किस प्रकार हुई, यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।
2. अभिनव ने 'शब्देनावर्णनीयमपि वर्णितं' के अर्थों में इसे मानते हुए, इसका 'अप्राकृत वर्णन' अर्थ स्वीकार नहीं किया। किंतु इसका अभिप्राय 'अवर्ण्यस्य वर्णनं' अधिक जँचता है, यद्यपि अभिनव ने इसे नहीं माना है। महिमभट्ट (पृ० 100) ने जिस वाच्यवाचन दोष का उल्लेख किया है, संभवतः वही भरत का अभिप्रेत दोष है। माघ के (i. 43) में भी यही दोष है। अभिनव ने रस तथा भाव आश्रित 'स्व-शब्द-वाच्यता-दोष' को भरत के 'अर्थांतर दोष' के ही अंतर्गत स्वीकार किया है, किंतु भरत ने इस 'स्व-शब्दवाच्यता दोष' को दोष माना भी था, यह स्पष्ट नहीं है।
3. अभिनव की व्याख्या इस प्रकार है—अभिलुप्तार्थं यथा—स राजा नीति-कुशलः सरः कुमुदशोभितम्। सर्वप्रिया वसंतश्रीः ग्रीष्मे मालतिकागमः ।। इति। अत्र प्रतिपदमर्थस्य परिसमाप्तावभिप्लुप्तार्थं, एकवाक्यत्वेन निमज्जनाभावात्।
4. 'अनुप्रतिष्ठा शब्दं यत्' प्रत्यक्षतः अशुद्ध है। अभिनव की व्याख्या स्पष्ट नहीं है, किंतु उन्होंने 'अनुपारूढ़शब्दं' पाठ ही लिया है। 'संधि' अथवा 'संधान' से उनका अभिप्राय संक्षेप से है अर्थात् सुंदर शब्द-विन्यास। गायकवाड़ संस्करण के अंतर्गत 'अनुपश्लिष्ट शब्दं' पाठ अधिक युक्त है, किंतु संभवतः यह मूल पाठ नहीं है।

(10) शब्द-हीन (अशब्दस्य योजनम्)[1] ।

किंतु भामह ने निम्नलिखित दोषों का निरूपण किया है (अध्याय iv)—

(1) अपार्थ = अपूर्ण अर्थ ।[2]

(2) व्यर्थ = संदर्भ-प्रतिकूल अर्थ ।

(3) एकार्थ (भामह के कथनानुसार अन्य आचार्यों ने इसे 'पुनरुक्त' कहा है। भरत इस सर्वविदित शब्द से अनभिज्ञ थे ।)

(4) ससंशय ।

(5) अपक्रम ।

(6) शब्द-हीन (व्याकरण से असिद्ध शब्दों) का प्रयोग ।)

(7) यतिभ्रष्ट ।

(8) भिन्नवृत्त ।

(9) विसंधि ।

(10) देश-काल-कला-लोक-न्यायागम विरोधि = अर्थात् देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम (धर्मशास्त्र) के विरुद्ध ।

इन दस दोषों के अतिरिक्त भामह ने अशुद्ध 'प्रतिज्ञा', अशुद्ध 'हेतु' तथा अशुद्ध 'दृष्टांत' पर आश्रित दोषों का भी उल्लेख किया है। क्योंकि यह दोष काव्य-न्याय की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है, अतएव भामह ने पृथक् रूप (अध्याय v) से इसका निरूपण किया है। सामान्य काव्य-लक्षणों की चर्चा करते हुए भामह ने एक अन्य स्थल (i.37 इत्यादि) पर दस ऐसे अतिरिक्त दोष भी बताए हैं, जिनसे कवि को बचना चाहिए, अर्थात्

(1) नेयार्थ ।

(2) क्लिष्ट ।

(3) अन्यार्थ ।

(4) अवाचक ।

---

1. अशब्द = अपशब्द इति अभिनवगुप्त ।
2. भामह और दंडी दोनों ने ही कहा है—'समुदायार्थ-शून्यं यत्र' । उनका कथन है कि संपूर्ण अर्थ की यह अपूर्णता, किसी वाक्य में शब्दों की स्वाभाविक अपेक्षा (आकांक्षा) के असंतुष्ट रहने के कारण ही उत्पन्न होती है। वैयाकरण और मीमांसक इस विषय पर पहले ही विचार कर चुके हैं। भामह ने व्याख्या के रूप में स्वयं कहा है (iv. 48) आगमो धर्मशास्त्राणि, लोकसीमा च तत्कृता । तद्विरोधि तदाचार व्यतिक्रमणतो ... ॥

(5) गूढ शब्दाभिधान ।

(6) अयुक्तिमत् । यथा काव्य में संदेशवाहक मेघ ।

(7) श्रुति-दुष्ट (प्रत्यक्ष रूप से ग्राम्य)[1] ।

(8) अर्थदुष्ट = परोक्ष रूप में ग्राम्य (परवर्ती लेखकों ने इसे 'अश्लीलता' कहा है) ।

(9) कल्पनादुष्ट = दोषयुक्त कल्पना; अवांछित अर्थ में दो शब्दों का सहयोजन ।

(10) श्रुतिकष्ट ।[2]

इन दस दोषों का विवरण देने के पश्चात् भामह ने यह भी बताया है कि कब यह दोष गुण बन जाते हैं (i. 54-58) । दस दोषों के इन दो वर्गों के परस्पर भेद के विषय में भामह ने कुछ नहीं कहा है, किंतु इसके विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे वर्ग के दोष काव्य के तत्त्व से संबंधित हैं तथा पहले वर्ग के दोष काव्य के वाह्य आकार अथवा रूप से संबंधित हैं। इन दोष-विषयक दो सूचियों से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि भामह के दोष, नाम तथा तत्व की दृष्टि से भरत के दोषों के अनुरूप हैं, तथापि भामह का तत्संबंधी विवेचन अपेक्षाकृत निश्चित रूप में भरत से अधिक व्यापक है ।

यह बात भी ध्यान देने की है कि अंतिम दोष, 'श्रुतिकष्ट' पर चर्चा करते हुए भामह ने कहा है कि (i. 54) विशेष शब्द-विन्यास के कारण कभी-कभी सदोष पदावली भी स्वीकार्य हो सकती है; दूसरे शब्दों में कभी-कभी दोष भी गुण में परिवर्तित हो जाता है । इसके विपरीत भरत के अनुसार सभी गुण, दोषों के विपर्यय अर्थात् विरोधी ही होते हैं ।

दोषों का निरूपण कर चुकने के पश्चात् भरत ने प्रबंधाश्रित दस गुणों की चर्चा की है ।[3]

---

1. इस विषय में भामह का पाठ प्रत्यक्षत: अशुद्ध है । अभिनव ने अपने 'लोचन' में, पृ० 82 (ii.12 की व्याख्या) पर पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा निरूपित 'श्रुतिदुष्ट' तथा 'श्रुतिकष्ट' के परस्पर भेद की व्याख्या की है ।

2. इस दोष के उदाहरणस्वरूप इस प्रकार के शब्द दिए गए हैं, यथा, अजिह्लदत् (भामह), अथवा अधाक्षीत्, अक्षौत्सीत्, तृणेधि (अभिनव, 'लोचन' में उपर्युक्त स्थल पर) ।

3. अभिनव ने 'काव्यस्य गुणा: 'पाठ लिया है (xvi 92 में), जैसा कि गायकवाड़ तथा चौखंबा संस्करणों में दिया गया है, काव्यमाला संस्करण का 'काव्यार्थगुण' पाठ नहीं लिया ।

भरत ने इस चर्चा के आरंभ में कहा है (xvi. 91) कि गुण, दोषों के विपर्यय होते हैं (गुणा विपर्ययादेषाम्)। यह एक असामान्य कथन है, क्योंकि वामन (ii. 1.1-3) जैसे परवर्ती लेखकों ने अपने सिद्धांत में गुणों को निश्चित तत्व माना है। लक्षितार्थ में दोष, गुणों के विपर्यय हैं। इसके विपरीत, जैसा कि भरत ने (xvi. 91-92) में कहा है, 'माधुर्य' तथा 'औदार्य' गुण, उनकी अपनी परिभाषा के अनुसार किसी ऐसे विशेष दोष का विपर्यय नहीं हैं, जिसकी उन्होंने चर्चा की है। संभवतः इस विषय में जैकोबी का स्पष्टीकरण[1] ठीक प्रतीत होता है। जैकोबी के अनुसार भरत ने गुणों का दोषों के विपर्यय के रूप में जो विवरण दिया है, वह सामान्य बुद्धि के अनुरूप है; क्योंकि स्वभावतः दोष को ढूंढ निकालना कठिन नहीं है, किंतु गुण का निर्धारण इतना सरल नहीं होता। इसके लिए दोष से भिन्न, गुण-तत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है। भरत ने निम्नलिखित[2] गुणों का विवेचन किया है (xvi. 92)—

(1) श्लेष=परस्पर संबद्ध तथा अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करनेवाली पदावली को श्लेष कहते हैं। प्रत्यक्ष रूप में अर्थ स्पष्ट होते हुए भी वास्तव में गहन होता है।[3]

(2) प्रसाद=स्पष्टता; शब्दार्थ संयोग से जहाँ अनुक्त अर्थ का बोध होता है।[4]

---

1. देखिए, Sb. der preuss. Akad. xxiv, पृ० 223.
2. वैकल्पिक पाठों से सूचित होता है कि गुणों से संबंधित दो पाठांतर विद्यमान थे। अभिनवगुप्त ने भरत के गुणों को वामन के गुणों के समान बताने तथा इन दोनों के गुणों को क्रमशः शब्दाश्रित गुणों तथा अर्थाश्रित गुणों का स्रोत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अतएव अभिनवगुप्त को ग्रंथ के इस अंश का ठीक मार्गदर्शक नहीं माना जा सकता। भरत के गुणों के संबंध में वी० राघवन का 'श्रृंगार प्रकाश', पृ० 271-81 देखिए।
3. हेमचंद्र (पृ० 196) तथा माणिक्यचंद्र (पृ० 191) का यह कथन है 'स्वभाव-स्पष्टं विचारगहनं वचः श्लिष्टमिति भरतः'. अभिनव के मतानुसार यह गुण वामन के 'शब्दगुण श्लेष' के अनुरूप है।
4. हेमचंद्र तथा माणिक्यचंद्र ने इस प्रकार व्याख्या की है—'विभक्त-वाच्य-वाचकायोगादनुक्तयोरपि शब्दार्थयोः प्रतिपत्तिः प्रसाद इति भरतः'। जैकोबी ने (ZDMG xiv, पृ० 138 तथा आगे पा० टि०) भरत के पाठ में 'मुख' के स्थान पर 'मुख्य' पाठ को ग्रहण किया है और भरत के 'प्रसाद' को दंडी के 'समाधि' के अनुरूप बताया है। किंतु अभिनव ने 'सुख' पाठ को ग्रहण किया है तथा ऐसा कहा है, 'सुखयति, न प्रयत्नमपेक्षते यः

(3) समता=समत्व; सुबोध तथा व्यर्थ शब्दों तथा पूर्णपदों[1] के आधिक्य से रहित।

(4) समाधि=समाधान।[2]

शब्दार्थः'। इस गुण से संभवतः भरत का आशय प्रयुक्त शब्द से अनुक्त अर्थ को परिलक्षित करने से है। इस प्रकार के शब्द, उदाहरणतया, 'चंद्रालोक' में 'मुद्रा' अलंकार जीवानंद, v. 139 तथा 'कुवलयानंद,' सं० निर्णयसागर प्रेस, 1917 पृ० 146-7 में मिलते हैं। यह 'गुण' अंशतः, वामन द्वारा दी गई 'वक्रोक्ति' (iv. 3.8) की विशेष परिभाषा के अंतर्गत आलंकारिक उक्ति के अनुरूप, अथवा परवर्ती लेखकों के 'लक्षण' अथवा 'उपचार' अलंकार के अंतर्गत माना जा सकता है। अभिनव ने वामन की 'अर्थगुण प्रसाद' की परिभाषा को 'अर्थवैमल्य' (iii. 2.3) कहा है तथा 'सोऽर्थो वैमल्याश्रयोऽपि वैमल्यमुपचारात्' कहकर उक्त मत का समर्थन किया है। उन्होंने भरत के 'प्रसाद' को वामन के 'अर्थगुण' के अनुरूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

1. भरत ने स्वयं xviii.50-51 में 'चूर्णपद' की परिभाषा दी है। तुलना कीजिए, वामन 1, 3, 22, 24; वहाँ अदीर्घ समासयुक्त गद्य को 'चूर्ण' कहा गया है। गोपेंद्र तिप्पभूपाल ने वामन की टीका करते हुए इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—'चूर्णपदेन उपचाराद् व्यस्तपद-समाहारो लक्ष्यते, तेन व्यस्त-पदबहुलं चूर्णम्''। स्वयं वामन ने अपनी वृत्ति में इसके दो लक्षण दिए हैं अर्थात् 'अदीर्घ समास' तथा 'अनुद्धत पद'। अध्याय iii. 1. 12. में वामन के इसी नाम के 'शब्दगुण' का उल्लेख करते हुए तथा उसे भरत के 'समता' नामक गुण के अनुरूप सिद्ध करते हुए, अभिनव गुप्त ने इस प्रकार कहा है—'शब्दानां समत्वात् समः, चूर्णपदैरसमासरचना यत्र सातिशया न भवति,''''''''दीर्घसमासोऽप्यत्यंत-समासश्च विषमता, तद्विपर्ययेण समता, उपक्रांत-मार्गापरित्याग-रूपेत्युक्तम्।'

2. अभिनव ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—''यस्यार्थस्याभियुक्तैः प्रतिमानातिशयवद्भिर्विशेषोऽपूर्वः स्वोल्लिखित उपपद्यते स समाहितमनः संपाद्य विशेषत्वादर्थो विशिष्टः समाधिः।'' मूल श्लोक के उत्तरार्द्ध में अभिनव ने 'परिकीर्त्यते' के स्थान पर 'परिकीर्तितः' पाठ को ग्रहण किया है तथा 'अर्थेन' को 'समाधि' शब्द निर्दिष्ट किया है : ''समाधिः शब्दस्य योऽर्थपरिहारलक्षणस्तेन परिकीर्तितः परितः समंतादाक्रांत्या उच्चारणे संपन्नः''। संभवतः, वामन द्वारा की गई समाधि की परिभाषा, अर्थात् 'आरोहावरोहक्रमः समाधिः' (iii. 1. 13) के अनुरूप सिद्ध करने के लिए 'संपन्न' शब्द की इस प्रकार व्याख्या की गई है; क्योंकि इसके पश्चात् अभिनव ने 'आक्रांत्योच्चारणे आरोहावरोहक्रम एव' की भी व्याख्या की है। जैसा कि उन्होंने विस्तार से बताया है, 'आरोह' तथा

(5) माधुर्य = जब वाक्य की अनेक बार श्रुति अथवा पुनरावृत्ति बुरी नहीं लगती ।[1]

(6) ओज = विविध तथा उदार समस्त पदों का प्रयोग, जहाँ वर्णों में परस्पर विरोध न हो ।[2]

(7) सौकुमार्य = सुकुमारता, सुप्रयुक्त तथा सुश्लिष्ट संधियुक्त शब्दों से जहाँ सुकुमार अर्थ की निष्पत्ति होती हो ।[3]

(8) अर्थ-व्यक्ति = सुप्रसिद्ध विशेषणों द्वारा जिससे लोक-व्यवस्थित वस्तुओं के धर्म का वर्णन किया जा सके ।[4]

'अवरोह', उच्चारण पर निर्भर होता है। हेमचंद्र तथा माणिक्यचंद्र ने भरत की परिभाषा की व्याख्या में केवल इतना कहा है—'अर्थस्य गुणांतर-समाधानात् समाधिरिति भरतः ।'

1. काव्यमाला संस्करण में छपे 'कृत' तथा 'काव्य' के स्थान पर अभिनव ने 'श्रुत' तथा 'वाक्य' पाठ को ग्रहण किया। भरत के इस गुण के विषय में हेमचंद्र तथा माणिक्यचंद्र की व्याख्या से उक्त पाठ का समर्थन होता है। अन्य संस्करणों में शुद्ध पाठ दिया गया है।
2. अभिनव ने 'विविधैः' के स्थान पर 'बहुभिः' तथा 'सा तु स्वरैः' के स्थान पर 'सानुरागैः' पाठ के समर्थन में इस प्रकार कहा है—'यत्र वर्णैर्वर्णांतरमपेक्षते तत्र सानुरागत्वम्'। हेमचंद्र ने भरत की परिभाषा को एक दूसरे ही रूप में लक्षित किया है, अर्थात्, 'अवगीतस्य हीनस्य वा शब्दार्थ-संपदा यदुदात्तत्वं निषिंचति काव्यस्तदोष इति भरतः। माणिक्यचंद्र ने भी इसी आशय से कहा है (यहाँ 'ख' पाठ का अनुसरण किया गया है) "अवगीतोऽपि हीनोऽपि स्यादुदात्तावभासकः यत्र शब्दार्थसंपत्या परिकीर्तितः ।"
3. अभिनवगुप्त ने 'सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैः' के स्थान पर 'सुखप्रयोज्यैश्छंदोभिः' पाठ को ग्रहण किया है। हेमचंद्र तथा माणिक्यचंद्र की व्याख्या इस प्रकार है—'सुखशब्दार्थं सौकुमार्यमिति भरतः'। यह 'सुकुमारार्थ', दंडी के समनाम गुण 'अनिष्ठुराक्षर-प्रायता', अथवा वामन के द्विविध 'अजरार्थत्व' अथवा 'अपारुष्य' के अनुरूप है तथा संभवतः कठोर अथवा अमंगल शब्दावली कथन के परिहार को लक्षित करता है। अतएव, 'मृतः' के स्थान पर 'कीर्तिशेष गतः' कहना अधिक उचित है। यही कारण है कि मम्मट के परवर्ती 'आचार्यों' ने इसे एक गुण न मानकर केवल 'अमंगल दोष' का विपर्यय कहा है। कुछ लेखकों ने इसे 'अश्लीलत्व' दोष के अंतर्गत माना है।
4. यह पाठ प्रत्यक्ष रूप में विकृत है। अभिनव ने 'सुप्रसिद्धधातुना च' के स्थान पर 'सुप्रसिद्धाभिधानातु' पाठ ग्रहण किया है। 'सुप्रसिद्ध धातुना' का अर्थ 'सुप्रसिद्ध धातुओं के प्रयोग द्वारा' भी हो सकता है। 'लोक-कर्म' के

(9) उदार = जहाँ दिव्य तथा विविध भाव, शृंगार तथा अद्भुत भावों का प्रयोग हो।[1]

(10) कांति = जिससे मन तथा श्रुति को आह्लाद होता है अथवा लीलादि[2] से जहाँ अर्थ की उपपत्ति होती है।

उपर्युक्त विवरण में, कहीं-कहीं किसी गुण विशेष से यथार्थ रूप में भरत का तात्पर्य क्या है, यह समझ में नहीं आता। गुणों का वर्गीकरण अपूर्ण है तथा वे एक दूसरे का अतिलंघन करते प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत, जैसा कि अभिनवगुप्त ने माना है, इनमें से कुछ गुण, मोटे तौर से उन 'शब्द गुणों' तथा 'अर्थगुणों' के अनुरूप माने जा सकते हैं, जिनका वामन तथा परवर्ती आचार्यों ने सविस्तर विवेचन किया है। क्योंकि गुण-सिद्धांत का रीति संप्रदाय के मुख्य सिद्धांतों से घनिष्ठ संबंध है, इसलिए इस पर आगे चर्चा की जाएगी। किंतु

स्थान पर 'लोक-धर्म' पाठ लेना चाहिए। हेमचंद्र की टिप्पणी इस प्रकार है—'यस्मिन् अन्यथास्थितोऽपि तथास्थित एवार्थः प्रतिभाति सोऽर्थ-व्यक्तिः।' उनके कथनानुसार भरत का यह गुण, वामन के अर्थगुण, अर्थव्यक्ति (iii, 2, 13 में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—वस्तु स्वभावस्फुटत्वम्) के अनुरूप है, तथा दंडी इत्यादि आचार्यों के 'जाति' अथवा 'स्वभावोक्ति' नामक अलंकार का पर्याय है। तुलना कीजिए, मम्मट पृ० 583 'अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलंकारेण वस्तु-स्वभाव स्फुटत्वरूपार्थव्यक्तिः स्वीकृता' किंतु विश्वनाथ ने इसे 'प्रसादगुण' के अंतर्गत माना है।

1. इस गुण से 'अद्भुत' रस परिलक्षित होता है; 'दिव्यभाव' में प्रयुक्त होने से यह गुण अद्भुत कारक, उत्कर्षवान धर्म का सूचक है, जैसा कि दंडी के 'उदार' गुण से सूचित होता है। पृ० 199 पर हेमचंद्र द्वारा दिया गया इस गुण का उदाहरण देखिए। 'शृंगार' तथा 'अद्भुत' रसों का समावेश हो जाने के कारण भरत का यह गुण आंशिक रूप में वामन के 'अर्थगुण कांति' के अनुरूप है। किन्तु दंडी का कथन है—'श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्त-मुदारं कैश्चिदिष्यते।' भरत ने इस प्रकार के श्लाघ्य विशेषणों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, फिर भी हेमचंद्र ने कहा है—'बहुभिः सूक्ष्मैश्च विशेषैःसमेतमुदारमिति भरतः।' अग्निपुराण अध्या० 349,9 में इस प्रकार कहा गया है 'उत्तानपदतोदार्ययुतं श्लाघ्यैर्विशेषणैः।' संभवतः यह दंडी की ही प्रत्यक्ष प्रतिध्वनि है।

2. अभिनवगुप्त के कथनानुसार, लीलादि = लीलादि चेष्टा। इसे वामन के 'अर्थ गुण कांति' के 'दीप्त रसत्वं' के तुल्य समझा जा सकता है। कौटिल्य (ii. 28) ने प्रबंध के निम्नलिखित गुण बताए हैं : अर्थक्रम (विषय-सामग्री की क्रम-व्यवस्था), संबद्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टत्व।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि यद्यपि गुणों के विषय में भरत द्वारा की गई परिभाषा यथार्थ में परवर्ती आचार्यों द्वारा की गई परिभाषाओं के अनुरूप नहीं है, तथापि यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि भरत पहले आचार्य हैं, जिन्होंने इस विषय में एक निश्चित कथन किया है, भले ही उन्होंने सिद्धांत का यथोचित विवेचन न किया हो। संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में विशिष्ट गुणों की परिभाषाओं के विषय में आचार्यों में परस्पर मतभेद रहा है, यह सर्वविदित है; इसलिए यह कोई विस्मयजनक बात नहीं है कि परवर्ती आचार्यों ने गुणों की जो परिभाषाएँ दी हैं, वे भरत की परिभाषाओं से भिन्न हैं। गुणों का वामन के रीति-सिद्धांत से अथवा ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन द्वारा प्रथम बार स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किए गए रस-सिद्धांत से क्या संबंध है, संभवतः भरत को इसका ज्ञान नहीं था। इसी प्रकार, जैसा कि वामन ने भेद किया है, भरत को 'शब्दगुण' तथा 'अर्थगुण' के परस्पर भेद का भी ज्ञान नहीं था, यद्यपि भरत के गुण अधिकांश रूप में अर्थगुणाश्रित हैं और जैसा कि अभिनवगुप्त ने किया है, कुछ गुण 'शब्दगुण' भी माने जा सकते हैं। किंतु सभी परवर्ती आचार्यों ने गुणों के विषय में जहाँ तक उनकी संख्या, उनके नाम तथा उनमें से कुछ के भावों का संबंध है, भरत का ही मतानुसरण किया है। भामह ही एकमात्र अपवाद हैं। उनके विषय में आगे बताया जाएगा। इस संबंध में इनके विचार आमूल भिन्न थे। उसके पश्चात् ध्वनिकार तथा उनके मतानुयायियों ने गुण-सिद्धांत की एक नवीन व्याख्या की। यह बात ध्यान देने की है कि भरत ने रस-निष्पत्ति को नाटक का मुख्य उद्देश्य कहा है तथा गुणों, दोषों एवं अलंकारों को रस के परिपाक में सहायक माना है। इस संबंध में भरत ने संभवतः ध्वनिकार के मत तथा सिद्धांत का पूर्वाभास दिया है तथा उसे प्रभावित भी किया है। ध्वनिकार ने किस प्रकार भरत के नाटकाश्रित रस सिद्धांत का काव्य में प्रयोग किया, यह आगे बताया जाएगा।

(२)

यह बताया जा चुका है कि भरत ने लक्षण, गुण, दोष तथा अलंकार को नाटक के मुख्य उद्देश्य, रस के परिपाक में सहायक तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया है। भरत के कथनानुसार यह तत्त्व 'वाचिक अभिनय' (वाचिक अभिनय की परिभाषा viii, 6, 9 में दी गई है) के अंग होते हैं। अध्याय 14-20 तक में 'वाचिक अभिनय' का विवेचन किया गया है। 'वाचिक अभिनय', अनुभाव (vii. 5) का एक महत्त्वपूर्ण अंग है तथा रस-निष्पत्ति में सहायक होता है।

अतएव, भरत ने उनके रस-संबंधी प्रयोग के विषय को लेकर ही उनका विवेचन किया है (xvi. 104 इत्यादि)। यहाँ रस के सिद्धांत से संबंधित भरत के विचारों पर संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक है।[1] 'नाट्यशास्त्र' के अध्याय 6 तथा 7 में इस विषय का निरूपण किया गया है।[2]

यह पहले से ही समझ लेना चाहिए कि रस का विषय भरत का मुख्य विषय नहीं है। भरत का मुख्य विषय नाट्य-अभिनय की व्याख्या है। नाटक के प्रसंग में ही उन्होंने अपने रस-संबंधी विचार प्रकट किए हैं। अतएव, यह कोई विस्मयजनक बात नहीं है कि संभवत: किसी प्रचलित परंपरा के आधार पर राजशेखर ने भरत को रस के बदले रूपक का प्रामाणिक आचार्य माना है तथा नंदिकेश्वर[3] को रस-सिद्धांत के मूल व्याख्याता के रूप में निर्दिष्ट किया है। यदि राजशेखर का कथन यथार्थ है, तब भरत ने नंदिकेश्वर के रसाश्रित विचारों का अपने नाट्यशास्त्र के सिद्धांत में समावेश किया है। रस का सिद्धांत भरत से भी प्राचीन है। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि भरत ने अपने तत्संबंधी कथन की पुष्टि अथवा पूर्ति के लिए आर्या तथा अनुष्टुप छंदों में अनेक श्लोकों का उद्धरण किया है। इनके अतिरिक्त, एक स्थल पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने रस-विषयक एक अज्ञात ग्रंथ के दो आर्या श्लोकों का उद्धरण किया है।[4]

---

1. 'सर आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबिली कमेमोरेशन वाल्यूम, ओरिएंटेलिया, खंड iii, 1922 के अंतर्गत 'थियोरी ऑफ़ रस' शीर्षक लेख में सुशीलकुमार डे ने इस विषय पर संक्षिप्त रूप से चर्चा की है। 'सम प्राब्लम्ज़ ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स', कलकत्ता 1959, पृ० 177-235 के अंतर्गत इस लेख का पुनर्मुद्रण हुआ है।

2. कुछ अन्य अध्यायों में भरत ने नायक-नायिका, उनके सहाय तथा भावों का निरूपण किया है। यथोचित स्थान (अध्या० viii) पर इन विषयों पर चर्चा की जाएगी।

3. देखिए खंड 1, पृ० 1, 2, 19

4. 'अत्रार्ये रस-विचार-मुखे' काव्यमाला संस्करण, पृ० 67. ग्रोसे के संस्करण में इन शब्दों का अभाव है। 16 वीं शती के एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन लेखक, केशव मिश्र ने भगवान् शौद्धोदनि नामक एक आचार्य का उल्लेख किया है। केशव मिश्र के मतानुसार वे रस के 'सूत्रकार' थे। केशव मिश्र ने इन अज्ञात आचार्य के मतों का जिस प्रकार उल्लेख किया है (देखिए खंड i, पृ० 202), वे रस के पक्षपाती, नवीन संप्रदाय के परवर्ती लेखकों के [illegible] विचारों से बहुत भिन्न रहे हैं।

प्राचीन लेखक रस की संकल्पना से अनभिज्ञ नहीं थे, भले ही उन्हें रस के सिद्धांत का ज्ञान न रहा हो। भरत के निरूपण से ऐसा सूचित होता है कि विशेषतया नाटकाश्रित रस का सिद्धांत, कम-से-कम अविकसित रूप में, तो उनके समय में भी विद्यमान था। किंतु काव्य पर इस सिद्धांत का प्रभाव शायद ही कभी चर्चा का विषय हुआ था। काव्य के अनिवार्य अंगों के रूप में रस के महत्त्व का सहज बोध तो था, किंतु सिद्धांत रूप में उसकी प्रतिष्ठा नहीं हुई थी[1]।

नाट्य प्रारंभ से ही अध्ययन का एक पृथक् विषय रहा है, संभवतः इसी से काव्य-चिंतन का मार्गदर्शन भी हुआ है। क्योंकि आरंभ में रस-सिद्धांत का चिंतन मुख्यतः नाट्याश्रित था, अतएव विकास के आदिकाल में नाटक-रचना के क्षेत्र में ही इसका प्रयोग हुआ, काव्य-सिद्धांतों पर इसका प्रभाव सीमित था[2]।

काव्य-शास्त्र में, आरंभ से ही अलंकार तथा रीति के सिद्धांतों का प्रभुत्व था, अतएव काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में नाटकाश्रित रस के सिद्धांतों को महत्त्वपूर्ण

---

1. रस तथा काव्याश्रित रस के विषय की प्रथम बार निश्चित रूप में व्याख्या ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के ग्रंथों में की गई है। संभवतः तभी से नाटक के अतिरिक्त रस के काव्याश्रित महत्त्व का बोध हुआ था। माघ के कुछ श्लोकों (देखिए खंड i, पृ० 58, पा० टि० 3) से सूचित होता है कि उन्हें रस के किसी एक ही सिद्धांत का बोध था; किंतु उन्होंने काव्यरस की जगह भरत के नाट्यरस को ही निर्दिष्ट किया है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि प्राचीन संस्कृत काव्य रसविहीन है अथवा यह कि पूर्ववर्ती लेखक रस की कल्पना से रहित थे, किंतु आशय यह है कि रस के सिद्धांत का आलोचनात्मक प्रतिपादन उस समय तक न हो पाया था और न ही ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन से पहले काव्य के क्षेत्र में रस का सौंदर्यबोधात्मक महत्व ठीक तरह से समझा गया था। संस्कृत काव्य तथा अपेक्षाकृत अर्वाचीन काव्यशास्त्र विषयक संस्कृत के लेखकों के ग्रंथों में रस का अस्तित्व इतना सर्वविदित है कि उपर्युक्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य दृष्टि से ओझल हो सकता है।
2. आरंभ में रस-सिद्धांत नाट्याश्रित था, काव्य पर इसका प्रयोग आगे चलकर हुआ। इस तथ्य का स्पष्टीकरण अत्यंत अर्वाचीन लेखकों के ग्रंथों में उपलब्ध परंपरा से भी होता है। इस परंपरा के अनुसार उन्होंने न केवल रस-सिद्धांत का विवेचन स्पष्टतया नाटक के प्रसंग में किया है (यथा विश्वनाथ), बल्कि अधिकतर उदाहरण भी नाटकों से ही उद्धृत किए हैं। अभिनव ने काव्य को 'लोक-नाट्य-धर्मिस्थानीय' लक्षित करते हुए ऐसा कहा है—"नाट्य एव रसः काव्ये [illegible] एव रसः [illegible]।"

स्थान न मिल सका। काव्यशास्त्र के दो प्राचीनतम लेखकों—भामह तथा दंडी—ने इस परंपरा का पालन करते हुए अपने-अपने सिद्धांत में रस को बहुत गौण स्थान दिया है, किंतु नाटकाश्रित रस का सिद्धांत भरत से भी अपेक्षाकृत प्राचीन है, इसमें कोई संदेह नहीं।

भरत को इस सिद्धांत का प्राचीनतम व्याख्याता कहा गया है। भरत ही सभी परवर्ती ज्ञात सिद्धांतों के स्रोत हैं, यहाँ तक कि स्वयं आनंदवर्धन ने (पृ० 181) काव्यशास्त्र पर रस-सिद्धांत का प्रयोग करते हुए प्रमाण के रूप में भरत को निर्दिष्ट किया है। इसलिए भरत के नाट्यरस-सिद्धांत को परवर्ती काव्यशास्त्र में विकसित हुए काव्यरस के सिद्धांत के मूल स्रोत के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। ध्वनिकार ने रस तथा काव्य के परस्पर संबंध की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की तथा मम्मट ने प्रामाणिक रूप में उसका प्रतिष्ठापन किया, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि इससे बहुत पहले ही नाट्यशास्त्रीय सिद्धांतों में भरत के रसविषयक विचारों पर न्यूनाधिक चर्चा की जा चुकी थी, जिसके परिणामस्वरूप भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक प्रभृति आचार्यों के नामों से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों का जन्म हुआ। ये सभी भरत के टीकाकार माने गए हैं,[1] अथवा इन्होने भरत को मूल स्रोत मानकर ही अपने-अपने सिद्धांत का निरूपण किया है। जहाँ तक रस-सिद्धांत के विकास का संबंध है, भरत को स्पष्ट तथा निश्चित युगप्रवर्तक माना जा सकता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि सभी सैद्धांतिकों ने भरत को आदि-स्रोत मानकर उन्हीं के प्रामाणिक, किंतु अपर्याप्त पाठ के आधार पर अपने-अपने सिद्धांत का निर्माण किया है, तथापि प्राचीन आचार्यों के समान स्वयं भरत का विवेचन बहुत सरल है, क्योंकि उनके समय में इस विषय का आलोचनात्मक चिंतन नहीं हो पाया था। भरत का ग्रंथ ज्ञान-कोश की तरह है, किंतु इसका मुख्य विषय नाटक तथा विशिष्ट नाटकाश्रित काव्य की कल्पना है। संभवतः इसी कारण वामन ने उपर्युक्त नाट्य-रचना का पक्षपात किया है तथा अभिनवगुप्त ने 'काव्यं तावद् दशरूपात्मकमेव' कहकर संक्षिप्त रूप में इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। भरत के मतानुसार इस प्रकार की रचना में रस का प्राधान्य आवश्यक है। भरत ने अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप में कहा है कि रस के बिना काव्य अर्थहीन अथवा नीरस ही होता है[2]। शास्त्रीय सूक्ष्म-

---

1. देखिए खंड 1, पृ० 31 इत्यादि।
2. यथा, 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते', ग्रोसे पृ० 87; सं० काव्यमाला, पृ० 62 अध्याय vii. श्लोक 7 से भी तुलना कीजिए।

ताओं पर ध्यान न देते हुए भरत ने यह प्रकट किया है कि विभाव तथा अनुभाव, जिन्हें परवर्ती सिद्धांत में अनिवार्य अंग माना गया है, रस के निष्पादक होते हैं, किंतु यथार्थ रूप में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को भरत ने स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने भाव को रस का आधार माना है तथा भाव की सामान्य व्याख्या करते हुए कहा है कि भाव वह है, जो शब्दों, भंगिमाओं तथा सत्व के मनोभावों के माध्यम से काव्यार्थ की अभिव्यक्ति करे (वागंग सत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयंतीति भावाः)। मनोभावों पर आश्रित ऐसा भाव, स्थायी हो जाने पर, विभाव तथा अनुभाव के माध्यम से रस की अवस्था में परिवर्तित हो जाता है। विभाव की व्याख्या इस प्रकार है—"विभावो नाम विज्ञानार्थः, विभाव्यंतेऽनेन वागँगसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः।" अतएव, विभाव शब्द विज्ञान अथवा ज्ञान का वाचक है तथा तीन प्रकार के अभिनय के ज्ञान को सूचित करता है। इसी प्रकार भाव का अनुगामी अनुभाव है, जो तीन प्रकार के अभिनय के वास्तविक ज्ञान को परिलक्षित करता है। व्यभिचारी भाव को रस का तीसरा अंग बताया गया है। यह एक प्रकार का सहायक मनोभाव है, जो रस की निष्पत्ति में सहायक होता है तथा उसकी पुष्टि करता है। व्यभिचारी भाव की व्युत्पत्ति पर आधारित व्याख्या इस प्रकार की गई है—"वि अभि इत्येतावुपसर्गौ, चर गतौ धातुः, विविधं आभिमुख्येन रसान् चरंतीति व्यभिचारिणः।" इन अंगों का रस से क्या संबंध है तथा रस की निष्पत्ति किस प्रकार होती है, इस विषय पर भरत का एक गूढार्थ कथन इस प्रकार है—"विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।" यद्यपि भरत ने स्वयं इसकी व्याख्या की है, तथापि 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों का यथार्थ रूप में क्या महत्त्व है, यह स्पष्ट नहीं होता। इन शब्दों की व्याख्या में बड़ा मतभेद है, जिसके कारण रस के अनेक सिद्धांतों का सूत्रपात हुआ है। भरत की अपनी व्याख्या—यदि उसे व्याख्या कहा जा सकता है—के अनुसार जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों तथा औषधियों के संयोग से रस निकाला जाता है, उसी प्रकार स्थायिभाव, विविध भावों से 'उपगत' (पुष्ट) हो जाने पर रस की अवस्था को प्राप्त होता है। इसे रस इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसका आस्वादन किया जा सकता है (आस्वाद्यत्वात्)। रस शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ यही है।[1] भरत के अनुसार[2] 'स्थायिभाव' रस का

---

1. स० ग्रोसे पृ० 87, सं० काव्यमाला पृ० 62. यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'रसना', चर्वणा', अथवा 'आस्वाद' इत्यादि रस-तत्त्व के द्योतक शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार रसास्वादन के सूचक हैं। इस विषय पर आगे चर्चा की जायगी।
2. सं० ग्रोसे पृ० 102. 11-7-19 = सं० काव्यमाला, पृ० 17, 11, 13-22.

आधार होता है, क्योंकि उनचास विभिन्न भावों में प्रधान होने के कारण इसी की निष्पत्ति होती है, रचना के अंतर्गत अन्य भाव इसी मुख्य भाव के आश्रित रहते हैं। भरत ने उनचास भावों का उल्लेख किया है।[1]

इससे केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भरत के मतानुसार किसी रचना का मुख्य भाव अथवा स्थायिभाव रस का आधार अथवा मूल होता है; पाठक अथवा दर्शक उसका आस्वादन कर सकता है तथा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भाव उस स्थायिभाव के आस्वादन में सहायक होते हैं। इस व्याख्या की अस्पष्टता के कारण सैद्धांतिकों तथा टीकाकारों को बहुत बौद्धिक परिश्रम करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद', शंकुक के 'अनुमितिवाद' प्रभृति सिद्धांतों का जन्म हुआ। भरत ने चर्चाधीन स्थल के अंतर्गत 'व्यंजित' तथा 'सामान्यगुणयोग' जैसे विशिष्ट शब्दों के कारण अभिनवगुप्त के 'व्यक्तिवाद' तथा भट्ट नायक के 'भुक्तिवाद' जैसे विशिष्ट सिद्धांतों का विकास हुआ।

इस सिद्धांत की मूल रूप-रेखा, भरत के विवेचन के अनुसार ही, स्वीकार कर ली गई। काव्य के अर्धमनोवैज्ञानिक विवेचन के दृष्टिकोण से सभी आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि काव्य-प्रबंध अथवा रचना के अंतर्गत पाठक द्वारा स्थायिभाव की आस्वादन-अवस्था का नाम रस है। यह एक आंतरिक अवस्था है, जो नाटक के अंतर्गत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के कारण पाठक के मन में स्थायिभाव की आस्वादनावस्था को जन्म देती है। विभाव तथा अनुभाव अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, व्यभिचारिभाव गौण अथवा सहायक रूप में ही रहता है। भरत के परवर्ती आचार्यों ने इस व्याख्या का अति सूक्ष्म विवेचन किया है। काव्य अथवा नाटक में स्थायिभाव का अर्थ है—रति, शोक, क्रोध अथवा भय-जैसे न्यूनाधिक स्थायिभाव। प्रबंध अथवा रचना के अंतर्गत स्थायिभाव ही मुख्य भाव होता है तथा माला में सूत्र के समान अन्य भावों में संचरण करता हुआ कभी भी सहायक अथवा विरोधी भावों से अभिभूत न होकर उनसे पुष्ट ही होता है। काव्य तथा नाटक में जो भाव स्थायिभाव को क्रमानुसार उत्तेजित करता है, उसका अनुभाव करता है तथा उसकी पुष्टि करता है, उसे विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव (अथवा संचारि) कहा जाता है।

ये भाव काव्य के अलौकिक क्षेत्र से भिन्न लौकिक कारण तथा कार्य के

1. अर्थात् 8 स्थायिभाव, 8 सात्विक भाव तथा 33 व्यभिचारि भाव।

अनुरूप होते हैं। यदि शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को अलग रखा जाय, तो विभाव उसे कहा जा सकता है, जो स्थायिभाव को अनुभूति के योग्य बनाता है; अनुभाव, जिससे वास्तव में स्थायिभाव की अनुभूति होती है, तथा व्यभिचारि-भाव वह, जो स्थायिभाव का गौण अथवा नवीन रूप से पोषक होता है। स्थायिभाव रति होने पर स्त्री तथा ऋतुएँ विभाव के, कटाक्ष तथा आलिंगन अनुभाव के, प्रमोद तथा चिंता, अस्थायी तथा गौण व्यभिचारि भाव के रूढ़ उदाहरण हैं। भरत का कथन है कि स्थायिभाव के साथ इन भावों के विशिष्ट संयोग से पाठक रस के रूप में प्रबंध के स्थायिभाव का आस्वादन करता है। संयोग का उद्देश्य स्थायिभाव की निष्पत्ति करना तथा उसे आस्वाद्य बनाना है। प्रश्न यह उठता है कि इन भावों का रस से क्या संबंध है, अथवा इनके द्वारा पाठक के मन में आंतरिक आस्वादन की अवस्था किस प्रकार उत्पन्न होती है। भरत ने इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया है। इस प्रश्न का समाधान, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति', दो शब्दों की व्याख्या पर निर्भर है। इन दोनों शब्दों पर बहुत चर्चा हो चुकी है। भरत के मूल सूत्रों में इनका प्रयोग हुआ है। परवर्ती आचार्यों के सिद्धांतों का यही केंद्र रहा है। आगे प्रसंगवश इस विषय पर चर्चा की जाएगी। (अध्याय iv).

भरत ने नाटकाश्रित आठ विभिन्न रसों का उल्लेख किया है। 'नाट्यशास्त्र' के छठे अध्याय में इनका सविस्तर विवरण है। परवर्ती सभी आचार्यों ने इसी को प्रामाणिक माना है, यद्यपि रसों की परंपरागत आठ संख्या के विषय में कभी-कभी उनमें मतभेद रहा है। इस बात पर आगे विचार किया जायगा। वास्तव में भरत के अनुसार मुख्य रस चार ही हैं; शृंगार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स। अन्य चार रस इन्हीं के अनुजन्य होते हैं, अर्थात् हास्य शृंगार का, करुण रौद्र का, अद्भुत वीर का तथा भयानक बीभत्स का (xvi. 39-40)।

आठ रसों के अनुरूप आठ ही स्थायिभाव होते हैं, जो इस प्रकार हैं (1) रति, (2) हास, (3) क्रोध, (4) उत्साह, (5) भय, (6) जुगुप्सा, (7) विस्मय तथा (8) शोक। यही स्थायिभाव क्रमानुसार शृंगार, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा करुण रसों के आधार होते हैं। व्यभिचारि भावों की संख्या तैंतीस दी गई है। ये हैं निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, वृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ,

उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क ।[1]

अनभीप्सित आंतरिक मनोभाव के लक्षणों को 'सात्विक भाव' कहा गया है । इनकी संख्या आठ दी गई है[2] : स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलाप ।

---

1. इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यभिचारि भावों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है, किंतु वे मुख्य मानसिक अवस्था अथवा स्थायि-भाव के सहायक होते हैं । कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसी प्रबंध में मुख्य रूप से व्यभिचारिभाव की ही अभिव्यक्ति हो तथा स्थायि-भाव गौण ही रहे । ऐसी अवस्था को परवर्ती आचार्यों ने रस न कहकर भाव ही माना है, अतएव अपूर्ण रस का नाम भाव है । रस तथा भाव के परस्पर अंतर का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है । इस विषय पर आगे चर्चा की जाएगी । व्यभिचारि भावों की संज्ञा से ऐसा प्रतीत होता है कि पुरातन आचार्यों ने कई भावों का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से किया है, किंतु हमने उन्हें भौतिक (यथा, व्याधि अथवा मरण) दृष्टिकोण से ही माना है । ZDMG. lvi, 1902 पृ० 395, पा० टि० 2 पर जैकोबी का कथन देखिए ।

2. सात्विक भाव (जिसे परवर्ती आचार्यों, यथा अभिनवगुप्त, ने सांख्य के सत्वगुण से संबंधित माना है) के संबंध में भरत का कथन इस प्रकार है (सं० ग्रोसे, पृ० 129 – सं० काव्यमाला, पृ० 82,) "इह हि सत्वं नाम मनःप्रभावं तच्च समाहित मनस्वादुत्पद्यते मनःसमाधानाच्च सत्व-निर्वृतिरिति; तस्य योऽसौ स्वभावो रोमांचास्राादिकृतः स न शक्यतेऽन्य-मनसा कर्तुमिति; लोकस्वभावानुकरणाच्च नाट्यस्य सत्वमीप्सितम् ।" इस प्रकार भरत की व्याख्या के अनुसार अभिनय में समाहित मन से, मानव-स्वभाव के अनुकरण से उत्पन्न मानसिक भाव ही सात्विक भाव होते हैं । भरत ने इसका उदाहरण दिया है—"इह हि नाट्यधर्मप्रवृत्ताः सुखदुःखकृतो भावास्तथा सत्व-विशुद्धा कार्या यथा-स्वरूपा भवंति ।" रोने के बिना दुःख अथवा हंसने के बिना हर्ष, अनभीप्सित लक्षणों के अतिरिक्त और किस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है ? भरत के 'सत्वाभिनय' अथवा 'सात्विकाभिनय' शब्द इसी अर्थ को लक्षित करते हैं । किंतु 'दशरूपक' में 'सत्व' शब्द 'सहृदय' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा 'सात्विक' की व्याख्या 'सत्वेन निर्वृत्तः' की गई है (तुलना कीजिए, साहित्य-दर्पण, iii. 134) । अपनी 'रस तरंगिणी' में भानुदत्त ने इसकी व्याख्या कुछ भिन्न की है । उनके अनुसार शरीर के भाव सात्विक भावों को लक्षित करते हैं (सत्वं जीव-शरीरं, तस्य धर्माः सात्विकाः, इत्थं च शारीर भावाः स्तंभादयः सात्विका भावाः इत्यमिधीयंते) । 'काव्यप्रकाश-प्रदीप' के लेखक के समान परवर्ती आचार्यों ने दार्शनिक दृष्टिकोण से 'सात्विक' को सत्व गुण से उत्पन्न बताया है । 'सात्विक' शब्द के अर्थों में

यह मनःशारीरिक विश्लेषण औपचारिक-सा प्रतीत होता है। सातवें अध्याय में इसका सविस्तर विवेचन किया गया है। नाट्याश्रित दृष्टिकोण से ही प्रत्येक अवस्था का पृथक्-पृथक् लक्षण तथा उदाहरण दिया गया है, किंतु परवर्ती साहित्य में काव्य के लिए भी इन्हें प्रामाणिक स्वीकार कर लिया गया।[1]

(३)

भरत के यत्किंचित् अपर्याप्त पाठ के आधार पर भरत के काव्याश्रित मत की मोटे तौर से रूपरेखा ऊपर दी गई है। इसे इस शास्त्र के इतिहास में अत्यंत प्राचीन रूपरेखा माना जा सकता है। इस शास्त्र का दूसरा युग भामह, दंडी तथा ध्वनिकार से आरंभ होता है। यह युग अपेक्षाकृत अल्पकालिक होते हुए भी विशिष्ट सृजनात्मक प्रतिभा का द्योतक होने के कारण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भरत के पूर्ववर्ती काल के संबंध में हमारा ज्ञान अत्यल्प है; भामह के समय में व्यवस्थित काव्य-सिद्धांतों का जन्म हुआ, किंतु भरत तथा भामह के मध्य एक दीर्घ अंतराल है, जिसके विषय में हम अधिक नहीं जानते। यह बात स्पष्ट है कि भरत को कुछ काव्याश्रित गुणों, दोषों, अलंकारों तथा लक्षणों का ज्ञान था; उन्होंने नाट्याश्रित शोभाकरों की तरह उनका विवेचन भी किया है। इस तथ्य को सामने रखते हुए यह अनुमान गलत नहीं है कि अलंकार-शास्त्र का अनुशीलन—यद्यपि इसका अभी उतना विकास नहीं हो पाया था—संभवतः भरत से भी प्राचीन है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मत-परंपरा का वह स्वरूप, जो भामह तथा दंडी के प्राचीनतम विद्यमान ग्रंथों में अथवा ध्वनिकार के स्मरणीय श्लोकों में मिलता है, वास्तव में भरत के बहुत समय पश्चात् ही एक निश्चित रूप में उपलब्ध हुआ है; किंतु यह संभव है कि निश्चित रूप में न होकर सार रूप में यह मत-परंपरा भरत से भी बहुत पहले की है। भरत ने स्वयं इस परंपरा की प्राचीनता को निर्दिष्ट किया है। भरत ने इस विषय में जो कुछ कहा है, उसके अतिरिक्त इस शास्त्र के क्रमिक विकास तथा परिष्करण के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। भामह

जो भी अंतर हो, किंतु इस विषय पर सभी आचार्य एकमत हैं कि यह शब्द मानसिक भावों के अनभीप्सित अभिनय का ही द्योतक है। इन भावों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

1. यथा, [illegible] ने।

प्रभृति आचार्यों के ग्रंथों में तो विभिन्न सिद्धांत अपेक्षाकृत विकसित रूप में ही उपलब्ध हुए हैं; किंतु विकास का एक प्रयोगात्मक युग अवश्य रहा होगा और यदि तत्कालीन रचनाएँ आज प्राप्त होतीं तो उनसे भामह, दंडी तथा ध्वनिकार के सिद्धांतों के क्रमिक विकास का आभास मिल सकता था तथा भरत एवं उनके पूर्ववर्ती काव्यशास्त्र के प्राचीनतम आचार्यों के मध्य का दीर्घ अंतराल पाटा जा सकता था।

यदि भामह, दंडी अथवा ध्वनिकार को प्राचीनतम आचार्य मान भी लिया जाए तो भी इनमें से किसी भी आचार्य ने स्वयं को अपने सिद्धांत का मूल प्रवर्तक नहीं कहा है। इनमें से किसी भी आचार्य को क्रमानुसार अलंकार, रीति अथवा ध्वनि का एकमेव प्रवर्त्तक नहीं माना जा सकता। इस शास्त्र के अनुशीलन का आरंभ यहीं से नहीं माना जा सकता। इन आचार्यों ने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति अपना आभार प्रकट किया है, जिसका विवरण इस ग्रंथ के पहले खंड में दिया जा चुका है (पृ० 46, 47, 64, 101)। इन स्पष्ट आभारोक्तियों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति, रीति, गुण अथवा अलंकार-जैसी मूल संकल्पनाएँ तथा सूत्र बिना किसी पूर्व व्याख्या के भामह-जैसे आचार्यों के ग्रंथों में इस प्रकार प्रयुक्त किए गए हैं, मानो वे परंपरागत शब्द ही थे अथवा सर्वविदित होने के कारण उनकी सविस्तर चर्चा आवश्यक नहीं समझी गई।

आगे बढ़ने से पहले, यह देख लेना लाभदायक रहेगा कि भामह आदि आचार्यों के ग्रंथ भरत तथा भामह इत्यादि आचार्यों के मध्यवर्ती अंतराल में होनेवाले इस शास्त्र के विकास-क्रम का कोई संकेत देते हैं अथवा नहीं। जैकोबी ने इस तथ्य को पहले ही निर्दिष्ट[1] किया है कि भामह ने काव्यालंकारों का विवेचन करते हुए उन्हें विशिष्ट वर्गों में विभक्त किया है। अलंकारों का इस प्रकार का वर्गीकरण भामह से पहले अलंकारों के क्रमिक विकास तथा संख्यावृद्धि का सूचक है। परवर्ती लेखकों ने वर्गीकरण के किसी निश्चित सिद्धांत के अनुसार ही काव्यालंकारों की सामूहिक रूप से सूची दी है[2]। भामह का वर्गी-

---

1. Sb. der preuss. Akad. xxiv, 1922 p. 220-222.
2. उदाहरण के लिए दंडी के समय तक अलंकारों की एक बड़ी संख्या को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी, किंतु दंडी ने भामह की तरह उनका वर्गानुसार उल्लेख आवश्यक नहीं समझा, अपनी इच्छा के अनुसार ही उन्होंने उनका क्रम निश्चित किया है। उन्होंने दो पृथक्-पृथक् अध्यायों में, पहले अर्था-

करण इनसे भिन्न है। भामह ने पहले (ii. 4) केवल पाँच वर्ग-बद्ध अलंकारों के नाम तथा उनकी परिभाषाएँ दी हैं, तत्पश्चात् अन्य वर्ग-बद्ध अलंकारों का वर्णन किया है तथा अंत में शेष चौबीस अलंकारों के एक वर्ग पर चर्चा की है। पहले वर्ग में अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा नामक अलंकारों का उल्लेख है। भामह के कथनानुसार ये अलंकार अन्य आचार्यों द्वारा उदाहृत हैं (अन्यैरुदाहृता:) और उन्होंने स्वयं भी इन्हें मान्यता दी है। वास्तव में ये पाँचों अलंकार ऐसे चार प्राचीन काव्यालंकारों, अर्थात् यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा के अनुरूप हैं, जिनका भरत को ज्ञान था और जिनकी परिभाषाएँ उन्होंने दी हैं। भामह के अतिरिक्त अलंकार अनुप्रास को यमक के अंतर्गत माना जा सकता है[1], क्योंकि इनमें से एक 'वर्णाभ्यास' है तथा दूसरा 'पदाभ्यास' है। भरत के मतानुसार ये दोनों 'शब्दाभ्यास' के ही रूप हैं। अभिनवगुप्त के कथनानुसार[2] भरत ने अनुप्रास को यमक से ही परिलक्षित माना है। भामह ने अनुप्रास तथा यमक में स्पष्ट रूप से भेद किया है। इससे यह सूचित होता है कि कुछ काल के पश्चात् इन अलंकारों का अति सूक्ष्म रूप से विवेचन किया गया था।

कालांतर में छह अतिरिक्त अलंकारों का विवेचन एवं संयोजन हुआ और भामह ने ii. 66 में उनका वर्ग-बद्ध रूप में उल्लेख किया। वे अलंकार हैं : आक्षेप

लंकारों का विवेचन किया है। भामह के मतानुयायी उद्भट ने, भामह के प्रथम तीन वर्गों पर अपने ग्रंथ के प्रथम तीन अध्यायों में चर्चा की है। अन्य तीन अध्यायों में अंतिम वर्ग के शेष चौबीस अलंकारों का विवेचन है; किंतु उद्भट ने प्रथम तीन वर्गों ने संबंधित भामह के अन्यैरुदाहृता:, अपर:, अभिहिता: क्वचित्, इत्यादि शब्दों को छोड़ दिया। उद्भट ने अपने विवेचन में भामह के क्रम तथा परिभाषाओं का अनुसरण तो किया है, किंतु भामह के अनुसार वर्ग-बद्ध उल्लेख नहीं किया है।

1. यमक तथा अनुप्रास का परस्पर भेद इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है : अनुप्रास में एक अथवा अनेक व्यंजनों की पुनरावृत्ति होती है, व्यंजनों के साथ कभी-कभी –किंतु ऐसा आवश्यक नहीं है—उनके स्वरों की भी पुनरावृत्ति हो सकती है, यमक में व्यंजनों तथा स्वरों की एक ही क्रम से पुनरावृत्ति होती है। यमक में एक ही शब्द-समूह की पुनरावृत्ति होती है, उसका अर्थ एक होना आवश्यक नहीं है, वह निरर्थक भी हो सकता है, किंतु अनुप्रास की पुनरावृत्ति सार्थक होती है। 'निचितं खमुपेत्य नीरवैः प्रिय-हीनाहृदयावनीरदैः' एक प्रकार के यमक का उदाहरण है तथा, 'अद्रिद्रोणी-कुटीरे कुहरिणि हरिणारातयो यापयंति' अनुप्रास का उदाहरण है।

2. तेनानुप्रास लादीयादेरनेन (=यमकेन) एवोपसंग्रहात्।

अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति। भरत के ग्रंथ में इन अलंकारों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। ये अलंकार विकास के द्विवर्तीय सोपान के द्योतक हैं। अलंकारों के इस वर्ग में सातवें अलंकार, वार्त्ता- को सम्मिलित किया जा सकता है। दंडी ने i. 85 में इसका उल्लेख किया है, किंतु वक्रोक्ति-रहित काव्य से इतर होने के कारण भामह ने इसे मान्यता नहीं दी। (ii. 87)[1]।

भामह के विवेचन के अनुसार तृतीय विकास-सोपान अधिक रचनात्मक परिलक्षित नहीं होता, क्योंकि इस युग में अलंकारों की संख्या में केवल दो की वृद्धि हुई, यथासंख्य तथा उत्प्रेक्षा (ii. 88), संभवतः तीसरा अलंकार स्वभा- वोक्ति था। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि दंडी के समय तक स्वभावोक्ति (अथवा जाति, बाणभट्ट ने इसे स्वीकार किया है), आद्या अलंकृति, अथवा आद्य अलंकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था, किंतु भामह में इसका स्थान अनिश्चित है। भामह ने वक्रोक्ति सिद्धांत से अधिक प्रभावित होने के कारण इसका अधिक समर्थन नहीं किया। इस युग में अलंकार-क्षेत्र में उत्प्रेक्षा[2] की

1. वी० राघवन ('सम कान्सेप्ट्स' पृ० 11 इत्यादि) ने यह तर्क दिया है कि भामह के ग्रंथ में वार्त्ता नामक कोई अलंकार नहीं है। भामह ने इसी संदर्भ में हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक तीन अन्य अलंकारों का उल्लेख किया है, किंतु क्योंकि वे वक्रोक्ति-रहित हैं, अतएव भामह ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। इन अलंकारों का उपर्युक्त अलंकार-वर्ग से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। पिछले श्लोक में लक्षित वक्रोक्ति के संदभ में ही उनका उल्लेख है। जैसा कि टीकाकारों की व्याख्या से प्रतीत होता है, भट्टि ने इन अलंकारों के उदाहरण दिए हैं। संभवतः भामह से पहले ही इन्हें मान्यता प्राप्त हो चुकी थी।

2. सुबंधु ने स्पष्ट रूप से उत्प्रेक्षा तथा आक्षेप अलंकारों का उल्लेख किया है, सं० श्रीरंगम, पृ० 146. बाणभट्ट ने उपमा तथा दीपक नामक अलंकारों को स्वीकार किया है (कादंबरी की भूमिका)। सुबंधु तथा बाण दोनों ने प्रबंध में श्लेष के महत्त्व का कथन किया है, किंतु श्लेष से उनका तात्पर्य एक 'प्रबंध-गुण' (जैसा कि भरत ने कहा है) से है अथवा श्लेष नामक एक विशिष्ट अलंकार से है, यह स्पष्ट नहीं होता। भामह ने श्लेष के तीन भेदों का निरूपण किया है। सुबंधु की यह गर्वोक्ति कि उन्होंने अपने प्रबंध के प्रत्येक अक्षर में श्लेष का प्रयोग किया है (सुबंधु के टीका- कारों की व्याख्या से भी ऐसा ही सूचित होता है) यथार्थ ही है और जिस प्रकार सुबंधु ने श्लेष का प्रयोग किया है, वह वास्तव में अर्वाचीन श्लेष अलंकार ही है; भरत ने अपनी परिभाषा में श्लेष को एक गुण कहा है, सुबंधु के श्लेष को गुण नहीं कहा जा सकता।

वृद्धि वास्तव में महत्त्वपूर्ण है। भामह के कथनानुसार (ii. 88) मेधावी ने इसे संख्यान की संज्ञा दी है[1]।

क्या यह संभव है कि भामह के पूर्ववर्ती आचार्य मेधावी ने इस अलंकार का सबसे पहले विश्लेषण करके इसे 'संख्यान' नाम दिया था? 'इव' शब्द उत्प्रेक्षा का बोधक है या नहीं, इस विषय पर दंडी ने एक प्रसिद्ध स्थल पर विस्तार से चर्चा की है; भामह तथा दंडी के मध्यवर्ती आचार्यों ने भी इस पर आपत्ति की थी, किंतु वामन के समय में उत्प्रेक्षा को मान्यता मिल चुकी थी। भामह (ii. 40) से सूचित होता है कि मेधावी ने सात उपमा-दोषों का कथन किया था। नमिसाधु (रुद्रट, ii. 24 की व्याख्या) ने उपमा के इन सात दोषों को मान्यता प्रदान करते हुए इनका सोदाहरण उल्लेख किया है। मेधावी (अथवा मेधाविरुद्र) के संबंध में इसके अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं है[2], नमिसाधु तथा राजशेखर, जिन्होंने इनके उद्धरण दिए हैं, केवल इनके नाम से ही परिचित थे। भामह के उद्धरणों के आधार पर यह मान लेना अनुचित न

---

1. भामह का मूल पाठ (ii. 88) इस प्रकार है—

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ॥

इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि दंडी (ii. 273) के अनुसार संख्यान (तथा क्रम) नाम, उत्प्रेक्षा के न होकर यथासंख्य अलंकार के ही वैकल्पिक नाम हैं। यही उचित भी है। संभवत: यहाँ पाठ शुद्ध नहीं है। 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स', पृ० 61-62 पर काणे ने पाठशुद्धि के लिए यह सुझाव रखा है—संख्यानमिति मेधावि नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्, तथा इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—"यथासंख्य को मेधावी ने सख्यान नाम दिया है।" अलंकारविषयक कुछ ग्रंथों में उत्प्रेक्षा को अलंकार नही कहा गया है। इस पाठशुद्धि को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि जिस प्रकार दंडी ने उत्प्रेक्षा का विशद विवेचन किया है, उससे सूचित होता है कि भामह के समय में भी यह एक महत्त्वपूर्ण अलंकार माना जा चुका था। अलंकार-ग्रंथों में उसका समावेश न होना जँचता नहीं। वामन ने यथासंख्य को 'क्रम' नाम से लक्षित किया है।

2. देखिए खंड i, पृ० 48. नमिसाधु के मेधावी-संबंधित उद्धरण (xi. 24 पर) केवल भामह के ii. 40 को ही लक्षित करते हैं। मेधावी पर उनसे कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। राजशेखर तथा वल्लभदेव (शिशुपालवध, xi. 6) ने मेधावी को कवि कहा है। राजशेखर ने कुमारदास के साथ उनका उल्लेख किया है तथा वल्लभदेव ने वास्तव में मेधाविरुद्र के एक श्लोक को उद्धृत किया है (देखिए ZDMG. lxxiii 1919, पृ० 160, पा० टि०)।

होगा कि मेधावी काव्यशास्त्र के एक प्राचीन लेखक थे, जिन्होंने सबसे पहले उपमा तथा उत्प्रेक्षा नामक दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण अलंकारों की व्याख्या की थी।[1]

उपर्युक्त वर्ग-बद्ध अलंकारों पर विचार करने के पश्चात् भामह ने अगले अध्याय (iii. 1-4) में शेष ऐसे काव्यालंकारों का एक साथ विवेचन किया है, जो उनके समय में स्वीकार किए जा चुके थे। चौबीस अलंकारों की यह एक लंबी सूची है। इस सूची को भामह के अपने काल तक अलंकारों के विकास का चौथा सोपान माना जा सकता है। इस सोपान की समाप्ति होते-होते अलंकारों की एक बड़ी संख्या का सूक्ष्म रूप से विवेचन हो चुका था, यद्यपि उनकी संख्या दंडीकालीन संख्या के बराबर नहीं हो पाई थी।[2] भट्टि काव्य का एक अध्याय भी इस विकास-सोपान को परिलक्षित करता है। इसमें सभी अड़तीस स्वतंत्र अलंकारों के उदाहरण हैं, यद्यपि जैसा कि पहले बताया जा चुका है[3]—संभवतः भट्टि ने एक ऐसे पाठ का उपयोग किया है, जो भामह को ज्ञात नहीं था, किंतु वह पाठ भामह के अपने स्रोत-ग्रंथ से अधिक भिन्न नहीं। निस्संदेह, इस काल तक स्पष्ट रूप में अलंकारशास्त्र की परिभाषा हो चुकी थी और उसे प्रतिष्ठापूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था। भामह के साथ एक नए युग का आरंभ हुआ, जिसमें न्यूनाधिक प्रामाणिक तथा शास्त्रीय विवेचन के फलस्वरूप पूर्ववर्ती काल के अनिश्चित अलंकार-वर्गों का लोप हो गया।

1. प्राचीन लेखकों ने उपमा-दोषों तथा उत्प्रेक्षा पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया था। उपमा दोषों के संबंध में देखिए, खंड 1, पृ० 57, पाद-टिप्पणी 1. उत्प्रेक्षा के संबंध में दंडी, ii. 226-234; वामन iv. 3, 9 वृत्ति तथा उद्भट, सं० तैलंग, पृ० 43-46 का अवलोकन करें।
2. अलंकार-साहित्य में अलंकारों के विवेचन के साथ उनके भेद तथा संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है, यह सर्वविदित है। इसमें कोई विस्मय की बात नहीं है कि शास्त्र के अनुशीलन में प्रगति के साथ-साथ भेदों के सूक्ष्म विवेचन के फलस्वरूप ऐसा भी समय आया कि अलंकारों की संख्या बहुत बढ़ गई तथा परस्पर भेद बहुत सूक्ष्म हो गए। उन्हें किसी मुख्य सिद्धांत के अनुसार व्यवस्थित करने की आवश्यकता पड़ी। समय-समय पर इस प्रकार के प्रयत्न किए गए थे। संभवतः इस दिशा में वामन का प्रयत्न प्राचीनतम है। इस पर आगे चर्चा की जाएगी।
3. देखिए खंड i, पृ० 50-53.

अध्याय : दो

भामह, उद्भट तथा रुद्रट

(अलंकार सिद्धांत)

भामह

(१)

भामह के 'काव्यालंकार' में भरत की तरह काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों का प्रासंगिक विवेचन नहीं है, अपितु उनकी सुस्पष्ट रूपरेखा दी गई है, जिससे सूचित होता है कि अलंकारशास्त्र को एक स्वतंत्र शास्त्र का स्थान प्राप्त हो चुका था।

नाटकाश्रित भाषा के शोभाकर साधन होने के कारण तथा नाटकाश्रित रस की उत्पत्ति के मुख्य उद्देश्य में सहायक होने की दृष्टि से, भरत ने काव्य के कुछ महत्त्वपूर्ण अंगों पर विचार किया है। इसके विपरीत भामह ने मुख्य रूप से काव्यालंकारों का ही विवेचन किया है तथा नाटक एवं रस-सिद्धांत को अछूता रहने दिया है। उन्होंने पहली बार साधिकार काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का न्यूनाधिक निश्चित तथा व्यवस्थित विवेचन किया है। भरत के विवेचन से यह सूचित होता है कि उससे पहले भी कुछ प्राचीन काव्यालंकारों, अधिकतर गुणों तथा दोषों, को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी तथा स्पष्ट रूप से उनकी परिभाषाएँ की जा चुकी थीं; यद्यपि उस समय तक अलंकार का कोई विशिष्ट सिद्धांत विद्यमान नहीं था। संभवत: एक प्राचीन परंपरा का पालन करते हुए भामह ने इन काव्याश्रित अलंकरणों, तत्संबंधी गुणों तथा दोषों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, जिसके फलस्वरूप यह शास्त्र अलंकारशास्त्र के महत्त्वपूर्ण नाम से विख्यात हुआ। निस्संदेह यह परंपरा अपेक्षाकृत प्राचीन है, इस बात को पिछले अध्याय में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यदि अलंकार के मत[1] को

---

1. यहाँ 'मत' शब्द अत्यंत सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मत किसी विशिष्ट सिद्धांत के अनुसरण अथवा संबंध का सूचक है। ऐसा कहा गया है कि उद्भट तथा वामन के अपने-अपने मतानुयायी थे; उन्हें क्रमश: औद्भट तथा वामनीय कहा गया है। इस बात का कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि किसी महान् आचार्य ने रस, अलंकार, रीति तथा ध्वनि क विशिष्ट सिद्धांतों का मूर्त अथवा अमूर्त रूप में प्रवर्तन किया हो तथा उनके अनुयायियों ने उनका समर्थन किया हो। किंतु इसमें संदेह नहीं कि

काव्य के मुख्य अंग अर्थात् अलंकार अथवा काव्यालंकार के विशिष्ट अर्थ का वाचक मान लिया जाय,[1] तो यह माना जा सकता है कि अलंकार का सिद्धांत, रस-सिद्धांत अथवा नाटकाश्रित रस-सिद्धांत का समकालीन था तथा जहाँ अलंकार-सिद्धांत ने रस-सिद्धांत को प्रभावित किया, वहाँ सीमित रूप में रस-सिद्धांत ने अलंकार सिद्धांत को भी प्रभावित किया। किंतु अलंकार-शास्त्र का यह सिद्धांत भामह-जैसे एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन लेखक ने प्रस्तुत किया है, जो स्वयं इसके मूल-प्रवर्तक नहीं थे।

मूलभूत अलंकारशास्त्र के समान सामान्य रूप से इस अलंकार-सिद्धांत का क्षेत्र भी वस्तुनिष्ठ, अनुभवाश्रित तथा न्यूनाधिक यंत्रवत् है। नाटकाश्रित रस-सिद्धांत अलंकार-सिद्धांत का पूर्ववर्ती अथवा सहवर्ती सिद्धांत था। अत्यंत प्राचीन-काल में भी अलंकार-सिद्धांत के अस्तित्व से इस अकाट्य प्राक्कल्पना की पुष्टि होती है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र का जन्म किसी अलंकार-सिद्धांत से ही हुआ था। इस अलंकार सिद्धांत के अंतर्गत सभी काव्यालंकारों पर विचार किया गया था तथा अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से न्यूनाधिक यंत्रवत् सूत्रों की व्याख्या ही इसका

अनिवार्य रूप से सिद्धांतों के परस्पर सम्मिश्रण तथा उद्धरण के बावजूद इन सिद्धांतों की अपनी-अपनी विशिष्ट परंपरा तथा इतिहास रहा है, जिसके फलस्वरूप उनमें परस्पर भेद होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक लेखक ने, जहाँ तक मूल तत्त्व का संबंध है, विशिष्ट परंपरा का अनुसरण करते हुए एक-न-एक सिद्धांत को महत्त्व दिया है। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त ने मुख्य रूप से आनंद-वर्धन के ध्वनि-सिद्धांत का अनुसरण किया है, यद्यपि उन्होंने रस के महत्त्व को स्वीकार किया है अथवा भरत के गुणों की व्याख्या करते हुए वामन के गुणविषयक विचारों का समावेश किया है। उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त यहाँ 'मत' शब्द का प्रयोग क्रमशः रस, अलंकार, रीति अथवा ध्वनि की पुष्टि करनेवाले सिद्धांतों के लिए किया गया है। समुद्रबंध (पृ० 4) ने काव्य के पाँच पक्षों (1) उद्भट का (2) वामन का (3) वक्रोक्ति-जीवितकार का, (4) भट्टनायक का तथा (5) आनंदवर्द्धन का उल्लेख किया है। 'व्यक्तिविवेक' का अनुमानपक्ष उल्लेख योग्य नहीं माना गया है।

1. भामह, उद्भट तथा अन्य प्राचीन लेखकों का उल्लेख करते हुए रुय्यक ने इस प्रकार कहा है—"तदेवमलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्" (पृ० 7)।

2. (देखिए खंड i, पृ० 7) संस्कृत साहित्य के इतिहास में विशिष्ट रूप से श्रेणी-कालीन काव्य-साहित्य विदग्ध तथा अनुभवी आचार्यों की कृति है।

इस प्राक्कल्पना का संकेत पहले भी दिया जा चुका है। जिस प्रकार चित्रकला के सिद्धांत में रंगों, तैल-चित्र, जलरंग (वाटर कलर), पेस्टल, मानव शरीर का अनुपात, संदर्श के नियमों के विषय में तकनीकी जानकारी का संग्रह होता है, उसी प्रकार काव्य के सिद्धांत में भी अभिव्यक्ति के रूपों, रचना-सौंदर्य, काव्य-दोषों अथवा अलंकारों इत्यादि से संबंधित उपदेशों का संग्रह किया जा सकता है। सिद्धांत में चिंतनमूलक समस्याओं का समावेश आवश्यक नहीं। बाह्य अलंकरण के इन साधनों के दृष्टिकोण से सौंदर्य-निर्णय किया जाता था तथा सौंदर्य-सुख को अनुभूति का आधार माना जाता था। इन प्राचीन आचार्यों को इस दिशा में चरम सिद्धांत को स्वीकार करने की आवश्यकता करनी पड़ी अथवा नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किंतु इस शास्त्र के अनुशीलन का आरंभ व्यवस्थित रूप में ही हुआ होगा, जिसके फलस्वरूप परिभाषाओं में न्यूनाधिक रूढ़ता आ गई तथा वर्गों का यत्किंचित् सूक्ष्म विवेचन होने लगा। वामन तथा ध्वनिकार से पूर्व काव्य-रस अथवा सौंदर्य की समस्या उत्पन्न नहीं हुई थी,

---

यह काव्य-परंपरा तत्संबंधी नियमों तथा काव्य में कला-पक्ष के व्यवस्थित समावेश को लक्षित करती है। विचार तथा शब्द के लिए अलंकार-सापेक्ष स्वाभाविक अलंकार-प्रियता के कारण ही काव्यशास्त्र का जन्म हुआ। अलंकार शब्द का प्रयोग शास्त्र तथा काव्यालंकार दोनों के लिए किया गया। भामह से लेकर रुद्रट तक के अत्यंत प्राचीन ग्रंथों में अलंकार ही चर्चा का मुख्य विषय है। इससे सूचित होता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास अलंकार के ही किसी सिद्धांत तथा अनुप्रयोग से हुआ। इस सिद्धांत के अंतर्गत शब्दालंकारों, अर्थालंकारों तथा काव्य के सभी शोभाकर साधनों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जैसा कि जैकबी का कथन है, आदिकाल में भारतीय काव्यशास्त्र का उद्देश्य कविशिक्षा अथवा कवि का मार्गदर्शन करना तथा काव्य रचना की दृष्टि से नियम इत्यादि उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करना था। इसमें निषिद्ध काव्य-दोषों तथा उद्दीप्त काव्य-गुणों की चर्चा तथा काव्य-अभिव्यक्ति के शोभाकर काव्यालंकारों का वर्णन था। अतएव इस समस्त अनुशीलन को अलंकार-शास्त्र के नाम से लक्षित किया गया। परवर्ती साहित्य में कवि-शिक्षा का यह विषय एक पृथक् शास्त्रीय विषय बन गया, क्योंकि काव्यशास्त्र के अंतर्गत सिद्धांत-पक्ष पर अधिक बल दिया जाने लगा था। कुछ लेखकों ने केवल कवि-शिक्षा विषय पर ही ग्रंथ लिखे हैं। काव्य-कला के लिए आवश्यक, कवि-शिक्षा-विषयक व्यावहारिक तथा कुछ यंत्रवत् अनुभव एवं प्रशिक्षण ही आरंभ में काव्यशास्त्र के आधार थे। संभवतः काव्यशास्त्र को एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में उसी काल में मान्यता प्राप्त हुई थी, जिस काल में संस्कृत 'चिर प्रतिष्ठित' काव्य-विकास की चरम सीमा को लांघ चुका था।

क्योंकि भामह (i. 23) तथा दंडी (i. 10) जैसे प्राचीन आचार्यों ने मुख्यतः अपने आपको 'काव्य-आत्मा' से भिन्न, 'काव्यशरीर' तक ही सीमित रखा है।[1] रुचिकर अर्थ के व्यंजक शब्द-विन्यास तथा काव्यालंकारों की कलापूर्ण

---

1. संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में 'काव्यशरीर' तथा 'काव्यात्मा' जैसे आलंकारिक शब्दों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद, मंडल 6, सूत्र 58, श्लोक 3 (चत्वारि श्रृंगा) में वेदपुरुष के रूपक के आधार पर इसकी कल्पना की गई है। राजशेखर ने इसी दृष्टांत को लेकर काव्यपुरुष तथा उसकी पत्नी साहित्य-विद्या की कल्पना की है। राजशेखर के आलंकारिक वर्णन के अनुसार शब्द तथा अर्थ, काव्यपुरुष का शरीर है, संस्कृत मुख है, प्राकृत बाहु है, अपभ्रंश जंघा तथा कटि प्रदेश हैं, पैशाची (पैशाच) चरण है, वक्षस्थल मिश्रित भाषाएँ हैं। भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी ऐसा ही परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि काव्यपुरुष की वाणी उक्तिचणम् (विभिन्न काव्यालंकारों की अभिव्यक्ति) में समृद्ध है; काव्य-रस उसकी आत्मा है, छंद उसके रोम हैं, प्रश्नोत्तर तथा प्रहेलिका उसके संलाप हैं, अनुप्रास तथा उपमा इत्यादि उसके अलंकार हैं। सबसे पहले वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा था, परवर्ती लेखकों ने इसका अधिक सूक्ष्म विवेचन किया है। अलंकार इत्यादि काव्य के बाह्य अंगों को व्यवस्थित तथा नियमबद्ध किया जा सकता है, यही संस्कृत काव्यालंकार की एक उपलब्धि थी, किंतु इसके साथ-साथ, काव्य की अंतर्वस्तु अर्थात् काव्यात्मा के विविध रूपों की व्याख्या के लिए एक शास्त्रीय सिद्धांत की आवश्यकता की भी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। इसलिए काव्य-शरीर के जीवन-सिद्धांत, अर्थात् काव्यात्मा के विवेचन का प्रयत्न किया जाने लगा। भामह ने संभवतः इसी का अनुभव करते हुए वक्रोक्ति को काव्याभिव्यक्ति का मूलभूत सिद्धांत कहा, किंतु आचार्य दंडी ने एक कदम आगे बढ़कर, गुणों को मार्ग अथवा रीति का प्राण कहा तथा उन्हें काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना। काव्य की आत्मा क्या है ? संभवतः सबसे पहले आचार्य वामन ने इस प्रश्न का सूक्ष्म तथा स्पष्ट विवेचन किया। अंत में ध्वनिकार ने काल्पनिक काव्यशरीर तथा काव्यात्मा के परस्पर संबंध की व्यवस्थित रूप से परिभाषा की। ध्वनिकार, (ii. 7) के अनुसार 'व्यंग्यार्थ काव्य की आत्मा है; काव्य-गुण, साहस की तरह स्वाभाविक गुण है; काव्यालंकार, शारीरिक आभूषणों, यथा, कंकण-कुंडल के सदृश हैं। मम्मट ने उपर्युक्त कथन को स्वीकार किया है, (vii. 1) तथा परवर्ती सभी लेखकों ने इसे प्रामाणिक माना है, किंतु नमिसाधु ने (रुद्रट, xii. 2) अपनी टीका में इस विषय पर रुद्रट के मत का कथन करते हुए इसी प्रकार की, किंतु अशुद्ध, व्याख्या की है। विश्वनाथ ने इस आलंकारिक संकल्पना को अंतिम रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीत्योऽवयव-संस्थानविशेषवत्, अलंकाराः

साज-सज्जा को इन आचार्यों ने बड़ा महत्त्व दिया है। काव्य का सिद्धांत जो भी हो, कलापूर्ण अभिव्यक्ति के वस्तुनिष्ठ-सौंदर्य से ही काव्य-सौंदर्य का अनुभव हो जाता है।

शब्द तथा अर्थ, तथा उनके शोभाकर, अर्थात् अलंकार, काव्य-शरीर के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं।[1] काव्य के यही लक्षण हैं। दूसरे शब्दों में काव्य एक सार्थक शब्द-प्रबंध होता है तथा काव्यालंकारों अर्थात् अभिव्यक्ति के विशिष्ट शोभाकर साधनों द्वारा उसका अलंकरण किया जाता है। क्रमशः शब्द तथा अर्थ पर आधारित दो प्रकार के अलंकारों की सामान्य रूप से चर्चा करते हुए

कटककुंडलादिवत्।" इस अलंकार के अंतर्गत विश्वनाथ ने ऐसे सभी काव्यांगों को एकत्र कर लिया है, जिनका विवेचन पूर्ववर्ती आचार्यों ने किया था। क्रमशः विकसित भारतीय काव्य-संकल्पना के सूचक इस रूपक अलंकार का मूल्य कुछ भी हो, यह बात स्पष्ट है कि भामह से लेकर जगन्नाथ प्रभृति सभी आचार्यों ने शब्द तथा अर्थ को काव्य का शरीर माना है, इसी विचार को लेकर आचार्यों ने अंत में काव्य की आत्मा का अन्वेषण किया। एक अन्य दृष्टिकोण से, सभी सिद्धांत शब्द तथा अर्थ की मीमांसा तथा विशेष रूप से काव्यशक्ति के विवेचन पर ही आधारित हैं। उन सबका आरंभ अभिव्यक्ति से ही हुआ है। जैसा कि सभी महान् आचार्यों ने स्वीकार किया है, काव्यशास्त्र का जन्म भाषा के व्याकरण-संबंधी दार्शनिक चिंतन से ही हुआ है, इसलिए इन दो अंगों अर्थात् शब्द और अर्थ पर अधिक बल दिया जाना विस्मय-जनक नहीं है।

1. ऊपर देखिए, पृ० 32, पा० टि० 2. कुंतक के कथनानुसार भामह के i. 16 में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के आधार पर ही संभवतः काव्य को 'साहित्य' नाम से लक्षित किया गया था। संभवतः सबसे पहले मुकुल (पृ० 21 तथा 22) तथा उनके शिष्य, प्रतीहारेंदुराज ने संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतर्गत इस शब्द का प्रयोग किया है। राजशेखर ने स्पष्ट रूप में साहित्य-विद्या शब्द का प्रयोग किया है। शब्द तथा अर्थ के संयोग पर आधारित तथा काव्य की पूर्वोक्त परिभाषा को लक्षित करनेवाले इस साहित्य शब्द की राजशेखर ने प्राचीन व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य-विद्या'। कुंतक भी इस व्याख्या से सहमत हैं। एक मूल अभ्युपगम-सिद्धांत के रूप में, शब्द तथा अर्थ का यह साहित्य अथवा संयोग, यथोचित परिवर्तन-सहित सभी काव्यमतों तथा आचार्यों ने अत्यंत प्राचीन काल में स्वीकार किया है। तुलना कीजिए, दंडी i. 10 वामन अध्याय i.1, (वृत्ति), रुद्रट ii. 1. आनंदवर्धन ने इसे निर्विवाद स्वीकार करते हुए कहा है—'शब्दार्थौ तावत् काव्यं, न विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति।' माघ ने ii. 86 (द्वितीयार्द्ध) में तथा कालिदास ने 'रघुवंश' के प्रथम श्लोक में स्पष्ट रूप में इसी विचार को निर्दिष्ट किया है।

भामह ने आरंभ में ही इसी विचार को निर्दिष्ट किया है।[1]

'रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्ति वाचां वांछंत्यलंकृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥

'वक्रोक्तिजीवित' (i. 8 की टीका में) तथा 'काव्यप्रकाश' के छठे अध्याय में उपर्युक्त श्लोकों का समर्थनसहित उल्लेख किया गया है। यद्यपि इनका अनुवाद करना सरल नहीं, तथापि इनका तात्पर्य यह है कि "अन्य लेखकों ने रूपकादि को बाह्य अलंकार कहा है। उनका कथन है कि शुद्ध व्याकरण के प्रयोग से भाषा की शोभा बढ़ती है, वे इसी को सौशब्द्य अर्थात् भाषा-सौंदर्य कहते हैं, किंतु इससे अर्थ की शुद्धता परिलक्षित नहीं होती, तथापि हमने शब्दा-लंकार तथा अर्थालंकार नामक दो प्रकार के अलंकार स्वीकार किए हैं। यद्यपि दंडी इस मत के अनुयायी नहीं थे, तथापि भामह के उपर्युक्त कथन के साथ उन्होंने सहमति प्रकट करते हुए स्पष्ट रूप में कहा है (i. 10) कि 'रुचिकर अर्थ-सम्मत शब्दसमूह का नाम काव्य है।'

भामह का ग्रंथ इस सिद्धांत का प्राचीनतम प्रतिनिधि है, किंतु जैसा कि अनेक बार बताया गया है—भामह इस सिद्धांत के मूल प्रवर्तक नहीं थे। ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया सिद्धांत अविकसित रूप में नहीं है, अपितु अपने विषय पर स्पष्ट रूप में विकसित अनुशीलन का द्योतक है। पहले कहा गया है कि राजशेखर ने (i. 1), विशेष रूप में काव्यालंकारों से संबंधित विविध विषयों के मूल पौराणिक व्याख्याताओं की लंबी सूची दी है। उन्होंने प्रचेतायन, चित्रांगद, शेष, पुलस्त्य, औपकायन, पाराशर, उतथ्य तथा कुबेर को क्रमशः अनुप्रास, यमक तथा चित्र, शब्दश्लेष, वास्तव, उपमा, अतिशय, अर्थश्लेष तथा उभयालंकार प्रभृति काव्यालंकारों के मूल मीमांसक माना है। भामह के उप-रांत भी सामान्यतः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के परस्पर भेद तथा विशेषतः

1. भामह के समय से शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के परस्पर भेद को स्वीकार किया जाने लगा, यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में उसे निर्दिष्ट नहीं किया गया। दंडी ने दूसरे अध्याय में अर्थालंकारों की तथा तीसरे अध्याय में शब्दालंकारों की पृथक्-पृथक् चर्चा करके इस परस्पर भेद को परिलक्षित किया है, यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप में इस भेद का विवेचन नहीं किया है। भोज ने अपने ग्रंथ 'सरस्वतीकंठाभरण' में शब्दालंकारों, अर्थालंकारों तथा उभयालंकारों का वर्गीकरण किया है तथा प्रत्येक वर्ग के 24 अलंकारों की सोदाहरण परिभाषा दी है।

शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष के परस्पर भेद की प्राचीनता पर संदेह किया जा सकता है, किंतु इनमें से कुछ अलंकार बहुत प्राचीनकाल में स्वीकार कर लिए गए थे।

भरत ने इनमें से कुछ अलंकारों का उल्लेख किया है तथा भामह ने चित्र तथा वास्तव के अतिरिक्त सभी अलंकारों को मान्यता दी है। चित्र अलंकार का दंडी ने तथा वास्तव का रुद्रट ने उल्लेख किया है। भामह के कथनानुसार मेधाविन इसी मत के अनुयायी थे। इस मत के वे ही एक प्राचीन व्याख्याता हैं।

भामह के ग्रंथ से काव्यशास्त्र के इतिहास में अनुमानमूलक तथा अनिश्चय-मूलक अंधकार युग की समाप्ति हो जाती है तथा काव्य-सिद्धांत को एक व्यवस्थित तथा शास्त्रीय रूप उपलब्ध होता है, यद्यपि भामह अथवा उनके मतानुयायी उद्भट के ग्रंथों में शास्त्र का सूक्ष्म विवेचन नहीं है, तथापि कुछ मोटे-मोटे निष्कर्ष अवश्य निकाले जा सकते हैं। सामान्यत: व्यावहारिक तथा आदर्श ग्रंथ होने के कारण इनमें शुद्ध सिद्धांत-पक्ष की पर्याप्त मीमांसा नहीं की गई है, तत्कालीन अवस्था में इस प्रकार की मीमांसा की आशा करना व्यर्थ है। अतएव भामह ने कहीं भी काव्य की व्यवस्थित परिभाषा देने अथवा वक्रोक्ति तथा अलंकार के सिद्धांत को स्पष्ट करने का यत्न नहीं किया है। उनके मतानुयायी वक्रोक्तिजीवितकार ने ही सबसे पहले स्पष्ट रूप में इनकी परिभाषा दी है। भामह के ग्रंथ के प्रथम अध्याय में काव्य के सामान्य लक्षणों तथा भेदों का कथन है, किंतु अधिकांश में अभिव्यक्ति के सामान्य दोषों का ही वर्णन है।

आरंभ में ही भामह ने काव्य-प्रयोजन तथा काव्य-हेतु के विवेचन के साथ-साथ काव्य-योनय: का प्रासंगिक वर्णन किया है। यहाँ काव्य-प्रयोजन से संबंधित विभिन्न विचारों पर चर्चा करना अनावश्यक है, क्योंकि उनका उद्देश्य बाह्य वस्तुओं का वर्णन ही रहा है, सामान्य काव्य-सिद्धांत से उनका विशेष संबंध नहीं है। प्राचीन लेखकों ने कवि-कीर्ति तथा पाठक-प्रीति[1] को काव्य के प्रयोजन कहा, किंतु यह कथन सर्वथा समीचीन नहीं है; भामह (i.2), दंडी (i.105), वामन (i. 1.5), रुद्रट (i. 21, 22) तथा भोज (i. 2) प्रभृति आचार्य भिन्न-भिन्न मतों का अनुसरण करते हुए भी उपर्युक्त कथन से संतुष्ट हैं। काव्य के उक्त प्रयोजनों के अतिरिक्त, काव्यकार के दृष्टिकोण से अर्थ-प्राप्ति, यश-प्राप्ति तथा निरामयता भी काव्य के प्रयोजन मान लिए

1. भरत ने नाटक के प्रीतिकारण प्रयोजन को 'क्रीडनक' (i. 11) तथा 'विनोदकारण' (i.86) कहा है।

गए ।[1] पाठक के दृष्टिकोण से, काव्य से शांति, विद्या तथा सांसारिक कुशलता की प्राप्ति होती है; कभी-कभी इन काव्य-प्रयोजनों को संक्षेप में 'त्रिवर्ग' अर्थात् धर्म, अर्थ, काम से परिलक्षित किया गया है; कुछ समय पश्चात् भामह (i.2) ने इसमें चौथा प्रयोजन मोक्ष भी जोड़ दिया; इस प्रकार चतुर्वर्ग काव्य का प्रयोजन हो गया। प्राचीन काल से ही अन्य शास्त्रों में ऐसे प्रयोजनों का विधान है; काव्यशास्त्र भला उनसे भिन्न कैसे हो सकता था ? अतएव काव्य को भी पूर्णतया शास्त्र-सम्मत बना देने का प्रयत्न किया गया। परवर्ती-आचार्यों, यथा मम्मट तथा उनके अनुयायियों ने अभिनवगुप्त के सिद्धांत ('लोचन' पृ० 12) पर बल देते हुए कहा है[2] कि श्रुति तथा शास्त्रों से भिन्न, काव्य 'कांता-सम्मित' है, अर्थात् काव्य, कांता अथवा प्रिया के उपदेश अथवा शिक्षा के समान है और रसास्वादन की विशिष्ट शक्ति को परिलक्षित करता है। काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध प्रथम श्लोक में कहा गया है कि नियति-रचित नियमों से रहित, आनंदमयी कविवाणी रमणीय काव्यसृष्टि को प्रकट करती है। इस कथन से सारी बात स्पष्ट हो जाती है। चतुर्वर्ग-सहित काव्य के अन्य भौतिक प्रयोजनों के उल्लेख की परंपरा अटूट रही है, किंतु रसाश्रित काव्य-शास्त्र-सिद्धांत के पूर्ण विकास के साथ-साथ काव्य का प्रयोजन काव्य के लक्षणों के साथ सम्मिलित कर दिया गया, काव्य को एक ऐसे सौंदर्य-सुख का साधक अथवा स्रष्टा मान लिया गया, जिसे सामान्य दर्शनशास्त्र में आनंद कहा गया है।[3] जगन्नाथ ने इसे 'निरपेक्ष' अथवा 'अलौकिक' आनंद बताकर इसकी

---

1. यथा, मम्मट i.2; हेमचंद्र पृ० 2, इत्यादि।

2. अभिनव ने 'प्रभु-सम्मित', 'जाया-सम्मित' तथा 'मित्र-सम्मित' शब्दों का प्रयोग किया है, मम्मट ने इन्हें स्वीकार किया है (बंबई संस्कृत सीरीज़ सं० 1917, पृ० 9)। परवर्ती लेखकों (यथा 'एकावली' पृ० 13-15) ने 'प्रभु-सम्मित' वेद, 'मित्र-सम्मित' इतिहास इत्यादि तथा 'कांता-सम्मित' काव्य में भेद किया है।

3. इस विषय पर भामह के अध्याय i श्लोक 2 पर अभिनवगुप्त की टिप्पणी बड़ी रोचक है ('लोचन' पृ० 12, हेमचंद्र ने अपनी टीका, पृ० 3 पर इसे आंशिक रूप में उद्धृत किया है)—

'यथोक्तं—धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

इति, तथापि प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष इति प्रधान्येनानंद एवोक्तः। चतुर्वर्ग-

परिभाषा पूर्ण कर दी है। बारंबार सुंदर वस्तुओं की अनुभूति से अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है, काव्य-रहस्य में निपुण व्यक्ति ही इस आनंद का उपभोग कर सकता है।

भामह ने काव्यहेतु तथा काव्ययोनि के महत्त्व को मान्यता दी है। सर्वप्रथम वामन ने इन विषयों का सविस्तर निरूपण किया है, किंतु भामह का तत्संबंधी विवेचन अपेक्षाकृत संक्षिप्त ही है। संस्कृत काव्यशास्त्र मूलतः एक यंत्रवत् अनुशीलन का ही परिणाम था, अतएव कवि के लिए आवश्यक गुणों की एक लंबी सूची दी गई है तथा कविशिक्षा के व्यापक नियमों का विधान है। शास्त्र के सिद्धांत-पक्ष के विकास के साथ-साथ कुछ ऐसे लेखक भी हुए, जिन्होंने कविशिक्षा को एक पृथक् विषय मानकर उसका ही निरूपण किया, यद्यपि सामान्यतः काव्य-शास्त्र के सभी प्राचीन आचार्यों ने इस विषय पर कुछ-न-कुछ अवश्य कहा है। कविशिक्षा के विषय पर चर्चा आगे की जाएगी, किंतु तत्संबंधी प्राचीन अनुशीलन के विषय में यहाँ कुछ कह देना उचित रहेगा। प्राचीन अथवा अर्वाचीन सभी लेखकों ने प्रतिभा-मूलक सत्कवित्व (भामह, i. 4) को परमावश्यक मानते हुए स्वाध्याय तथा अनुभव पर बल दिया है। भामह (i. 5) तथा दंडी (i. 103-4) ने 'नैसर्गिकी' अथवा 'सहज' प्रतिभा की आवश्यकता को स्वीकार किया है, वामन के कथनानुसार काव्य प्रतिभामूलक तथा जन्मांतरगत विशेष संस्कार-मूलक होता है (अध्याय i. 3, 16 वृत्ति)।[1] उसके बिना काव्य संभव नहीं, यदि फिर भी कोई काव्य-रचना करे तो वह हास्यास्पद ही रहेगा। मम्मट ने वामन के इस कथन को अक्षरशः उद्धृत किया है, किंतु प्रतिभा के स्थान पर उन्होंने सामान्य शब्द 'शक्ति' का प्रयोग किया है।[2] अभिनवगुप्त ने इसे 'अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षम'

व्युत्पत्तेरपि चानंदः पार्यंतिकं मुख्यं फलम्।" काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व रस माना जाने लगा; प्रीति अथवा आनंद को ही रस बतलाया गया। यह स्वाभाविक ही था कि आगे चलकर आनंद अथवा प्रीति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन मान लिया गया। मम्मट ने इसे 'सकलप्रयोजन-मौलीभूतं' कहा है।

1. 'जन्मांतरगतसंस्कारविशेषः कश्चित्।' दंडी ने इसे 'पूर्ववासनागुणानुबंधि' कहा है।
2. रुद्रट ने इस शब्द का प्रयोग किया है (i, 14-15) और 'शक्ति' तथा 'प्रतिभा', दो वैकल्पिक शब्दों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने भी 'शक्ति' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है—'शक्तिः प्रतिभानं, वर्णनीयवस्तुविषय-नूतनोल्लेखशालित्वम्।'

प्रज्ञा नाम से परिलक्षित किया है ('लोचन' पृ० 29), प्रज्ञा के लक्षण इस प्रकार दिए हैं—'तस्य विशेषो रसावेश-वैशद्य-सौंदर्यकाव्य-निर्माणक्षमत्वम्।' इस विषय में अभिनवगुप्त ने भरत (vii. 2) की प्रामाणिक उक्ति को भी उद्धृत किया है। भरत ने इसे कवि का 'अंतर्गत भाव' कहा है। हेमचंद्र ने एक अज्ञात लेखक श्लोक को उद्धृत किया है। उसमें 'प्रतिभा' की परिभाषा 'प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी' शब्दों से की गई है। यह परिभाषा उपर्युक्त परिभाषा से सम्मित है, किंतु क्षेमेंद्र ('औचित्यविचार' श्लोक 35) ने अभिनव के गुरु, भट्टतौत को इसका लेखक माना है। परवर्ती लेखकों ने अभिनव तथा मम्मट के कथन को प्रमाण माना है तथा उक्त परिभाषा को शास्त्रीय स्वीकार किया है, यद्यपि यदाकदा इसे लोकोत्तर कहकर वैचित्र्य, विच्छित्ति, चारुता, सौंदर्य, हृदयत्व अथवा रमणीयत्व इत्यादि अनिर्वचनीय सौंदर्य की उत्पत्ति का उद्गम कहा है।

प्रतिभा में विश्वास करने के अतिरिक्त इन आचार्यों ने कवि को कवि बनाने के लिए उचित तथा आवश्यक शिक्षा को भी महत्व दिया है। दंडी ने इसे 'श्रुत' अथवा 'अभियोग' कहा है, किंतु परवर्ती लेखकों ने इसे 'व्युत्पत्ति' तथा 'अभ्यास' कहा है। रुद्रट के कथनानुसार, प्रतिभा केवल सहज ही नहीं होती, बल्कि व्युत्पत्ति द्वारा उत्पाद्य होती है। अतएव, कवि को अनेकानेक शास्त्रों तथा कलाओं में निपुण होना चाहिए। ऐसे शास्त्रों तथा कलाओं की एक लंबी सूची दी गई है। सबसे प्राचीन सूची भामह i. 9 में दी गई है। इसमें काव्य-योनियों के रूप में इन शास्त्रों अथवा विषयों का अनुशीलन निर्दिष्ट किया गया है[1] : शब्दशास्त्र (व्याकरण), छंदःशास्त्र, अभिधानार्थ (शब्दकोश), इतिहासाश्रित कथाएँ, लोकाचार, युक्ति तथा कलाएँ। रुद्रट की सूची भी अधिकांशतः यही है (i. 18), किंतु वामन ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है (i. 3, 21-22)। उनके अनुसार कवि को इन शास्त्रों अथवा विषयों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए—व्याकरण, शब्दकोश, छंद, कलाएँ, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र, राजनीति तथा लोकाचार। उन्होंने लोकाचार को सबसे अधिक महत्वपूर्ण बताया है। कहीं-कहीं यह भी कहा गया है कि कवि को काव्य-सिद्धांत तथा काव्य के अभ्यास में कुशल होना चाहिए। कवि को रूपकादि

1. जैसा कि वामन ने अध्याय i. 3, 1 (काव्यांगानि) तथा राजशेखर ने अध्याय 8 (काव्ययोनयः) में निर्दिष्ट किया है, मुद्रित पाठ 'काव्यर्यैवंशी' के स्थान पर काव्ययोनयः पढ़िए।

काव्यालंकारों, श्लेष, जटिल अनुप्रास तथा यमक के प्रयोग में प्रवीण होने के अतिरिक्त आशु-काव्य, समस्यापूर्ति इत्यादि विचित्र प्रयोगों में भी निपुण होना चाहिए। जैसा कि मंखक, राजशेखर तथा अन्य आचार्यों ने निर्दिष्ट किया है, प्रत्येक नवीन काव्य अनुमोदनार्थ पंडित-सभा में प्रस्तुत किया जाता था। काव्य के सभी सिद्धांतों के अनुसार उसका खरा उतरना आवश्यक माना जाता था। किंतु यह इतना सरल नहीं होता था। रीति के एक आचार्य का कथन है कि रीति अथवा शैली एक स्त्री के समान है। दोनों की शुद्धता में संदेह होना स्वाभाविक है। तनिक दोष भी अनर्थ कर देता है, इसी प्रकार जन-साधारण के लिए भी सिद्धांत का कुछ ज्ञान होना आवश्यक समझा गया था। संस्कृत के आचार्यों के मतानुसार रसिक अथवा सहृदय के लिए विद्वान्, बुद्धिमान तथा सिद्धांत की जटिलता से परिचित होना ही पर्याप्त नहीं है, उसमें सौंदर्यानुभूति की सहज प्रवृत्ति भी होनी चाहिए।[1] काव्य-रचना में सभी नियमों, परंपराओं तथा रसिक-तुल्य मान्यताओं का पालन किया जाय, प्रत्येक कवि का यही प्रयत्न होता था, क्योंकि सहृदय-ग्राहकता ही काव्य की एकमात्र कसौटी मान ली गई थी। अतएव काव्य में कवि की सहज प्रतिभा लक्षित होने के अतिरिक्त उसका सिद्धांत-सम्मित होना भी आवश्यक था। इस प्रकार विद्वानों के साहचर्य में पंडित-सभाओं में काव्यकला का विकास तथा उन्नति हुई, प्राचीन भारतीय समस्त वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय साहित्य के समान काव्यशास्त्र भी किस प्रकार एक पांडित्यपूर्ण तथा तर्काश्रित शास्त्र बन गया, यह आगे बताया जाएगा। निस्संदेह सिद्धांत-पक्ष तथा व्यवहार-पक्ष में थोड़ा-बहुत अंतर होना अनिवार्य है, कुछ ऐसे प्रतिभाशाली कवि भी हुए हैं, जिन्होंने निरंकुश काव्यरचना का प्रयत्न किया है, इसके विपरीत नियमों के अंधानुकरण की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है, जिसके फलस्वरूप अनेक क्लिष्ट तथा परिश्रमसाध्य काव्यों की रचना हुई है।

अब भामह के ग्रंथ के अंतर्गत अन्य विषयों का संक्षिप्त रूप में अवलोकन किया जाएगा।[2] भामह ने काव्य की 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' परिभाषा करते

---

1. कवि-शिक्षा के विषय पर 'भंडारकर कमेमोरेशन वाल्यूम' पृ० 375 इत्यादि पर एफ़० डब्ल्यू० टामस का 'दि मेकिंग ऑफ़ दि संस्कृत पोएट' शीर्षक लेख देखिए।
2. भामह के ग्रंथ में छह अध्याय हैं। प्रतिपादित विषय इस प्रकार हैं—पहला अध्याय, काव्य (60 श्लोक), दूसरा तथा तीसरा अध्याय, अलंकार (160 श्लोक), चौथा अध्याय, दोष (50 श्लोक), पाँचवाँ अध्याय, न्याय (70 श्लोक), तथा छठा अध्याय, व्याकरण अथवा शब्द-शुद्धि (60 श्लोक)।

हुए काव्य में शब्द तथा अर्थ दोनों को समान महत्त्व दिया है, किंतु जैसा कि भामह के निरूपण से परिलक्षित होता है, काव्य 'निर्दोष' तथा 'सालंकार' भी होना चाहिए। इसके पश्चात् भामह ने काव्य के भेद बताए हैं—(1) रूप के अनुसार, गद्य तथा पद्य, (2) भाषा के अनुसार, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश, (3) प्रतिपाद्य विषय-वस्तु के अनुसार क्रमशः चार भेद, मानव अथवा देव-चरित, कल्पित-चरित, कला अथवा शास्त्राश्रित चरित, (4) प्रबंधों का रूढ़िगत पाँचवाँ विभाजन, अर्थात् सर्गबंध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (नाटक), आख्यायिका, कथा तथा अनिबद्ध-काव्य (यथा गाथा तथा फुटकर श्लोक)। भामह ने महाकाव्य की परिभाषा न्यूनाधिक रूढ़ि के अनुसार ही की है, वह दंडी (i. 14 इत्यादि) तथा अग्निपुराण (336. 24-32) की परिभाषा से मिलती-जुलती है। क्योंकि अन्य आचार्य 'अभिनेयार्थ' का निरूपण कर चुके थे, इसलिए भामह ने इसे छोड़ दिया है। कथा तथा आख्यायिका के परस्पर सूक्ष्म भेद का निरूपण है। दंडी ने भामह के इस भेद को स्वीकार नहीं किया है तथा वामन ने अति सूक्ष्म समझकर इस पर अपना मत प्रकट नहीं किया है।[1]

प्रबंध के पद्य तथा गद्य में द्विधा विभाजन के संबंध में यह कहा जा सकता

---

1. देखिए खंड 1, पृ० 59. श्रेणीगत संस्कृत काव्य के इन दो भेदों के विकास में दो अथवा तीन सोपान स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। पहला सोपान भामह द्वारा दिए गए तत्संबंधी लक्षणों से तथा अंतिम सोपान रुद्रट द्वारा दिए गए लक्षणों से परिलक्षित होता है। भामह ने बाण की दो श्रेष्ठ रचनाओं को कथा तथा आख्यायिका के उदाहरण के रूप में स्वीकार कर लिया था, ऐसा नहीं माना जा सकता, किंतु रुद्रट ने उनकी मुख्य-मुख्य विशेषताओं को कथा तथा आख्यायिका के सामान्य लक्षणों के रूप में उद्धृत किया है। इस विषय की चर्चा अन्यत्र भी की गई है। (देखिए, बुलेटिन ऑफ़ दि स्कूल ऑफ़ ओरिएंटल स्टडीज़, खंड 3 में 'दि कथा एंड दि आख्यायिका इन क्लासिकल संस्कृत'। यह लेख 'सम प्राब्लम्ज़' के अंतर्गत (पृ० 65-79 पर भी छपा है)। अपने Essai Sur Gunadhya et la Brahatkatha में (पृ० 282) लाकोत (Lacote) का कथन है कि दंडी को अवश्य इस बात का ज्ञान था कि गुणाढ्य ने कथा तथा आख्यायिका के परंपरागत भेद को स्वीकार नहीं किया था (यथा, जैसा कि लाकोत ने पृ० 220 पर कहा है, मूल बृहत्कथा में नरवाहनदत्त ने अपनी विजय-यात्राओं का वर्णन किया है, जो कि भामह के नियमों के विरुद्ध है)। अतएव भामह ने इसे मान्यता नहीं दी। यद्यपि उन्होंने i. 28 में अपभ्रंश की एक कथा का उल्लेख किया है, किंतु उन्हें 'बृहत्कथा' के अस्तित्व का ज्ञान था अथवा नहीं, यह मालूम नहीं है।

है कि संस्कृत के आचार्यों के अनुसार काव्य दो प्रकार का होता है, पद्य तथा गद्य, यद्यपि कभी-कभी मिश्र भी हो सकता है, यथा नाटक, जिसमें गद्य तथा पद्य दोनों होते हैं। संस्कृत के लेखकों ने प्राचीनकाल में ही इस सिद्धांत को निर्विवाद स्वीकार कर लिया था कि गद्य, काव्य का नहीं अपितु पद्य का प्रतिलोम होता है। यूरोपीय आलोचना-सिद्धांत में इस तथ्य को बहुत बाद में मान्यता प्राप्त हुई है। संस्कृत काव्य में छंद का जैसा स्थान है, वैसा यूरोपीय काव्य में नहीं है; भारत में तो प्राचीनतम काल से ही नीरसतम उपदेश को भी छंदोबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रचलन था।[1]

दंडी तथा उनके अनुयायियों ने जिस रीति-सिद्धांत को इतना महत्त्व दिया है, भामह ने उसकी उपेक्षा ही की है (i. 31-35)। रीति के आचार्यों द्वारा किया गया वैदर्भी तथा गौडी का भेद भामह के विचार में निरर्थक है। यद्यपि भामह ने दंडी के 'मार्ग' तथा वामन के 'रीति' शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, तथापि उनका कथन क्रमश: 'वैदर्भी' तथा गौडी' के ऐसे काव्यों का व्यंजक है, जो शैली तथा विवेचन-भेद को परिलक्षित करते हैं।[2] इसी प्रकार के विचारों के कारण भामह ने 'गुणों' पर भी अधिक ध्यान नहीं दिया है। रीति के आचार्यों ने गुणों को रीति के अंग माना था। भामह ने एक अन्य प्रसंग में (i. 1-3) भरत के दस रूढ़ गुणों की उपेक्षा करते हुए केवल तीन गुणों—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—का संक्षिप्त उल्लेख किया है। उनके मतानुसार इन गुणों का रीति से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। उनका भाव अथवा अभाव न्यूनाधिक समासाश्रित होता है। दीर्घ समास ओज-गुण को तथा उनका अभाव माधुर्य तथा प्रसाद गुणों को लक्षित करता है। ये गुण किसी रीति-विशेष के गुण न

1. इस बात पर अधिक बल देने की आवश्ययता नहीं है कि संस्कृत के आचार्यों ने सभी प्रकार की कल्पनाश्रित रचनाओं को काव्य नाम से लक्षित किया है, अंत्यानुप्रास अथवा पद्यकरण को काव्य के लिए आवश्यक माना है। यह परंपरा इतनी प्रतिष्ठित हो चुकी थी कि उक्त प्रश्न पर न कहीं चर्चा की गई है और न ही किसी प्रकार का संदेह प्रकट किया गया है। आचार्यों ने इसीलिए 'कादंबरी' तथा 'हर्षचरित' को काव्य ही कहा है, यद्यपि वे अधिकांशत: गद्यमय ही हैं। वामन के कथनानुसार गद्य कवि की कसौटी है (गद्यं कवीनां निकषं वदंति, i.3. 21. की वृत्ति में उद्धृत)।
2. भामह के कथनानुसार प्रत्येक रीति अथवा मार्ग की अपनी-अपनी विशिष्टता है, अतएव गौडी की निंदा करना अथवा वैदर्भी की प्रशंसा करना उचित नहीं है। भामह ने स्वयं इन रीतियों की चर्चा नहीं की है, यद्यपि उनके समय में वे सर्वविदित थीं।

होकर सामान्य उत्तम काव्य के गुण होते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि गुणों का यह संक्षिप्त विवेचन अलंकारों के पश्चात् किया गया है, जो संभवतः उनकी समानता को लक्षित करता है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि भामह ने 'गुण' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया है। अपवादस्वरूप, यह प्रयोग भाविक अलंकार की चर्चा के प्रसंग में किया गया है। दंडी की तरह भामह ने भी 'भाविक' को एक 'प्रबंध-गुण' माना है।

इसके पश्चात् भामह ने दो लंबे अध्यायों में (ii. 4-95 तथा iii. 1-56) लगभग एक सौ पचास श्लोकों के अंतर्गत, उदाहरणों-सहित, अलंकारों का निरूपण किया है। तत्पश्चात् चौथे अध्याय में काव्य-दोषों का निरूपण है। पहले अध्याय के श्लोक 37-56 में भी इस विषय की चर्चा की गई है। अंत में, पांचवें तथा छठे अध्याय में क्रमशः काव्य की न्यायाश्रित [1] तथा शब्दाश्रित[2] मीमांसा की गई है। न्यायाश्रित, शुद्ध शब्द-प्रयोग तथा काव्य-दोषों का विवेचन तो एक प्रकार से नकारात्मक ही है। भामह के मतानुसार, काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु अलंकार ही है। अपने ग्रंथ के अधिकांश में भामह ने अलंकार का ही विवेचन किया है।[3] भामह ने अलंकारों को निश्चित वर्गों में रखने का प्रयत्न किया है, इस दृष्टिकोण से उनका ग्रंथ एक शास्त्रीय ग्रंथ बन गया है, जिसमें काव्य-कल्पना की अभिव्यंजना के इच्छुक कवि के लिए उपादेय काव्यालंकारों की सोदाहरण परिभाषाएं तथा अन्य व्यावहारिक नियम-सामग्री है। इस विवेचन के प्रसंग में भामह को ऐसा अनुभव हुआ कि

1. इसमें न्याय-वैशेषिक के प्रमाण, प्रज्ञा, हेतु, दृष्टांत इत्यादि विषयों की चर्चा है।
2. वामन के ग्रंथ के अंतिम अधिकरण की तरह इसमें सौशब्द्य (व्याकरण के अनुसार शुद्ध शब्द-प्रयोग) संबंधी उपयोगी सामग्री दी गई है।
3. उपभेदों को छोड़कर भामह ने 39 (+4) अलंकारों का उल्लेख अथवा परिभाषा इस क्रम में की है—अनुप्रास (दो भेद), यमक (पाँच भेद), रूपक (दो भेद), दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा (उपमा के एक भेद के रूप में), आक्षेप(दो भेद)अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेयस, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (दो भेद), श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमा-रूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससंदेह, समन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक, आशीः (किन्हीं के अनुसार) तथा हेतु, सूक्ष्म, लेश तथा वार्ता (इन्हें अलंकार नहीं माना गया है।)

अलंकारों का दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वर्गीकरण करना संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक अलंकार का मूलत: वर्गीकरण तो हो सकता है, किंतु प्रत्येक अलंकार के असंख्य रूप हो सकते हैं। भामह के मतानुसार अभिव्यंजना की अनेक कोटियाँ अथवा रीतियाँ हो सकती हैं, वक्रोक्ति पर आश्रित रीति सर्वोत्तम होती है,[1] सभी अलंकारों में उक्तिवैचित्र्य अथवा उक्ति-सौंदर्य होना आवश्यक है। भामह का यह प्रयत्न संश्लेषात्मक प्रयत्न है।

'वक्रोक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति वक्र उक्ति है। रुद्रट ने (ii. 13-17) शब्दाश्रित इस अलंकार की परिभाषा में इसी अर्थ को निर्दिष्ट किया है। रुद्रट का अनुसरण करते हुए सभी परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को काकु अथवा श्लेष पर आश्रित एक प्रकार की वक्र उक्ति का वाचक कहा है। वामन ने इसके विपरीत, वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार न मानकर, अर्थालंकार ही माना है और इसकी परिभाषा करते हुए इसे एक लक्षणाश्रित अलंकार कहा है। भामह के मतानुसार सभी अलंकारों को सामूहिक रूप में वक्रोक्ति नाम से लक्षित किया जा सकता है,[2] दंडी का भी ऐसा ही मत है (ii. 363), किंतु भामह के अनुसार, सामान्य भाषा से भिन्न, किंतु काव्य में उपयुक्त शब्दों के चयन तथा विशिष्ट उक्ति का नाम वक्रोक्ति है। कुंतक ने इसी विचार को लेकर अलंकार के एक विशिष्ट सिद्धांत का विकास किया है। उसके अनुसार, 'विच्छित्ति' अथवा 'वैचित्र्य' ही वक्रता है, जो कवि-प्रतिभा से सामान्य शब्दों

---

1. यह सत्य है कि एक स्थान पर भामह ने भाविक अलंकार को प्रबंध का सामान्य गुण बताया है। दंडी तथा भट्टि का भी ऐसा मत है। भट्टि के टीकाकारों के कथनानुसार भट्टि ने एक संपूर्ण अध्याय (अध्याय 12) में इस अलंकार को उदाहृत किया है। जहाँ भूत अथवा भविष्य की वस्तुओं अथवा घटनाओं का वर्णन इस प्रकार किया जाए, मानो वे प्रत्यक्ष वर्त्तमान हों, वहाँ भाविक अलंकार घटता है। इसके लिए 'चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथाया:' अर्थात् कथा अथवा विषय विचित्र, उदात्त तथा अद्भुत होना चाहिए। उसमें 'स्वभिनीतता' तथा 'शब्दानुकूलता' के गुण होने भी आवश्यक हैं। भामह ने काव्य में भाविकत्व के अस्तित्व पर अधिक बल नहीं दिया है, एक सामान्य अलंकार के समान ही इसका भी विवेचन किया है। भामह ने भाविक को निस्संदेह एक 'प्रबंध गुण' माना है, किंतु उन्होंने गुण तथा अलंकार में कोई विशेष सैद्धांतिक भेद स्वीकार नहीं किया। इस प्रसंग में गुण शब्द किसी शास्त्रीय अर्थ का वाचक नहीं है।

2. इस विषय पर कुंतक-कृत 'वक्रोक्तिजीवित' पर सुशीलकुमार डे की भूमिका, द्वितीय सं०, पृ० xiv-xxxv देखिए।

में भी उत्पन्न की जा सकती है। उन्होंने 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। इन शब्दों का अभिधाश्रित सामान्य प्रयोग होता है, जैसा कि काव्य-कल्पना से रहित व्यक्ति प्रायः करते हैं, तब उसमें कोई विशेष अर्थ, विच्छित्ति अथवा वैचित्र्य नहीं होता, फलस्वरूप, जैसा कि भामह तथा उनके अनुयायियों का मत है, ऐसा शब्द-प्रयोग काव्य में नहीं होता। दंडी ने, 'वक्रोक्ति' से भिन्न इस प्रकार की 'स्वभावोक्ति' को 'आद्या अलंकृति' अर्थात् आद्य अलंकार कहा है, किंतु भामह[1] तथा कुंतक ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। उनके मतानुसार स्वभावोक्ति कोई अलंकार नहीं है। इन आचार्यों ने अलंकृत अथवा विशिष्ट तथा स्वाभाविक अथवा अलंकृत अभिव्यक्ति के परस्पर भेद को परिलक्षित किया है।[2]

1. ZDMG lixv. पृ० 130 इत्यादि तथा Sb. der Preuss Akad, xxiv. 1922, पृ० 224 इत्यादि पर जेकबी के लेख देखिए। कुंतक ने भी वक्रोक्ति को अलंकार शब्द के अर्थ में प्रयुक्त किया है (पृ० xxx) तथा तथा-कथित काव्यालंकारों को वक्रोक्ति के भेद ही कहा है। भामह ने कुंतक के समान, स्वभावोक्ति की अधिक आलोचना नहीं की है। भामह ने स्वभावोक्ति को स्वीकार तो किया है, किंतु उसके तत्संबंधी शब्द-प्रयोग से (ii. 93-94) ऐसा प्रतीत होता है कि यह अलंकार उन्हें उतना मान्य नहीं था, जितना दंडी को था। दंडी ने वाङ्मय को स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति में विभाजित किया है। सभी अलंकार वक्रोक्ति के अंतर्गत हैं। भोज ने (सरस्वतीकंठाभरण) वाङ्मय को स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति तथा रसोक्ति में विभाजित किया है।
2. भामह तथा कुंतक के मतानुसार स्वभावोक्ति, वस्तु के केवल स्वभावाश्रित वर्णन के कारण, काव्योचित वैचित्र्य से रहित होती है; ऐसा स्वाभाविक वर्णन सामान्य अथवा अनलंकृत ही होता है। उनका तात्पर्य यह है कि कवि को अपने विचार शास्त्रों अथवा साधारण जीवन में उपलब्ध नीरस पद्धति से भिन्न रूप में व्यक्त करने चाहिए, किंतु इसके विपरीत दंडी तथा परवर्ती अन्य आचार्यों ने 'जाति' अथवा 'स्वभावोक्ति' को एक काव्यालंकार माना है। इस विषय पर 'वक्रोक्तिजीवित' की भूमिका पृ० xix, पा० टि० 19 के अपने कथन को हम उद्धृत करते हैं: "स्वभावोक्ति का रूप सामान्य वर्णन के समान हो सकता है, किंतु इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। जिस दृष्टि से साधारण व्यक्ति एक वस्तु का अवलोकन अथवा उसकी कल्पना करता है, कवि उस दृष्टि से उसकी कल्पना नहीं करता। साधारण व्यक्ति अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से वस्तुओं का अवलोकन करता है; वस्तु तथा व्यक्ति का परस्पर संबंध व्यक्ति-आश्रित होता है तथा व्यक्ति का उद्देश्य वस्तुओं के शास्त्रीय ज्ञान की प्राप्ति करना होता है। किंतु कवि, किसी वस्तु से अपना अथवा किसी अन्य व्यक्ति का कोई संबंध नहीं मानता; वह वस्तु

भामह ने काव्य के विभिन्न भागों का वर्णन करते हुए यह कहा है कि यह विभाजन सर्वथा वक्रोति-सापेक्ष है (i. 30); उन्होंने आगे चलकर यह स्पष्ट कर दिया है कि काव्य में रीति का स्थान जो कुछ भी हो; काव्य में वक्रोक्ति एक वांछनीय अलंकार है (i.36)। एक अन्य स्थल पर भामह ने वक्रोक्ति को 'वक्र' से लक्षित किया है (vi. 23)। उन्होंने 'वक्रोक्ति' का अभ्यास करने का आग्रह किया है, क्योंकि वक्रोक्ति ही काव्यार्थ की अभिव्यक्ति करती है; वक्रोक्ति के विना काव्य में अलंकार संभव नहीं हो सकता (ii. 85)। इसमें कोई विस्मय नहीं कि भामह ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश-जैसे अलंकारों को इसलिए अस्वीकार किया है, क्योंकि उनमें वक्रोक्ति का समावेश नहीं है।

यह विचित्र बात है कि भामह ने वक्रोक्ति शब्द की कहीं भी व्याख्या अथवा परिभाषा नहीं की है। संभवतः भामह एक ऐसे प्राचीन आचार्य हैं, जो व्यवस्थित रूप में सिद्धांत की मीमांसा नहीं कर पाए थे, उन्होंने व्यावहारिक दृष्टिकोण से, काव्यात्मक अभिव्यक्ति के साधक तथा मौलिक सामान्य नियमों का उपदेश किया। अथवा भामह के समय में वक्रोक्ति-सिद्धांत इस प्रकार परंपरागत अथवा सर्वविदित था कि उन्होंने इस विषय पर विस्तारपूर्वक व्याख्या करना

की वास्तविक कल्पना करता है। 'लोकातिक्रांत-गोचरता' का आंशिक तात्पर्य यही है। जगन्नाथ ने (बंबई सं० 1915 पृ० 4) काव्य-सौंदर्य अथवा विच्छित्ति के द्योतक 'लोकोत्तरत्व' शब्द की व्याख्या करते हुए इस बात को स्पष्ट कर दिया है। 'लोकोत्तर' का शाब्दिक अर्थ है संसारोत्तर, किंतु उक्त संदर्भ में मोटे तौर से इसका अर्थ 'निःसंग' अथवा 'अलिप्त' किया जा सकता है। दंडी ने 'स्वभावोक्ति' के लिए परंपरागत 'अलंकार' शब्द का प्रयोग करते हुए भामह के इस कथन को कि 'वक्रता' सभी काव्यालंकारों का समान लक्षण है, स्वीकार नहीं किया, क्योंकि दंडी (ii. 362) के अनुसार स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति नहीं होती; किंतु 'अतिशयोक्ति' के संबंध में भामह के कथन को (ii. 81) स्वभावोक्ति-सहित सभी अलंकारों पर लागू करते हुए दंडी ने भामह के साथ सहमत होने का प्रयत्न किया है। भारतीय आचार्यों ने अपने एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य की उपेक्षा की है, उन्होंने कवि की काव्य-कल्पना के रूप में काव्य-विषय के गुण-धर्म की परिभाषा नहीं की। पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्रियों ने इसी विषय को मुख्य विषय मानकर इसका विवेचन किया है। 'स्वभावोक्ति' तथा 'भाविक' इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय आचार्यों को भी इस विषय का ज्ञान था, किंतु उन्होंने इसका सर्वांगीण विवेचन न करके केवल आंशिक रूप में ही इस पर विचार किया है।" इस विषय पर उपर्युक्त Sb. der preuss Akad पृ० 224 इत्यादि पर जेकबी का लेख भी देखिए।

आवश्यक नहीं समझा। अस्तु, अतिशयोक्तिसहित अन्य काव्यालंकारों का उल्लेख तथा परिभाषा करने के पश्चात्, भामह ने कहा है 'सैषा सदैव वक्रोक्ति:' (ii. 85), अर्थात् यह सब वक्रोक्ति ही है, संदर्भ-गत संकेत से भामह ने ऐसा लक्षित किया है कि वास्तव में अतिशयोक्ति में वक्रोक्ति निहित है। कुंतक भामह से इस बात में सहमत हैं कि वक्रोक्ति में एक प्रकार का 'अतिशय' होता है। उनके मत में 'अतिशय', 'वक्रोक्ति-वैचित्र्य', प्रमुख 'विचित्र-मार्ग' का एक आवश्यक अंग होता है (i. 37)। एक अन्य प्रकार से दंडी भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, क्योंकि उनके कथनानुसार सभी काव्यालंकार 'अतिशयोक्ति' पर ही निर्भर हैं। दंडी के एक टीकाकार ने उनके मत की व्याख्या इस प्रकार की है—

> "अलंकारांतराणामपि एव (=अतिशयोक्त्यालंकार:)
> उपकारी भवति, अतिशय-जननत्वं
> बिना भूषणतया न स्यादित्यभिप्राय: ।।"

इस संबंध में आनंदवर्धन का कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका कथन है कि प्रत्येक अलंकार में 'अतिशय' का समावेश हो सकता है, जैसा कि सभी कहाकवियों ने अपने काव्य-प्रबंधों के शोभावर्धनार्थ सफलतापूर्वक उसका प्रयोग किया है। 'अतिशयोक्ति' तथा 'वक्रोक्ति' के संबंध में भामह के मत का उल्लेख करते हुए उन्होंने इस प्रकार कहा है (पृ० 209)[1]—"कविप्रतिभा-युक्त 'अतिशयोक्ति' में बहुत चारुता होती है; अन्य अलंकारमात्र ही होते हैं। क्योंकि अतिशयोक्ति सभी अलंकारों में स्वीकार की जा सकती है, इसलिए यह उनसे अभिन्न सर्वालंकार-रूप मानी जा सकती है।" अभिनवगुप्त के व्याख्यानुसार अतिशयोक्ति सब अलंकारों का सामान्य लक्षण अथवा रूप है (सर्वालंकार सामान्य-रूपम्), अथवा जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है, यह उनका प्राण है (प्राणत्वेनावतिष्ठते, पृ०743)। अतिशयोक्ति तथा भामह की 'वक्रोक्ति' का परस्पर घनिष्ठ संबंध स्पष्ट है।

भामह ने अतिशयोक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है—"निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रांत-गोचरम्" (ii. 81)। दंडी ने इस परिभाषा की व्याख्या इस प्रकार की है—'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी' (ii. 214)।

1. तत्रातिशयोक्तिरयमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात् तस्य चारुत्वातिशययोग:. अन्यस्य त्वलंकारमात्रत्वेति । सर्वालंकारशरीर-स्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगंतव्य: ।

अलंकारों की 'वक्रता' का 'अतिशय' वस्तुत: इस 'लोकातिक्रांत-गोचरता' में ही होता है। अभिनवगुप्त की तत्संबंधी व्याख्या से यह बात स्पष्ट हो जाती है ('लोचन' पृ० 208)—'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।' इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भामह के कथनानुसार लोकोत्तीर्ण अथवा विशिष्ट अभिव्यक्ति 'वक्रता' को लक्षित करती है (यही कुंतक की 'भंगि' अथवा 'विच्छित्ति' है)। अभिधा से भिन्न, काव्याभिव्यक्ति का यही गुण सौंदर्य अथवा वैचित्र्य का द्योतक है। कुंतक ने इसी विचार को लेकर 'वैचित्र्य' अथवा 'विच्छित्ति' के विशिष्ट सिद्धांत का विकास किया। उन्होंने 'विच्छिति' को 'वक्रता' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। शब्द तथा अर्थ पर आश्रित विच्छित्ति ही सभी अलंकारों का आधार होती है; अन्य अलंकार इसी के विभिन्न रूप होते हैं; इसी विच्छित्ति के द्वारा कवि सामान्य शब्द को लोकोत्तर-विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है।

क्योंकि इस सिद्धांत में 'वक्रोक्ति' अथवा 'अलंकार' का बड़ा महत्त्व है, इसलिए विशिष्ट काव्यालंकारों में रस को भी सम्मिलित कर लेना आवश्यक है। वास्तव में भामह ने रस का निर्देश करने के लिए 'रसवत्' अलंकार, और यदि इस संबंध में उद्भट तथा भामह की सहमति स्वीकार कर ली जाए तो 'प्रेयस' तथा 'ऊर्जस्वी' अलंकार भी, रस के ही वाचक हैं। भामह ii. 85 के अंतर्गत 'विभाव्यते' शब्द की शास्त्रीय व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने 'वक्रोक्ति' को रस तथा अलंकार दोनों का उद्गम सिद्ध करने का यत्न किया है। इसमें कोई असाधारण बात नहीं है, टीकाकार ने व्यर्थ प्रयास किया है। परवर्ती सिद्धांतों में 'व्यंग्यार्थ' अथवा 'ध्वनि' का बड़ा महत्व है, किंतु भामह ने स्पष्ट रूप में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं किया है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि उन्हें किसी प्रकार के व्यंग्यार्थ का ज्ञान नहीं था। उन्होंने पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा समासोक्ति-जैसे अलंकारों की परिभाषाएँ दी हैं। ये सब अलंकार व्यंग्याश्रित होते हैं। उदाहरण-स्वरूप पर्यायोक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते' (iii. 8)। उद्भट ने इस परिभाषा का इस प्रकार विस्तार किया है—"वाच्य-वाचक-वृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना' जिसमें 'अवगम्यमान अर्थ' स्पष्ट रूप में लक्षित होता है।[1] आनंदवर्धन की तत्संबंधी आलोचना से भी ऐसा ही सूचित

---

1. इस अलंकार के संबंध में रुय्यक की टिप्पणी से तुलना कीजिए। भामह द्वारा 'समासोक्ति', ii. 79 की परिभाषा भी देखिए।

होता है। वे इससे सहमत नहीं हैं कि भामह का 'पर्यायोक्त' अलंकार मुख्यत: लक्ष्यार्थ का वाचक है, क्योंकि 'पर्यायोक्त' में अभिधार्थ केवल गौण नहीं है पृ० 39-40)। आनंदवर्धन ने यह भी कहा है कि उद्भट ने विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है कि अभिधाश्रित 'रूपक' जैसे अलंकारों में कभी-कभी लक्ष्यार्थ भी हो सकता है। ध्वनि के आचार्यों ने इसे 'अलंकार-ध्वनि' नाम से सूचित किया है। इस प्रकार, ध्वनि-सिद्धांत के महान् व्याख्याता के मतानुसार, भामह तथा उद्भट (तुलना कीजिए, 'लोचन' पृ० 10), ध्वनि के 'अभाव-वादी' नहीं हैं (जैसा कि मल्लिनाथ ने पृ० 24 पर गलती से ऐसा माना है), अपितु वे 'अंतरभाववादी' हैं, जिनके मतानुसार ध्वनि भी काव्य का एक अंग है। इस विषय पर चर्चा करते हुए प्रतीहारेंदुराज ने आनंदवर्धन से अपनी सहमति प्रकट की है; क्योंकि उनके अनुसार ध्वनि का, जिसे किसी मतविशेष में काव्य की आत्मा कहा गया है, आद्य आचार्यों ने पृथक् रूप से इसलिए विवेचन नहीं किया, क्योंकि उन्होंने ध्वनि को एक अलंकार माना है (पृ० 76)। ईसी प्रकार, जगन्नाथ का कथन है (पृ० 414-15) कि यद्यपि ध्वनिकार के भी पूर्ववर्ती उद्भट इत्यादि आचार्यों ने कहीं भी ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं किया है, इस आधार पर यह मान लेना कि वे ध्वनि के संकलपना-विचार से अनभिज्ञ थे, अनुचित है, क्योंकि उन्होंने पर्यायोक्ति, समासोक्ति, व्याजस्तुति तथा अप्रस्तुत-प्रशंसा-जैसे अलंकारों की अपनी परिभाषाओं में ध्वनि के कुछ भेद परिलक्षित किए हैं। रुय्यक के सामान्य कथन (पृ० 3) से भी ऐसा ही सूचित होता है। उनके अनुसार भामह, उद्भट इत्यादि प्राचीन आचार्यों ने अलंकार के लक्ष्यार्थ को अभिधार्थ के शोभाकर के रूप में स्वीकार किया है, अथवा उन्होंने ध्वनि को पृथक् न मानते हुए इसे रस के समान अभिधार्थ का गौण अंग माना है। संभवत: भामह के 'पर्यायोक्ति' की परंपरा का पालन करते हुए कनिष्ठ वाग्भट ने (पृ० 36-37) इस अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की है—'ध्वनिता-भिधानम्', तथा 'ध्वनितोक्ति' की अधिक जानकारी के लिए आनंदवर्धन के ग्रंथ को निर्दिष्ट किया है। हेमचंद्र ने ध्वनि को संक्षेप में 'व्यंग्यस्योक्ति:' कहा है। उपर्युक्त विवेचन से यह सूचित होता है कि भामह तथा उद्भट-जैसे प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों में भी ध्वनि-संबंधी विचारों को खोजने का प्रयत्न किया गया है, ताकि इसकी प्राचीन प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके, किंतु यह संभव प्रतीत होता है कि उक्त प्राचीन आचार्य, सामान्य रस की तरह सामान्य लक्ष्यार्थ की विचार-संकल्पना से अनभिज्ञ नहीं थे, यद्यपि उनके तत्संबंधी विचार स्पष्ट नहीं थे। उन्होंने पृथक् रूप में इसकी कहीं चर्चा नहीं की और इसे कुछ काव्यालंकारों का एक अंगमात्र मान लिया।

(२)
उद्भट

परवर्ती-कालीन लेखकों में केवल कुंतक ने ही भामह के 'वक्रोक्ति-सिद्धांत का विवेचन किया हैं। कुंतक 'वक्रोक्तिजीवितम्' के रचयिता थे; उनके ग्रंथ के अतिरिक्त 'वक्रोक्ति' का अन्य ग्रंथों में कहीं निरूपण नहीं किया गया है। भामह के प्राचीनतम मतानुयायी, उद्भट ने कहीं भी वक्रोक्ति का उल्लेख नहीं किया है, यद्यपि उनके उपलब्ध किंतु संक्षिप्त 'अंलकार-संग्रह' की अपेक्षा उनके 'भामहविवरण' अथवा 'काव्यालंकार वृत्ति'[1] नामक लुप्त ग्रंथ से विचारों का अधिक व्यापक ज्ञान प्राप्त हो सकता था। 'अलंकारसंग्रह' में, जैसा कि उसके नाम से सूचित होता है, अनुप्रास के तीन भेदों सहित इकतालीस अंलकारों की पद्यमय परिभाषाएँ हैं। उनके काव्य- संबंधी विचारों से सामान्य समस्याओं पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

उद्भट का अलंकार-निरूपण भामह के निरूपण के समान ही है। जिस क्रम में भामह ने अलंकारों का वर्णन किया है, उद्भट ने भी उसी क्रम को अपनाया है, यहाँ तक कि उन्होंने भामह की अनेक परिभाषाओं का अक्षरशः उद्धरण किया है। उद्भट ने कुछ विशिष्ट अलंकारों के ऐसे भेद किए हैं, जो संभवतः भामह को ज्ञात नहीं थे। उद्भट ने 'अतिशयोक्ति' के चार रूप बताए हैं; भामह ने उनका कहीं उल्लेख नहीं किया है; किंतु ये चार भेद परवर्ती लेखकों द्वारा स्वीकार किए गए अतिशयोक्ति के पाँच में से चार भेदों से काफी मिलतें-जुलते हैं। भामह ने अनुप्रास के केवल दो भेद बताएँ हैं (ii. 6-8) अर्थात् ग्राम्यानुप्रास तथा लाटीयानुप्रास। प्रतीहारेंदुराज के विचार में अनुप्रास का ऐसा वर्गीकरण 'ग्राम्या' तथा 'उपनागरिका' नामक दो वृत्तियों

1. देखिए खंड 1, पृ० 44. उद्भट के उपलब्ध ग्रंथ के छह अध्यायों में केवल काव्यालंकारों का निरूपण तथा वर्गीकरण है। क्रम इस प्रकार है:
प्रथम अध्याय—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास (तीन वृत्तियों सहित), लाटानुप्रास, रूपक, दीपक (तीन भेद), उपमा, प्रतिबस्तूपमा।
द्वितीय अध्याय—आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति (चार भेद)।
तृतीय अध्याय—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा + स्वभावोक्ति।
चतुर्थ अध्याय—प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (दो भेद), श्लेष।
पंचम अध्याय—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, शंकर (चार भेद), उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति।
षष्ठ अध्याय—संदेह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग (हेतु) तथा दृष्टांत (दृष्टांत)।

को अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार कर लेने के कारण किया गया है। अभिनवगुप्त के कथनानुसार, मुख्य रूप से शब्दविन्यास पर आधारित अनुप्रासाश्रित इन वृत्तियों को सबसे पहले उद्भट ने स्वीकार किया था तथा आनंदवर्धन ने तत्संबंधी जानकारी उद्भट से प्राप्त थी की (पृ० 5-6)। रुद्रट ने वृत्तियों के पाँच भेद बताए हैं (ii. 19. इत्यादि)। मम्मट तथा रुय्यक-जैसे परवर्ती आचार्यों ने उद्भट के मत को स्वीकार किया है, किंतु उन्होंने रस के दृष्टिकोण से ही [1] इस विषय का विवेचन किया है। उपमा के व्याकरणाश्रित भेदों का (भामह ने ii. 31-33 में इसका संकेत मात्र ही किया है) सबसे पहले उद्भट ने ही उल्लेख किया है (i. 35-40)। आगे चलकर काव्य-सिद्धांत में इन्हीं भेदों को मान्यता दी गई। यह सत्य है कि इस ग्रंथ में उद्भट ने, भामह की तरह, एक पृथक् अध्याय में शब्द-शुद्धता के विषय का विवेचन नहीं किया है, न ही उन्होंने उन शब्द-शक्तियों से संबधित सिद्धांतों का उल्लेख किया है, जिन्हें पहले भामह ने निर्दिष्ट किया था (vi. 6 इत्यादि), फिर भी शब्द के व्याकरणात्मक विश्लेषण का ध्यान रखते हुए उन्होंने वत्, क्यच, क्य, क्विप्, कल्पप् इत्यादि सादृश्यबोधक प्रत्ययों पर आश्रित उपमा के विविध उपभेदों की विस्तार-सहित चर्चा की है। परवर्ती साहित्य में यह विश्लेषण लगभग प्रामाणिक मान लिया गया।

विशिष्ट अलंकारों की परिभाषाओं तथा उनकी व्याख्याओं में भी कुछ भेद दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए, उद्भट का 'तुल्ययोगिता' अलंकार मम्मट के 'तुल्ययोगिता' के अनुरूप है, किंतु भामह का 'तुल्ययोगिता' अलंकार संभवतः मम्मट के 'दीपक' के समान है। भामह ने 'दृष्टांत' तथा 'काव्यलिंग' (अथवा, क्रमशः, 'काव्यदृष्टांत' तथा 'काव्यहेतु') नामक अलंकारों को छोड़ दिया है, किंतु उद्भट ने पहली बार उनकी सोदाहरण परिभाषा दी है। केवल उद्भट ही ऐसे प्राचीन लेखक हैं, जिन्होंने 'यमक' की कहीं भी चर्चा नहीं की है। भामह ने सहोक्ति, उपमा तथा हेतु अलंकारों में 'श्लेष' का भाव माना है तथा दंडी के कथनानुसार सभी अलंकारों में श्लेष विद्यमान रहता है और श्लेष से ही उनकी शोभा-वृद्धि होती है। शब्द तथा अर्थ पर आश्रित श्लेष के भेदों तथा श्लेषपरक अन्य अलंकारों और श्लेष के परस्पर संबंध की समस्या के प्रसिद्ध विवाद का श्रीगणेश रुय्यक के कथनानुसार उद्भट के समय में ही

---

1. ये वृत्तियाँ मुख्यतः अनुप्रास को परिलक्षित करती हैं; इनका भरत की चार काव्य-वृत्तियों से कोई संबंध नहीं है (vi, 25; xx, 24 इत्यादि)।

हुआ था। उद्भट का कथन है कि जहाँ संसृष्टि होती है, वहाँ श्लेष अन्य अलंकारों की अपेक्षा अधिक पुष्ट होता है, यहाँ तक कि अन्य अलंकार अग्राह्य हो जाते हैं। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अलंकार-क्षेत्र में उद्भट ने रस की परिभाषा करते हुए उसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, यद्यपि सामान्य काव्य में उन्होंने रस को उतना महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने शास्त्रीय शब्दों 'भाव' तथा 'अनुभाव' तक का प्रयोग किया है; भामह के ग्रंथ में इनका कहीं उल्लेख नहीं है। भामह, भट्टि, दंडी तथा वामन ने दो अथवा अधिक पृथक् अलंकारों की संसृष्टि का उल्लेख किया है; किंतु उद्भट ने संसृष्टि के उन दो भेदों का उल्लेख नहीं किया है, जिन्हें दंडी ने निर्दिष्ट किया था (ii. 360); उन्होंने स्पष्ट रूप में संसृष्टि को संकर से भिन्न बताते हुए (पृ० 63 तथा 72) संकर के चार भेद कहे हैं।[1]

पहले जो कुछ कहा गया है, वह शास्त्र की प्रगति का ही द्योतक है, मार्ग-विचलन का नहीं। इससे परिश्रम-साध्य वैचारिक क्रिया-कलापों के रचना-कार्य का विकास ही सूचित होता है। इस काल में अलंकारों के सूक्ष्म भेदों की मीमांसा की गई तथा तदनुसार उनका वर्गीकरण किया गया; किंतु मौलिक सिद्धांत अक्षुण्ण बने रहे। परवर्ती लेखकों ने भामह को छोड़कर उद्भट को ही इस सिद्धांत का प्रामाणिक आचार्य माना है। काव्य-सिद्धांत के विभिन्न मत-मतांतरों में उद्भट के विचारों का बड़ा आदर है। निस्संदेह, प्राचीन होने के कारण भामह का आदर किया जाता है, किंतु कालांतर में उनके टीकाकार उद्भट ने अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। परवर्ती आचार्यों ने उद्भट के ग्रंथ को ही प्रामाणिक-सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया। आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त तथा रुय्यक के कथनानुसार, उपमा-भेद अथवा श्लेष से संबंधित कुछ परवर्ती चिंतन तथा तत्संबंधी वाद-विवाद उद्भट के समय से ही आरंभ हुए थे। संभवतः उद्भट (तथा दंडी एवं रुद्रट) ने काव्यालंकारों के सूक्ष्म विश्लेषण तथा भेद-निरूपण के संबंध में आचार्यों का मार्गदर्शन किया। परवर्ती सिद्धांतों में इस विश्लेषण तथा भेद-निरूपण का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। मम्मट

---

1. वामन ने 'संसृष्टि' का क्षेत्र सीमित कर दिया है और दंडी (ii. 258-60) के विपरीत उसके केवल दो भेद स्वीकार किए हैं, 'उपमारूपक' तथा 'उत्प्रेक्षावयव'। दंडी ने 'संकर' का उल्लेख नहीं किया है। जैसा कि प्रतीहारेंदु ने सूचित किया है, संभवतः दंडी के संसृष्टि का 'अंगांगिभाव-संस्थान' नामक भेद उद्भट के संकर के 'अनुग्राह्यानुग्राहक' भेद के अंतर्गत है।

तथा रुय्यक काव्यविद्या के दो महत्त्वपूर्ण परवर्ती आचार्य रहे हैं। उन्होंने अधिकांश अलंकारों की परिभाषाओं को अंतिम रूप देकर कुछ सामान्य सिद्धांतों के अनुसार उनका विश्लेषण तथा पूर्वापर क्रम निश्चित किया तथा तत्संबंधी सिद्धांत को व्यवस्थित किया। मम्मट तथा रुय्यक दोनों ही उद्भट के उपदेश से प्रभावित थे। उनकी काव्य-विद्या संबंधी मीमांसा में उद्भट ने उनका मार्ग-दर्शन किया था। अतएव उद्भट का प्रभाव स्पष्ट है। यद्यपि कुंतक ने भामह के उपदेश के एक अंश को अपने 'वक्रोक्ति' सिद्धांत का आधार मानकर भामह के उपदेश की व्याख्या की है, तथापि भामह की परंपरा को प्रचलित रखने तथा उनके उपदेश की व्यवस्थित रूप में व्याख्या करने का श्रेय उद्भट को ही प्राप्त है। अपने समकालीन वामन के साथ उद्भट को काव्य-विद्या के काश्मीर-मत का प्रवर्तक मान लेना कोई अतिशयोक्ति नहीं है। आनंदवर्धन इसी काश्मीर-मत के सर्वोत्तम परिणाम थे। जिस समय दंडी के उपदेश के आधार पर आचार्य वामन रीति-सिद्धांत को व्यवस्थित करने में व्यस्त थे, उसी समय उद्भट ने काश्मीर में काव्य-विद्या में अलंकार-सिद्धांत का प्रतिष्ठापन किया था। इन दोनों आचार्यों ने मिलकर आनंदवर्धन का मार्गदर्शन किया।

प्रतीहारेंदुराज ने जिस प्रकार उद्भट के मत की व्याख्या की है, वह आंशिक रूप में ही उद्भट के वास्तविक आशय को परिलक्षित करती है। कारण यह है कि प्रतीहारेंदुराज उद्भट के एक सौ वर्ष पश्चात् हुए हैं और उन्होंने प्राय: उद्भट के पाठ से अपने विचारों को लक्षित करने का प्रयत्न किया है। उद्भट ने कहीं भी प्रत्यक्ष रूप में 'ध्वनि' की चर्चा नहीं की है, यद्यपि जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उन्हें लक्षितार्थ का ज्ञान था, किंतु प्रतीहारेंदु-राज ने ध्वनि का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उद्भट ने अपने अलंकार-विवेचन में 'ध्वनि' को भी स्थान दिया है। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि प्रतीहारेंदुराज वामन के रीति-मार्ग मत से बहुत प्रभावित थे। 'गुण' तथा 'अलंकार' (पृ० 75 इत्यादि) के परस्पर संबंध का निरूपण करते हुए प्रतिहारेंदुराज ने वामन के मत का उल्लेख ही नहीं किया है, अपितु वामन की व्याख्या का अनुसरण भी किया है। भामह ने 'गुण' तथा 'अलंकार' के परस्पर भेद को कोई महत्त्व नहीं दिया, उद्भट का भी यही मत था, जैसा कि रुय्यक ने स्पष्ट रूप में कहा है—'उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायश: साम्यमेव सूचितम्' (पृ० 7), हेमचंद्र का भी यही आशय है—तस्माद् गडरिका-प्रवाहेण गुणालंकार-भेद इति भामह-विवरणे · · ·

भट्टोद्भटोऽभ्यधात्' (पृ० 17)। इसके विपरीत, वामन ने रीति को अधिक महत्त्व देते हुए गुण तथा अलंकार के परस्पर भेद का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। प्रतीहारेंदुराज ने उद्भट पर वामन के विचारों को लादने का प्रयत्न किया है। भामह ने रीति का केवल प्रसंगवश उल्लेख किया था, उद्भट ने उसका कहीं वर्णन नहीं किया है। उद्भट ने तीन वृत्तियों का कथन किया है। वृत्तियाँ अनुप्रास अलंकार पर आश्रित हैं, किंतु मोटे तौर से ये वामन द्वारा निरूपित तीन वृत्तियों के अनुरूप हैं और इन्हीं की तरह उन तीन गुणों के अनुरूप हैं, जिनका निरूपण आनंदवर्धन तथा उनके अनुयायियों ने किया है।[1] यह कहना कठिन है कि उद्भट की तीन वृत्तियों तथा वामन की तीन रीतियों अथवा आनंदवर्धन के तीन गुणों का कार्यक्षेत्र समान है। अभिनवगुप्त के कथनानुसार (पृ० 134) गुण 'संघटना' के लक्षण हैं, किंतु यह संघटना आचार्य वामन की रीति के तुल्य नहीं है।[2] इसी प्रकार प्रतीहारेंदुराज ने रस को काव्य की 'आत्मा' कहा है (पृ० 77)। उद्भट रस के महत्त्व से पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने रस को कुछ विशिष्ट अलंकारों के सहायक गौण अंग के रूप में ही स्वीकार किया है।

---

1. "रीतेर्हि गुणेष्वेव पर्यवसायिता", 'लोचन' पृ० 231.
2. आनंदवर्धन ने 'संघटना' के तीन भेद बताए हैं, असमासा, दीर्घसमासा तथा मध्यसमासा। ये भेद समस्त पदों के अभाव अथवा उनके न्यूनाधिक्य पर निर्भर हैं। विशिष्ट प्रकार की संघटना विशिष्ट रस के उपयुक्त होती है, किंतु सभी स्थानों पर ऐसा होना आवश्यक नहीं है। आनंदवर्धन का मत है कि संघटना तथा गुणों के लक्षण समान नहीं होते, न ही गुण संघटनाश्रित होते हैं। संघटना की उपयुक्तता अथवा औचित्य रस, वक्ता तथा विषय के आश्रित होती है (पृ० 133-5)। इस विषय में ZDMG, lvi, 1952 पृ० 779 पा० टि० 6 तथा 'सम प्राब्लम्ज़' के पृ० 91-94 पर सुशील कुमार डे का 'आनंदवर्धन ऑन संघटना' शीर्षक लेख देखिए।
3. इस विषय पर आगे छठे अध्याय में चर्चा की जाएगी। राजशेखर ने उद्भट तथा औद्भटों को कुछ अन्य सिद्धांतों के प्रवर्तक भी कहा है, किंतु उद्भट के विद्यमान ग्रंथ में इनका उल्लेख नहीं मिलता (1) कि वाक्य के तीन अभिधा-व्यापार होते हैं (वाक्यस्य त्रिधाभिधा-व्यापार इति औद्भटाः), (2) कि अर्थ के दो भेद होते हैं, 'विचारित-सुस्थ' तथा 'अविचारित-रमणीय'। विचारित-सुस्थ अर्थशास्त्रों में तथा अविचारित-रमणीय अर्थ काव्यों में होता है। 'व्यक्तिविवेक-व्याख्यान' के पृ० 4 पर उद्भट को ऐसे ही सिद्धांत का प्रवर्तक कहा गया है, किंतु उद्भट के ग्रंथ में उसका भी उल्लेख नहीं मिलता। किसी विशिष्ट मत को पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम से पूजार्थ संबंद्ध कर देने की प्रथा परवर्ती टीकाकारों में प्रचलित थी। ZDMG, lxvi, 1912 में सुक्थंकर ने इस प्रथा की चर्चा की है। उदाहरण के लिए, प्रतीहारेंदुराज ने इस विचित्र मत को भरत के नाम से

(३)

रुद्रट

रस-सिद्धांत से प्रभावित होने पर भी रुद्रट वास्तव में अलंकार-सिद्धांत के समर्थक थे। उन्होंने रसों को मान्यता दी है और दो लंबे-लंबे अध्यायों में इसी विषय का विवेचन किया है, किंतु जैसा कि आगे बताया जाएगा, उन्होंने रस को न्यूनाधिक बाह्य महत्त्व ही दिया है। इसके विपरीत, काव्य में अलंकार को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुए उन्होंने अपने ग्रंथ के अधिकांश, अथवा दस, अध्यायों में अलंकारों की ही चर्चा की है। भामह तथा उद्भट के ग्रंथों के अनुरूप, स्वयं उनके ग्रंथ का नाम ही 'काव्यालंकार' है। उनके टीकाकार, नमिसाधु के कथनानुसार (पहले अध्याय के दूसरे श्लोक की टीका), काव्य के अंग-स्वरूप काव्यालंकारों की विशिष्ट मीमांसा होने के कारण ही ग्रंथ को ऐसा नाम दिया गया था।

अलंकार के अन्य आचार्यों की तरह रुद्रट ने भी रीति अथवा उसके गुणों को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। दंडी की दो अथवा वामन की तीन रीतियों के स्थान पर रुद्रट ने निस्संदेह पांचाली, लाटीया, गौडीया तथा वैदर्भी नामक चार रीतियों का उल्लेख किया है, किंतु उनका तत्संबंधी विवेचन रीति-सिद्धांत से प्रभावित नहीं है। उनके कथनानुसार रीति-भेद, लघु, मध्य अथवा आयत समासों के न्यूनाधिक प्रयोग अथवा वैदर्भी के समान समास के सर्वथा अभाव पर निर्भर है। वैदर्भी को इसीलिए सर्वोत्तम रीति माना गया है। यह पहले बताया जा चुका है कि भामह ने ऐसे ही आधार पर रीति के स्थान पर अपने तीन गुणों का भेद-निरूपण किया है। रुद्रट के मतानुसार, रीति, सर्वथा शब्द-विन्यास के निश्चित नियमों अथवा समास पर आश्रित होती है, इसीलिए इसे शब्द की 'समासवती वृत्ति' कहते हैं। रुद्रट ने ध्वनि का कहीं उल्लेख नहीं किया है, न ही वे ध्वनि-शक्ति से परिचित प्रतीत होते हैं, किंतु भामह तथा उद्भट की तरह, उन्होंने पर्याय अथवा पर्यायोक्त-जैसे कुछ अलंकारों तथा भाव अलंकार में लक्षितार्थ को अभिधार्थ के गौण रूप में स्वीकार किया है (vii. 38-41)[1]।

संबद्ध किया है कि व्याकरण इत्यादि विषयक ग्रंथों को काव्य नाम से लक्षित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनमें आवश्यक गुणों का अभाव होता है।

1. रुद्रट द्वारा दिए गए इस अलंकार के दो उदाहरण 'काव्यप्रकाश' में तथा 'लोचन' पृ० 45 पर उद्धृत किए गए हैं। अभिनव ने रुद्रट के भावालंकार को गौण व्यंग्यार्थ का स्पष्ट उदाहरण बताया है। अभिनव का

अलंकारों का सविस्तर विवेचन ही रुद्रट के ग्रंथ की विशेषता है, जिससे ग्रंथ के नाम की उपयुक्तता सिद्ध होती है। अलंकारों का विवेचन विस्तृत और व्यापक ही नहीं, अपितु अलंकार सिद्धांत के पूर्ववर्ती लेखकों से भिन्न तथा विशिष्ट भी है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रुद्रट न केवल उन लेखकों के पश्चात् हुए हैं, वरन् उन्होंने भामह तथा उनके मतानुयायियों से भिन्न परंपरा का अनुसरण किया है। उद्भट के अलंकारों की सीमित संख्या में रुद्रट ने लगभग तीस अतिरिक्त अलंकार बढ़ाए हैं।[1] इनके अतिरिक्त रुद्रट ने मुख्य-मुख्य अलंकारों के अनेक उपभेदों का निरूपण किया

कथन है कि उद्भट ने भावालंकार को प्रेयस् माना है (पृ० 71-72)। यह उल्लेखनीय है कि रुय्यक ने रुद्रट के तत्संबंधी मत की समीक्षा करते हुए कहा है कि रुद्रट ने ध्वनि के आचार्यों द्वारा निरूपित लक्षितार्थ के तीन भेदों को स्वीकार किया है। उनके कथनानुसार रुद्रट ने भाव अलंकार में वस्तु-ध्वनि, रूपक इत्यादि में अलंकार-ध्वनि तथा रसवत् तथा प्रेयस में रस-ध्वनि को लक्षित किया है। किंतु यह कह देना आवश्यक है कि रुद्रट के 'भाव अलंकार' में वस्तु-ध्वनि तो है, किंतु अन्य स्थानों पर पूर्वोक्त कथन लागू नहीं होता। रुद्रट ने रसवत्, प्रेयस् इत्यादि अलंकारों का कहीं भी उल्लेख, परिभाषा अथवा विवेचन नहीं किया है और न ही इस संबंध में रुय्यक द्वारा निर्दिष्ट प्रतीयमान उत्प्रेक्षा का कहीं उल्लेख किया है, यद्यपि अध्याय ix के तेरहवें श्लोक में उन्होंने लक्ष्यार्थ उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण दिया है। इस विषय पर ZDMG, lxxi, 1908 पृ० 295 पा० टि० 5 में जेकबी का कथन देखिए।

1. उद्भट के अलंकारों की संख्या 41 है, उपभेदों को छोड़कर रुद्रट के अलंकारों की संख्या 68 है। रुद्रट के ग्रंथ के सोलह अध्यायों की विषय-सूची इस प्रकार है—(1) काव्यप्रयोजन, कवि के गुण इत्यादि, (2) चार रीतियाँ (पांचाली, लाटीया, गौडिया तथा वैदर्भी), छह भाषाएँ (प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाच, शौरसेनी, अपभ्रंश), तथा पांच शब्दालंकार। अनुप्रास की पाँच वृत्तियों के साथ यहाँ केवल वक्रोक्ति तथा अनुप्रास का ही निरूपण किया गया है। (3) यमक, (4) श्लेष तथा उसके आठ भेद, (5) चित्र, (6) शब्द-दोष, पद-दोष तथा वाक्य-दोष-सहित, (7) अर्थालंकार के चार आधार (वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष) तथा वास्तवाश्रित 23 अलंकार। (8) औपम्याश्रित 21 अलंकार। (9) अतिशयाश्रित 12 अलंकार। (10) श्लेष, शुद्ध तथा संकीर्ण पर आश्रित 12 अलंकार। (11) नौ अर्थ-दोष तथा चार उपमा-दोष। (12) दस रस तथा शृंगार-निरूपण। (13) संभोग-शृंगार इत्यादि। (14) विप्रलंभ-शृंगार तथा उपायस्। (15) अन्य रसों के लक्षण। (16) कथा-आख्यायिका इत्यादि काव्य-ग्रंथों के भेद तथा उनके लक्षण।

है तथा चित्र अलंकार पर पूरा एक अध्याय लिखा है। रुद्रट से पहले दंडी चित्र अलंकार पर चर्चा कर चुके हैं। भामह तथा भरत के अतिरिक्त उद्भट ने भी शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के परस्पर भेद को कहीं स्पष्ट नहीं किया है, यद्यपि चार शब्दालंकारों का पहले तथा तत्पश्चात् अर्थालंकारों का विवेचन दोनों के परस्पर भेद को लक्षित करता है। दंडी ने भी पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए इनके परस्पर भेद को लक्षित किया है, यद्यपि उस भेद को प्रत्यक्ष रूप में कहीं निर्दिष्ट नहीं किया है। इसके विपरीत, वामन की तरह रुद्रट ने शब्द तथा अर्थ के महत्त्व के अनुसार, दो वर्गों में अलंकारों का विभाजन किया है। सामान्य अथवा विशिष्ट लक्षणों के आधार पर प्रत्येक अलंकार को एक निश्चित जाति के अंतर्गत निर्धारित करने के लिए उन्होंने पहली बार एक विशिष्ट सिद्धांत अथवा आधार प्रस्तुत किया है। शब्दालंकारों के पाँच मुख्य भेद बताए गए हैं, अर्थात् वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र, अनुप्रास तथा यमक अर्थालंकारों के जाति-भेद उन्होंने अपने ही सिद्धांतों के अनुसार निर्धारित किए हैं अर्थात् वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष।[1] अर्थालंकारों के अंतर्गत इन अलंकारों का उल्लेख है :

(1) **वास्तव**—सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मिलित तथा एकावली (23 अलंकार)।

(2) **औपम्य**—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थांतरन्यास, उभयन्यास, भ्रांतिमत्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टांत, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य तथा स्मरण (21 अलंकार)।

(3) **अतिशय**—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात तथा हेतु (12 अलंकार)।

(4) **श्लेष**—दो भेद, शुद्ध तथा संकीर्ण। अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र,

---

1. रुद्रट से पहले वामन ने अलंकारों का औपम्याश्रित जातिभेद-निरूपण किया है। वामन के अनुसार सभी अलंकार 'उपमा-प्रपंच' हैं, अर्थात् सभी अलंकार उपमा के ही विभिन्न रूप हैं। रुद्रट के मत में सभी अलंकार उपमा को लक्षित नहीं करते। वामन को छोड़कर सभी आचार्यों का यही मत है। केवल वामन ही उक्त मत के प्रतिपादक हैं।

याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास, शुद्ध-श्लेष के तथा संकीर्ण-श्लेष के दो भेद हैं (10 + 2 = 12 अलंकार)।

स्वयं दंडी ने अलंकारों की एक बहुत बड़ी संख्या का वर्णन किया है।[1] किंतु उनका कहना है कि मामूली से भेद के कारण ही यदि एक अलंकार को दूसरे से भिन्न मान लिया जाए तो अलंकारों के असंख्य रूप अथवा भेद हो जाएंगे। यह बात आंशिक रूप में रुद्रट पर भी लागू होती है, क्योंकि उनका अलंकार-संबंधी सामान्य विवेचन तथा अलकारों की परिभाषाओं में यही दोष है। अलंकारों के इस जाति-भेद अथवा रूप-भेद का एक परिणाम यह है कि एक ही अलंकार विभिन्न जातियों के अंतर्गत दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ, वास्तवाश्रित तथा औपम्याश्रित, सहोक्ति तथा समुच्चय अलंकारों के दो रूप हैं, इसी प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार का औपम्य तथा अतिशय के अंतर्गत दो स्थानों पर उल्लेख किया गया है। परवर्ती लेखकों ने रुद्रट के कुछ अलंकारों का उल्लेख नहीं किया है, कुछ लेखकों ने उनके अलंकारों के नाम बदल दिए हैं अथवा उनमें थोड़ा परिवर्तन कर दिया है।[2] परवर्ती लेखक इस विषय में उद्भट अथवा दंडी की रूढ़िगत व्याख्या से अधिक प्रभावित थे, किंतु मम्मट जैसे परवर्ती आचार्यों ने रुद्रट के अलंकार-विषयक विश्लेषण तथा परिभाषाओं को अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया है[3], इसलिए रुद्रट की तत्संबंधी विशिष्टता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अलंकार-क्षेत्र में इन परवर्ती लेखकों ने भामह तथा उद्भट की अपेक्षा उन्नति के अतिरिक्त विशिष्ट विवेचन-स्वातंत्र्य लक्षित किया है, जिसके फलस्वरूप अनेक विशिष्ट अलंकारों की विविध प्रकार से व्याख्या की गई है।

---

1. अर्थात्, दूसरे अध्याय में 35 तथा तीसरे अध्याय में यमक, चित्र तथा प्रहेलिका।
2. यथा, वाग्भट के 'काव्यानुशासन' को छोड़कर परवर्ती लेखकों ने रुद्रट के भाव, मत, साम्य तथा पिहित अलंकारों के लक्षण नहीं दिए हैं। मम्मट ने उनके हेतु को स्वीकार नहीं किया है। कनिष्ठ वाग्भट ने रुद्रट के जिन 'अवसर' तथा 'पूर्व' का उल्लेख किया है, वे क्रमशः मम्मट (तथा उद्भट) के 'उदात्त' की दूसरी जाति तथा मम्मट के 'अतिशयोक्ति' की चौथी जाति के समान हैं।
3. ZDMG, lxvi, 1912 पृ० 478 पर सुक्थंकर ने मम्मट पर रुद्रट के प्रभाव की चर्चा की है। नोबल के उपर्युक्त Beitrage में भी कई स्थानों पर इस विषय की चर्चा है। इसके विपरीत, यद्यपि रुय्यक ने स्वयं मम्मट का अनुकरण किया है, फिर भी वे उद्भट से अधिक प्रभावित हैं।

शब्दालंकारों के अंतर्गत श्लेष तथा काकु पर आश्रित रुद्रट की वक्रोक्ति उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न है। रुद्रट के पश्चात् कुछ लेखकों ने काकु पर आश्रित वक्रोक्ति को अस्वीकार किया है (यथा, पृ० 31 राजशेखर तथा पृ० 234 पर हेमचंद्र ने), क्योंकि यह वक्रोक्ति पाठ-उच्चारण की विशिष्टता पर ही निर्भर रहती है (पाठ-धर्मत्वात्), किंतु वामन की अलंकाराश्रित, अर्थाश्रित वक्रोक्ति के स्थान पर रुद्रट की तत्संबंधी व्याख्या को ही मान्यता प्राप्त हुई। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति की एक व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की थी, किंतु रुद्रट की वक्रोक्ति पर वह परिभाषा लागू न हो सकी और परवर्ती साहित्य में मम्मट इत्यादि आचार्यों ने रुद्रट की ही वक्रोक्ति को एकमात्र वक्रोक्ति अलंकार के रूप में स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त रुद्रट का अनुप्रास-संबंधी जातिभेद उद्भट से कुछ भिन्न है। रुद्रट ने अनुप्रास को पाँच वृत्तियों, अर्थात् मधुरा, परुषा, प्रौढ़ा, ललिता तथा मुद्रा पर आश्रित माना है, किंतु उद्भट ने वृत्यनुप्रास पर ही आश्रित तीन वृत्तियों, अर्थात् परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या अथवा कोमला को ही स्वीकार किया है। इस विषय में परवर्ती आचार्यों ने उद्भट का ही मतानुसरण किया है। यद्यपि उद्भट से पूर्व भरत तथा भामह ने यमक का विवेचन किया था तथा दंडी ने इस अलंकार की अपने ग्रंथ में बड़ी व्यापक व्याख्या की है, तथापि उद्भट ने उसका कहीं वर्णन नहीं किया है। अलंकारों के विवेचन की व्यापकता के दृष्टिकोण से रुद्रट का नाम दंडी के पश्चात् ही आता है, यद्यपि तत्संबंधी जाति-भेद-निर्धारण में दोनों में कुछ अंतर है। यद्यपि माघ के कथनानुसार (xix. 41) महाकाव्य में चित्र अलंकार का प्रयोग आवश्यक माना जाता था, तथापि भरत, भामह, उद्भट ने इस अलंकार का कहीं उल्लेख नहीं किया है। दंडी ने चित्र के कुछ रूपों का वर्णन किया है, किंतु रुद्रट की तत्संबंधी व्याख्या अधिक व्यापक है। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि आचार्य मम्मट ने शब्दा-डंबरको अधिक महत्त्व नहीं दिया, फिर भी चित्र अलंकार की व्याख्या करते हुए उन्होंने रुद्रट के लगभग सभी उदाहरणों को उद्धृत किया है। शब्दालंकारों के दोषों का विवेचन करते हुए रुद्रट ने अनेक ऐसे स्थलों का उल्लेख किया है (vi. 29-33), जहाँ पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता। उद्भट ने जैसा कि नमिसाधु ने भी कहा है, ऐसे सभी स्थलों को पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार के अंतर्गत ले लिया। उद्भट ने श्लेष को अर्थालंकार मानकर उसके दो भेद किए हैं, शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष, जो परवर्ती लेखकों के क्रमशः अभंग-श्लेष तथा सभंग श्लेष के अनुरूप हैं। इसके विपरीत, रुद्रट ने श्लेष को शब्दालंकार

कहा है तथा उसे श्लेषाश्रित अर्थालंकार से भिन्न बताते हुए (ii. 13) दसवें अध्याय में पृथक् रूप से उसकी व्याख्या की है और उसे बारह स्वतंत्र अलंकारों का कारण बताया है। इसके विपरीत, शब्दाश्रित श्लेष के वर्ण, लिंग, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति तथा वचन के अनुसार सूक्ष्म रूप-भेद किए हैं (iv. 12)। श्लेष शब्दालंकार है अथवा अर्थालंकार, इस विषय को लेकर परवर्ती आचार्यों में बड़ा मतभेद रहा है, किंतु रुद्रट ने स्वयं को उससे अलग ही रखा।

भामह तथा मेधावी के सात तथा वामन[1] के छह उपमा-दोषों के स्थान पर, रुद्रट ने केवल चार उपमा-दोषों अर्थात् वैषम्य, असंभव, अप्रसिद्धि तथा सामान्य शब्दभेद का ही उल्लेख किया है (xi. 24)। सामान्य शब्दभेद दोष के अंतर्गत लिंग, वचन, काल, कारक तथा विभक्ति पर आश्रित भेदों के कारण उपमेय तथा उपमान पर आधारित समान-धर्म शब्द के परिवर्तन के सभी रूप सम्मिलित हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि उद्भट ने व्याकरणाश्रित उपमा के भेदों का सूक्ष्म विवेचन किया है, किंतु रुद्रट ने उनका कहीं वर्णन नहीं किया। उन्होंने इन भेदों को सामूहिक रूप में समासोपमा तथा प्रत्ययोपमा के अंतर्गत ही रखा है। भामह ने हेतु को अलंकार के रूप में स्पष्टतया अस्वीकार किया है, यद्यपि दंडी ने इसे काव्यलिंग (कारक-हेतु) तथा अनुमान (ज्ञापक-हेतु) के अंतर्गत मानते हुए 'वाचामुत्तमभूषणं' कहा है। उद्भट ने केवल काव्यलिंग को स्वीकार किया है, इसे काव्यहेतु नाम से लक्षित करते हुए दृष्टांत से भिन्न बताया है। उद्भट ने दृष्टांत को काव्य-दृष्टांत नाम से लक्षित किया है। रुद्रट ने (vii. 82) पहली बार दृष्टांत की परिभाषा तथा उसके लक्षण निर्धारित किए हैं, जिन्हें काव्यविधा में अंतिम रूप से मान्यता प्राप्त हुई है। यहाँ अन्य कोई उदाहरण देना अनावश्यक है, किंतु ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह पर्याप्त रूप में सूचित होता है कि विशिष्ट अलंकारों तथा तत्संबंधी जाति-भेद में रुद्रट तथा पूर्ववर्ती आचार्यों में विशिष्ट अलंकारों और उनके अवांतर भेदों की प्रकृति और क्षेत्र के विषय में काफी मतभेद था। इससे भी अधिक महत्त्व इस बात में है कि इनके अंतर को, जो मौलिक रूप में विद्यमान है, उनको सरलता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। अतएव, यह अनुमान किया जा सकता है कि अत्यंत प्रतिभाशाली रुद्रट ने अलंकारविषयक रूपभेदों तथा परिभाषाओं की विशिष्ट

---

1. प्रथम खंड, पृ० 57, पा० टि० 1 देखिए।

पद्धति का स्वयं आविष्कार किया अथवा भामह तथा भामह के मतानुयायियों से किंचित भिन्न विचार-परंपरा का अनुसरण किया, किंतु जहाँ तक सामान्य अलंकार-सिद्धांत का प्रश्न है, इन दोनों आचार्यों ने एक ही मत का अनुसरण किया है।

यद्यपि रुद्रट के ग्रंथ में अलंकारों की एक बड़ी संख्या का सूक्ष्म विश्लेषण, उनका व्यवस्थित रूप-भेद-विवेचन तथा ऐसे उपयुक्त उदाहरण दिए गए हैं, जो कालांतर में प्रामाणिक मान लिए गए, तथापि काव्यविद्या में तत्संबंधी उनके योगदान को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। वास्तव में, उद्भट के ग्रंथ के समान उनका ग्रंथ भी व्यावहारिक है। उसमें अलंकारविषयक सामान्य सिद्धांतों अथवा तत्संबंधी प्रश्नों पर चर्चा करने की विशेष गुंजाइश नहीं है। रुद्रट का मुख्य प्रतिपाद्य विषय काव्यविद्या न होकर अलंकारविद्या है। इस विषय के अधिकतर लेखकों ने अलंकारों के रूपभेदों के सूक्ष्म विवेचन को ही अपना एकमात्र लक्ष्य माना है, क्योंकि उनके अनुसार संपूर्ण काव्य-सौंदर्य अलंकार पर ही आश्रित होता है। अलंकार-विवेचन में कुछ नवीनता के कारण तथा उनके ग्रंथ में भौतिक सिद्धांतों की व्याख्या होने के कारण परवर्ती साहित्य में रुद्रट का शायद ही किसी ने मतानुसरण किया है। अपवादस्वरूप केवल एक रुद्रट हुए हैं, किंतु उन्होंने भी केवल उनके रस-विषयक अध्यायों का ही उपयोग किया है। रुद्रट ने किसी विशिष्ट मार्ग अथवा सिद्धांत का प्रतिष्ठापन नहीं किया, यद्यपि कुछ विशिष्ट अलंकारों का विवेचन करने में उन्होंने कुशाग्रबुद्धि का परिचय दिया है। इस विषय के परवर्ती लेखकों ने परोक्ष रूप में उनकी तत्संबंधी व्याख्याओं को मान्यता दी है। रुद्रट निश्चित रूप में अलंकार-मत के अंतिम महान् व्याख्याता हैं, उनके पश्चात् यह मत ह्रासोन्मुख होकर अंत में, रस तथा रीति-मतों की तरह ध्वनि-मत के परिवार में विलीन हो गया।

अलंकार-सिद्धांत के अधःपतन का कारण प्रतिपक्षी रीति-सिद्धांत की उत्तरोतर प्रगति थी। इसका पहला संकेत दंडी के ग्रंथ से मिलता है। दंडी का स्थान अलंकार तथा रीति-सिद्धांतों के मध्य में है, उन्होंने काव्यविद्या में अलंकारों के महत्व को स्वीकार किया है (ii. 1), किंतु गुणों-सहित अलंकारों को 'मार्ग' (अथवा रीति) का सार कहा है। क्योंकि अलंकार तथा गुण दोनों ही काव्य के शोभाकर होते हैं, इसलिए दंडी के मतानुसार दोनों को व्यापक

अर्थ में अलंकार कहा जा सकता है। वैदर्भ-मार्ग में गुण विशिष्ट शोभाकर

होते हैं तथा वैदर्भ और गौड मार्गों में अलंकार समान रूप से शोभाकर होते हैं। वामन का, जिन्होंने रीति-सिद्धांत का व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठापन किया था, कथन है कि गुण नित्य होते हैं तथा अलंकार अनित्य होते हैं। नित्य-गुण संपन्न काव्य की शोभाभिवृद्धि करना ही अलंकार का एकमात्र प्रयोजन होता है।

ध्वनि-सिद्धांत के आविर्भाव के साथ-साथ रूपक के मुख्य लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त काव्य के लक्ष्यार्थ के रूप में भी रस-सिद्धांत का सूक्ष्म विवेचन किया गया। गुण तथा अलंकार दोनों ही स्वभावतः रस के गौण अंग हो गए। गुणों का रस से घनिष्ठ संबंध है, ऐसा माना जाने लगा। रस के बिना गुणों का कोई अस्तित्व नहीं होता, किंतु रस के साथ रहते हुए वे रस की शोभा में वृद्धि करते हैं। इसके विपरीत, शरीर के कृत्रिम शोभा-साधक आभूषणों की तरह, अलंकारों को काव्य के बहिरंग तथा कृत्रिम शोभाकर बताया गया। रीति तथा ध्वनि के आचार्यों के सिद्धांतों की चर्चा के अवसर पर इन विषयों का अधिक विस्तार से विमर्श किया जायगा, यहाँ यह कह देना पर्याप्त है कि मूल-सिद्धांत के अन्वेषण में प्रयत्नशील परवर्ती आचार्यों ने ध्वनि-शास्त्र को बहिरंग अलंकार-सिद्धांत के समक्षेत्रीय के रूप में स्वीकार नहीं किया, फलस्वरूप, अभिव्यंजना के वस्तुनिष्ठ सौंदर्य पर आश्रित अलंकारों तथा गुणों को काव्य के गौण अंग ही माना गया। 'अलंकार्य' क्या है इसकी व्याख्या अलंकार शब्द से की जानी चाहिए। जैसा कि अलंकार शब्द से सूचित होता है और जैसा कि अलंकार विद्या के प्राचीन प्रवर्तकों ने कहा है, अलंकार को काव्य के शरीर तक ही सीमित रहना चाहिए। अलंकार का कार्य काव्य की आत्मा की व्याख्या करना नहीं है।

काव्य-विद्या के परवर्ती सिद्धांत असंदिग्ध रूप में अलंकार-विद्या से प्रभावित रहे हैं। दंडी तथा वामन के रीति-मार्गों में विभिन्न अलंकारों की विस्तृत मीमांसा इस प्रभाव को स्पष्ट रूप से परिलक्षित करती है, यद्यपि आनंदवर्धन के पश्चात् किसी भी लेखक ने काव्यक्षेत्र में अलंकार को एकमात्र महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार नहीं किया, फिर भी सभी लेखकों ने इसके महत्व को स्वीकार करते हुए अपने-अपने सिद्धात में इसे यथोचित स्थान प्रदान किया है। यद्यपि नए मत में ध्वनि तथा रस के सिद्धांतों पर अधिक बल दिया गया था, तथापि मम्मट इत्यादि आचार्यों ने अपने सिद्धांत के एक बड़े अंश में अलंकारों की ही सूक्ष्म रूप से मीमांसा की है, अलंकाराध्याय में अलंकार के विषय को बड़े व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें अलंकारों के सूक्ष्म भेद

तथा असंख्य जाति-भेदों के विवेचनार्थ प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की गई है। सभी प्रकार के रूपक, उपमा, अनुप्रास इत्यादि अलंकारों का सूक्ष्म विश्लेषण तथा उनकी परिभाषाएँ दी गई हैं, जिनसे पांडित्यपूर्ण सूक्ष्म-विवेचन लक्षित होता है। अलंकार-विद्या के इतिहास में सूक्ष्म रूप-भेद के कारण तथा प्रत्येक अलंकार के अनेक उपभेद किए जाने के कारण अलंकारों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती गई।[1] अर्वाचीन काल तक में नव-नवीन अलंकारों की झलक मिलती है।

अलंकारों के रूप-भेद का विशिष्टीकरण अथवा सूक्ष्म-विवेचन कहाँ तक हो गया है, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। एक रमणी के मुख के सौंदर्य का वर्णन किया गया है। यह वर्णन कई प्रकार से किया जा सकता है। संस्कृत कवि के प्रसिद्ध अलंकार 'तुलना' से आरंभ करते हुए इससे अनेक अलंकारों की सिद्धि होती है। 'आपका मुख चंद्रमा के समान है'—यहाँ उपमा अलंकार है; 'चंद्रमा आपके मुख के समान है'—यह प्रतीप अलंकार है; 'आपका चंद्र-मुख'—रूपक अलंकार है; 'यह आपका मुख है अथवा चंद्र है'—ससंदेह अलंकार है; 'यह चंद्र है, आपका मुख नहीं है'—अपह्नुति अलंकार है; 'चंद्र आपके मुख के समान है तथा आपका मुख चंद्र के समान है'—यह उपमेयोपमा है; 'आपका मुख आपके मुख के ही समान है'—अनन्वय अलंकार है; 'चंद्र को देखकर आपके मुख का स्मरण हुआ'—स्मरण अलंकार है; 'आपके मुख को चंद्र जानकर चकोर आपके मुख की ओर उड़ा (चकोर पक्षी चंद्र-किरणों का भक्षण करता है)'—भ्रांतिमत् अलंकार है; 'यह चंद्र कमल है, ऐसा समझकर चकोर तथा भ्रमर आपके मुख की ओर उड़ रहे हैं'—उल्लेख अलंकार है; 'यह सर्वथा चंद्र है'—उत्प्रेक्षा; 'यह द्वितीय चंद्र है'—अतिशयोक्ति; 'आपके मुख से चंद्र तथा कमल पराजित हैं'—तुल्योगिता; 'रात्रि में आपका मुख तथा चंद्र आनंदित होते हैं'—दीपक; 'चंद्र रात्रि में ही उल्लसित होता है; किंतु आपका मुख सदैव उल्लसित होता है'—व्यतिरेक; 'जिस प्रकार आकाश में चंद्र है, उसी प्रकार पृथ्वी पर आपका मुख है'—दृष्टांत; 'आकाश

---

1. उपभेदों को छोड़कर, भरत ने केवल 4 अलंकार गिनाए हैं, किंतु विष्णु-धर्मोत्तर में 18, भामह ने 39 (+4), दंडी ने 38, उद्भट ने 41, रुद्रट ने 68, वामन ने 31, मम्मट ने 61 (+6), रुय्यक ने 75 (+4), वाग्भट द्वितीय ने 63(+6) विश्वनाथ ने 77 (+7), जयदेव (चंद्रालोक) ने 100, कुवलयानंद में 115 अलंकारों का उल्लेख है। इस विषय पर आनंदवर्धन ने (पृ॰ 8) पर इस प्रकार कहा है—'सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यंते च।'

में चंद्र विराजमान है, पृथ्वी पर आपका मुख विराजमान है'—प्रतिवस्तूपमा; 'आपका मुख चंद्रमा की शोभा को धारण करता है'—निदर्शना; 'आपके मुख के सम्मुख चंद्रमा फीका है'—अप्रस्तुत-प्रशंसा; 'आपके चंद्रमुख के कारण कामाग्नि शांत हो जाती है'— परिणाम; 'नीलनेत्रांकित तथा स्मितोल्लास से आपका मुख सुशोभित है'—समासोक्ति। कुछ स्थलों पर अनुवाद के कारण वाग्वैचित्र्य किंचित् फीका पड़ गया है। सूक्ष्म भेद-निरूपण के कारण इन अलंकारों की सिद्धि हुई है। केवल तुलना पर आश्रित अलंकारों के ये थोड़े-से ही उदाहरण हैं। इनके परस्पर भेद साधारण प्रतीत होते हैं, तथापि यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इनके विवेचन में बहुत सूक्ष्मता से काम लिया गया है। केवल एक उपमा अलंकार के ही अनेक उपभेद कर दिए गए हैं। इनमें से अधिकांश उपभेद व्याकरणाश्रित विशेष विन्यास पर आधारित हैं। इस विषय के एक अर्वाचीन लेखक, अप्पय्य दीक्षित, ने अलंकार-विषयक अपने ग्रंथ में इन्हीं कारणों से ऐसे उपभेदों का वर्णन नहीं किया है।[1]

अलंकारों के यथार्थ लक्षणों तथा उनकी सीमाओं के विषय में आचार्यों में ऐकमत्य नहीं है। आंशिक रूप में इस मतभेद का कारण इस शास्त्र अथवा विद्या की प्रगति के फलस्वरूप विचारों का क्रमिक विकास तथा सूक्ष्म रूप-भेद की सर्वप्रिय परिष्कारक प्रवृत्ति थी। विभिन्न मतावलंबी आचार्यों के ग्रंथों में विभिन्न अलंकारों से संबंधित संकल्पनाओं के विकास का अनुशीलन स्वयं एक रोचक विषय है। इस ग्रंथ की सीमा में उसका विवेचन नहीं किया जा सकता;[2] किंतु एक-दो उदाहरणों से अलंकार-विकास की प्रक्रिया स्पष्ट हो

---

1. एवमयं पूर्णलुप्तविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्र-व्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालंकारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति, चित्रमीमांसा, पृ० 27।

2. अत्यंत प्राचीन काल से जगन्नाथ के समय तक पृथक्-पृथक् अलंकारों की विभिन्न संकल्पनाओं के अध्ययन का अभी तक कोई व्यापक प्रयत्न नहीं किया गया है। त्रिवेदी तथा काणे ने क्रमशः अपने 'एकावली' तथा 'साहित्यदर्पण' के पांडित्यपूर्ण संस्करणों की टिप्पणियों में प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है। कुछ अलंकारों के विकास पर जे० नोबल ने एक लेखमाला प्रकाशित की है। उनके ग्रंथ "Beitrage zur aliteren Geschichte des Alamkar Sastra (Diss, Berlin 1911) में दीपक, तुल्ययोगिता, विभावना, विशेषोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, समासोक्ति निदर्शन तथा अर्थांतरन्यास अलंकारों पर चर्चा की गई है; ZDMG, lxvi, 1912, पृ० 283-93 तथा lxvii, 1913, पृ० 1-36 पर उनके लेखों में क्रमशः व्याजस्तुति, सहोक्ति तथा विनोक्ति का विवेचन है;

जाएगी। मोटे तौर से आक्षेप अलंकार वहाँ होता है, जहाँ विशेष के कथन की इच्छा से वक्ष्यमाण बात का निषेध किया जाता है। विभिन्न आचार्यों ने इसके विभिन्न रूप-भेद किए हैं। वामन के कथनानुसार उपमान का आक्षेप, आक्षेप(अलकार) होता है (उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः, iv 3.27)। वामन की वृत्ति में इसकी एक व्याख्या इस प्रकार दी गई है—"उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेधः उपमानाक्षेपः, तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षायाम्;" अर्थात्, वक्ष्यमाण वस्तु के नैरर्थक्य को सूचित करने के लिए उपमान का आक्षेप अथवा प्रतिषेध कर दिया जाता है। इस प्रकार का आक्षेप परवर्त्ती आचार्यों के 'प्रतीप' अलंकार के समान है। किंतु वामन की एक अन्य व्याख्या के अनुसार जहाँ उपमान का केवल संकेत ही होता है, वहाँ भी आक्षेप की प्रतिपत्ति हो सकती है (उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः)। इस प्रकार का आक्षेप कुछ आचार्यों के समासोक्ति अलंकार के समान है। दंडी ने आक्षेप की बड़ी व्यापक परिभाषा दी है। उसके अनुसार उक्त अथवा वक्ष्यमाण का ही प्रतिषेध आवश्यक नहीं है। प्रतिषेध किसी का भी हो सकता है। भामह, उद्भट तथा मम्मट ने प्रतिषेध को उक्त अथवा वक्ष्यमाण तक ही सीमित माना है। रुय्यक, विद्याधर तथा विश्वनाथ का भी यही मत है, किंतु उन्होंने एक भेद और बढ़ा दिया है, अर्थात् अनभीष्ट उक्त। जगन्नाथ ने आचार्य वामन तथा उद्भट, दोनों के मतों का उल्लेख किया है (पृ० 421 इत्यादि); किंतु उनके कथनानुसार तीसरा मत ध्वनिकार का भी है, जिसके अनुसार लक्ष्यार्थ पर आश्रित निषेध अथवा प्रतिषेध के सभी भेद आक्षेप के अंतर्गत आ जाते हैं। इसकी पुष्टि में यह कहा गया है कि प्रतिषेधाभास पर आश्रित विशेषार्थ उक्त न होकर अनुक्त ही रहता है। ध्वनिकार ने इसे गुणीभूत-व्यंग्य का जातिभेद कहा है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ गौण होने पर अभिधार्थ ही सुंदर होता है। संभवतः इसी मत को लक्षित करते हुए अग्निपुराण में यह कहा गया है—'स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते मतः।' प्रत्येक अलंकार का किस प्रकार सूक्ष्म रूप से विश्लेषण किया गया तथा रूप-भेद के कारण किस प्रकार उसके जातिभेद निर्धारित किए गए, आक्षेप अलंकार कुछ अंशों में इस प्रक्रिया का एक उदाहरण है। इसी प्रकार उपमा के छह पूर्ण तथा सत्ताईस अपूर्ण भेद हैं; उत्प्रेक्षा के बत्तीस, व्यतिरेक

---

lxxiii, 1919, पृ० 189 इत्यादि में प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टांत की विवेचना है।

के अड़तालीस तथा विरोध अलंकार के दस भेद हैं। इस विद्या के अनुशीलन की प्रगति के साथ, मुख्य अलंकारों की संख्या तथा उनके असंख्य उपभेदों की संख्या बढ़ते बढ़ते एक सौ से ऊपर पहुँच गई। इस विद्या के अनुशीलन के परवर्ती काल में रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व', जयदेव के 'चंद्रालोक' अथवा अप्पय्य के 'कुवलयानंद' इत्यादि ग्रंथों का एकमात्र प्रयोजन विभिन्न अलंकारों की विशेष रूप से विवेचना, लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत करना ही रह गया, यह विस्मयजनक बात नहीं है।

रुद्रट के समय से लेकर शब्द अथवा अर्थ के आधार पर ही अलंकारों का शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार के अंतर्गत सरल जाति-भेद निरूपण किया जाता रहा;[1] किंतु कुछ लेखकों ने ऐसे अलंकारों का भी उल्लेख किया है, जो शब्द तथा अर्थ दोनों पर ही आश्रित, अर्थात् शब्दार्थालंकार होते हैं। अग्नि-पुराण एक ऐसा प्राचीनतम ग्रंथ है, जिसमें अलंकारों के इस तृतीय जाति-भेद का वर्णन मिलता है। भोज ने अपने 'सरस्वतीकंठाभरण' तथा 'श्रृंगार-प्रकाश' में इसी मत का समर्थन किया है। यह जातिभेद एक विवाद का विषय बन गया और यह कहा गया कि यद्यपि सामान्यतः सभी अलंकार, शब्द तथा अर्थ, दोनों के आश्रित होते हैं, तथापि इस प्रकार के जातिभेद का औचित्य इसमें है कि 'योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारः' के अनुसार उक्त जातिभेद से क्रमशः शब्द, अर्थ अथवा दोनों को सापेक्ष तथा यथोचित महत्त्व प्राप्त हो जाता है। किंतु सभी आचार्यों ने इस आश्रय-आश्रयी-संबंध को स्वीकार नहीं किया। मम्मट का कथन है कि जातिभेद अन्वय तथा व्यतिरेक पर आश्रित होना चाहिए, अर्थात् यह देखना चाहिए कि अलंकार में 'परिवृत्ति-सहत्व' होता है या नहीं। यदि शब्द की परिवृत्ति के कारण अलंकार लुप्त हो जाए तो वहाँ शब्दालंकार होता है; यदि लुप्त न हो तो वहाँ अर्थालंकार होता है। स्वतंत्र अथवा मुख्य शब्दालंकारों की संख्या काफी अधिक रही है। भोज ने संभवतः अधिकतम शब्दालंकारों, अर्थात् चौबीस, का उल्लेख किया है। प्राचीन लेखकों ने शब्दालंकारों पर अधिक ध्यान दिया था। ह्रासोन्मुख श्रेणीगत कवियों को शब्दाडंबर प्रदर्शन करने का प्रचुर अवसर प्राप्त हुआ; किंतु आनंदवर्धन अथवा मम्मट-जैसे अधिक अर्वाचीन आचार्यों ने शब्दालंकारों के विवेचन पर विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि इस प्रकार के शब्दाडंबर से अभिव्यक्ति में कुछ वैचित्र्य तो अवश्य आ जाता है, किंतु पाठक, पूर्ण रूप से

1. ऊपर देखिए, पृ० 59.

इसी में उलझ जाने के कारण प्रबंधगत रस का आस्वादन नहीं कर पाता। शब्दाडंबर रसास्वादन में सहायक होने की जगह बाधक बन जाता है। इसके विपरीत, अर्थालंकारों पर अधिक ध्यान दिया जाता रहा है; व्यवस्थित रूप में उनके सूक्ष्म परिष्करण की प्रक्रिया निरंतर चालू रही है। अर्थालंकारों की संख्या निरंतर घटती-बढ़ती रही है; प्राचीन आचार्यों ने अर्थालंकारों की एक सीमित अथवा निश्चित संख्या का ही निरूपण किया था, अपेक्षाकृत अर्वाचीन लेखकों की रचनाओं में उनकी संख्या बढ़ती ही गई है। एक ओर भरत ने केवल चार अर्थालंकारों का उल्लेख किया है; भामह, उद्भट तथा वामन ने लगभग तीस से लेकर चालीस विभिन्न अलंकारों का निरूपण किया; संभवतः रुद्रट के ग्रंथ में इनकी अधिकतम संख्या बढ़कर अड़सठ तक पहुँच गई। भोज, मम्मट तथा रुय्यक के ग्रंथों में संख्या-वृद्धि रुककर घटने लगी; किंतु इस विद्या के इतिहास के अर्वाचीनतम काल में, 'चंद्रालोक' के अंतर्गत लगभग एक सौ तथा 'कुवलयानंद' में एक सौ बीस अलंकार दिए गए हैं। यह दोष आचार्य दडी में भी है, यद्यपि उन्होंने बहुत पहले इस अनंत भेद-निरूपण का विरोध किया था। परवर्ती आचार्यों को इस क्षेत्र में परिश्रम करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। आनंदवर्धन के पश्चात् इन आचार्यों के लिए अलंकारों की सूक्ष्मताओं की मीमांसा करने के अतिरिक्त कुछ अन्य शास्त्रीय विषय न रहा।

जहाँ तक अर्थालंकारों के लक्षणाश्रित जातिभेद-निरूपण का संबंध है, दंडी ने सभी अलंकारों के दो भेद किए हैं, अर्थात् स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। वामन ने आरंभ में ही औपम्य को जातिभेद-निरूपण का आधार बनाने का प्रयत्न किया, रुद्रट ने व्यवस्थित रूप में वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष के आधार पर अलंकारों का जातिभेद प्रस्तुत किया।[1] मम्मट के जातिभेद-निरूपण का कोई निश्चित सिद्धांत नहीं है। रुय्यक ने (1) औपम्य, (2) विरोध, (3) शृंखला, (4) न्याय, (5) गूढ़ार्थप्रतीति तथा (6) संसृष्टि अथवा संकर के आधार पर जातिभेद-विवेचन किया है। विद्याधर तथा विश्वनाथ ने अधिकांश में इसी जातिभेद का अनुसरण किया है, किंतु उन्होंने न्याय के तीन भेद कर दिए हैं, अर्थात् तर्क-न्याय, वाक्य-न्याय तथा लोक-न्याय। विद्यानाथ ने औपम्य (अथवा सादृश्य) के स्थान पर साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है तथा अध्यवसाय और विशेषण-वैचित्र्य को जातिभेद का दो अन्य आधार बताया है। संभवतः

1 iii. 9. ऊपर देखिए, पृ० 59.

इनमें से जातिभेद का कोई भी आधार शुद्ध रूप में शास्त्रीय नहीं है, क्योंकि इनमें सादृश्य, विरोध अथवा सामीप्य-जैसे मुख्य मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को गूढ़ार्थ-प्रतीति अथवा अपह्नव-जैसे शब्दाश्रित जातिभेद के साथ दिया गया है।

काव्यालंकार की सामान्य संकल्पना में भी विकास हुआ है। यह सच है कि एक सीमा तक प्रत्येक अलंकार, किसी भी अलंकार-सिद्धांत के अंतर्गत, अलंकार के अनुरूप होता है, किंतु परवर्ती आचार्यों के अनुसार प्रत्येक अलंकार में कुछ और विषमता भी होती है। प्रत्येक काव्य-प्रबंध का अपना विशिष्ट सौंदर्य होता है, जिसे वैचित्र्य अथवा विच्छित्ति कहा जाता है। यह वैचित्र्य कविप्रतिभा अथवा कवि-कौशल पर निर्भर रहता है और उसी से अलंकार की भी सिद्धि होती है और उसे विशिष्टता प्राप्त होती है। अलंकार-मात्र-विषयक ग्रंथ में इस मत का कोई स्थान नहीं है, और इसी मत को लेकर अलंकार-सिद्धांत को केवल जातिभेद के विवेचन पर आश्रित अलंकार-सिद्धांत कहना ठीक नहीं है। संभवतः, आदिकाल में इस सिद्धांत के अंतर्गत बाह्य शोभा-करों का ही विवेचन था, किंतु नवीन चिंतन-तत्त्वों के समावेश के कारण इस समस्या में कुछ जटिलता आ गई। सबसे पहले आचार्य कुंतक ने इन तत्त्वों का प्रतिपादन किया था। रुय्यक, जयरथ तथा अन्य आचार्यों ने पृथक्-पृथक् अलंकारों के क्षेत्र में इस नवीन मीमांसा की व्याख्या की। तत्संबंधी विकास की चर्चा यथास्थान आगे की जाएगी।

अध्याय : तीन

दंडी तथा वामन

(रीति-मार्ग)

(१)

दंडी

कालक्रमानुसार दंडी, भामह के पश्चात् आते हैं और वामन, जो दंडी के पश्चात् हुए हैं, भामह के टीकाकार उद्भट के समकालीन थे, किंतु काव्यविद्या में जिस रीतिमार्ग का प्रतिपादन दंडी और वामन ने किया, संभवतः उसकी परंपरा भामह से भी प्राचीन है। भामह ने वैदर्भी तथा गौडी के परस्पर भेद पर अधिक ध्यान नहीं दिया। इस परस्पर भेद का सर्वप्रथम उल्लेख बाणभट्ट (सातवीं शती का पूर्वार्द्ध) ने किया है। उनके कथनानुसार गौड लेखक अक्षराडंबर के कारण बदनाम हो चुके थे। दंडी ने भी गौड-मार्ग की निंदा करते हुए इस बात का उल्लेख किया है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि शास्त्रीय अर्थों में मार्ग अथवा रीति शब्द बहुत प्राचीन नहीं है, फिर भी स्वयं दंडी तथा वामन के कथनानुसार इसी प्रकार का कुछ सिद्धांत, जिसका प्रतिपादन अपनी रचनाओं में उन्होंने किया है, परंपरागत रूप में विद्यमान था। उन्होंने प्राचीन अज्ञात व्याख्याताओं के तत्संबंधी मत को निर्दिष्ट करने के अतिरिक्त कहीं-कहीं उनके उद्धरण भी दिए हैं।[1] रीति को काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मानने-वाले आचार्यों के मत को यदि रीति-मत से परिलक्षित किया जाय, तो यह संभव है कि रीति-मत का आविर्भाव स्वतंत्र रूप से हुआ और इसका विकास भी पृथक् रूप में हुआ था। रीति-मत, दीर्घकाल तक, क्रमशः रस, अलंकार अथवा ध्वनि के समर्थक अन्य काव्य-सिद्धांतों का सहवर्ती रहा।

हम पहले यह कह आए हैं कि दंडी किसी हद तक अलंकार-सिद्धांतों से प्रभावित थे, अतएव उनका मत, भामह के अलंकार-सिद्धांत तथा वामन के रीति-सिद्धांत के बीच का है। इसमें संदेह नहीं कि जहाँ तक सिद्धांत का संबंध है, उनका मत स्पष्टतः वामन के मत के अधिक समीप है। वामन के ग्रंथ में

1. यथा वामन i.2,11, 12-13; 3,15, 21; iii. 1,9, 25, iv. 1.7 इत्यादि की टीका।

रीति-सिद्धांत पूर्ण शास्त्रीय रूप में विकसित प्रतीत होता है, उसमें उद्भट के विपक्षी अलंकार-सिद्धांत-जैसी अस्पष्टता अथवा अनिश्चितता दृष्टिगोचर नहीं होती। वामन ने निश्चित सिद्धांतों के आधार पर अपने मत को संक्षिप्त सूत्रबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी इस मीमांसा का मूल्य कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि सबसे पहले उन्होंने ही रीति के एक निश्चित सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। ध्वनिकार से पहले काव्यविद्या पर निश्चित रूप में वामन का बड़ा प्रभाव रहा है।

जहाँ तक काव्य-विषयक सामान्य बातों का संबंध है[1] दंडी तथा भामह के विचारों में अधिक भिन्नता नहीं है। काव्यशरीर, अथवा शब्द तथा अर्थ के अलंकरण के संबंध में उनके विचार एक ही हैं। उनका काव्य का सर्ग-बंध इत्यादि का जातिभेद-निरूपण भी लगभग समान ही है।[2] जैसा कि पहले बताया गया है, उल्लेखनीय भेद केवल कथा तथा आख्यायिका के विषय में ही है। दंडी ने उनके एकांतिक भेद को स्वीकार नहीं किया है।[3] काव्य के रूपाश्रित तीन भेद, अर्थात् गद्य, पद्य तथा मिश्र किए गए हैं। भाषा के अनुसार उसके

1. दंडी के 'काव्यादर्श' में तीन अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः (1) मार्ग-विभाग, (2) अर्थालंकार, तथा (3) शब्दालंकार एवं दोषसंबंधित विषयों की चर्चा है। मद्रास सं० में अंतिम विषय अलग से चौथे अध्याय में दिया गया है।
2. पद्य के अंतर्गत दंडी ने सर्गबंध (महाकाव्य), मुक्तक, कुलक (पाँच श्लोक), कोश (विभिन्न लेखकों के विविध श्लोक) का तथा संघात (एक ही लेखक के विविध श्लोक) का तथा गद्य के अंतर्गत कथा, आख्यायिका तथा चंपू का उल्लेख किया है। वामन ने गद्य तथा पद्य, दोनों के दो विभाग किए हैं—निबद्ध तथा अनिबद्ध। उनके कथनानुसार पद्य के अनेक रूप अथवा भेद हैं, किंतु गद्य को उन्होंने तीन भागों में विभक्त किया है, अर्थात् वृत्त-गंधि, चूर्ण (दीर्घ-समास से मुक्त तथा मधुर शब्दों से युक्त), तथा उत्कलिका-प्राय, जो चूर्ण का विपरीत होता है (1. 3.21-26)।
3. हेमचंद्र ने कथा के इन भेदों का उल्लेख किया है—आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, बृहत्कथा, खंड-कथा, सकला, कथा तथा उपकथा (पृ० 338 इत्यादि)। आनंदवर्धन ने भी अंतिम तीन भेदों को स्वीकार किया है और अभिनव ने उनके लक्षण दिए हैं। अग्निपुराण 337-20 में कथानिका की परिभाषा दी गई है।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश [1] तथा मिश्र [2] चार भेद हैं। भामह ने उक्त दोनों विभाजनों में 'मिश्र' का ही कहीं उल्लेख नहीं किया है। विभाजन के इन दो सिद्धांतों को मिला देने पर काव्य के चार जातिभेद किए जा सकते हैं, अर्थात् संस्कृत में सर्गबंध (महाकाव्य), प्राकृत में स्कंधक, अपभ्रंश में ओसर तथा मिश्र भाषाओं में नाटक। यहाँ इन सब भेदों की सविस्तर चर्चा आवश्यक नहीं है। अध्याय 1 के श्लोक 39 में काव्य के प्राचीन भेद, 'श्रव्य' तथा 'प्रेक्ष्य' का भी उल्लेख है,[3] किंतु सामान्यत: नाट्य-प्रबधों को लक्षित करनेवाले 'प्रेक्ष्य-काव्य' के विषय में दंडी ने तत्संबंधी विशिष्ट ग्रंथों को निर्दिष्ट किया है।

उपर्युक्त विषयों का निरूपण ही काव्यविद्या का मुख्य विषय रहा है। मत अथवा परंपरा-निरपेक्ष, अधिकांश लेखकों ने अपने-अपने ग्रंथ में न्यूनाधिक इन्हीं बातों को दोहराया है। वामन ने भी अपने ग्रंथ के आरंभिक अध्यायों में, काव्य-विशेष, अर्थात् काव्य के जातिभेद, काव्यांग तथा काव्य-अधिकारी, विषयों का निरूपण किया है, यद्यपि रुद्रट ने भिन्न काव्य-मत का अनुसरण किया है, तथापि उन्होंने अपने ग्रंथ के दो अध्यायों (1 तथा 16) में काव्यविद्या के इन सामान्य विषयों का निरूपण किया है।

क्योंकि दंडी ने अपने ग्रंथ में अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन किया है, अतएव अलंकार-मत से उनकी सहानुभूति होना स्वाभाविक है। अलंकार-सिद्धांत के अनुसार उनका भी यही मत है कि अच्छा काव्य अलंकार नामक शोभाकरों से

1. भामह का 'अपभ्रंश' शब्द से क्या तात्पर्य है, यह ज्ञात नहीं, किंतु दंडी ने इस शब्द का निश्चित अर्थ बताते हुए शास्त्र से भिन्न, काव्य में इसे आभीर इत्यादि लोगों की भाषा कहा है। शास्त्र में संस्कृतेतर सभी भाषाओं को अपभ्रंश से लक्षित किया गया है। नमिसाधु का सूत्रवत् कथन है—"प्राकृतमेव अपभ्रंश:।' हेमचंद्र ने अपभ्रंश का एक अन्य भेद, ग्राम्यापभ्रंश बताया है। भरत के नाट्यशास्त्र xvii. 49 से इसकी तुलना कीजिए। वहाँ स्पष्ट रूप में बताया गया है कि अपभ्रंश एक 'देश-भाषा' न होकर एक 'जाति-भाषा' है। आभीर इस देश में प्राचीन काल से रह रहे हैं, पतंजलि i. 252 में आभीरों का उल्लेख किया गया है। देखिए, इंडियन एंटिक्वेरी, 1918, पृ० 26।
2. काव्य के मिश्र भेद को स्पष्ट रूप में 'नाटकादि तु मिश्रकं' कहा गया है, किंतु इसका तात्पर्य यदि मिश्र भाषा से है, तो यह संभवत: वही है, जिसे अब मिश्रित संस्कृत कहा जाता है।
3. हेमचंद्र ने भी इन भेदों का उल्लेख किया है, उन्होंने प्रेक्ष्य काव्य के 'पाठ्य' तथा 'गेय' दो भेद बताए हैं।

सुशोभित होना चाहिए। किंतु महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यद्यपि सभी प्राचीन आचार्यों की तरह दंडी ने भी शोभाकर-सिद्धांत का समर्थन किया है, तथापि जहाँ तक शोभाकर साधनों का संबंध है, उनके विचार अन्य आचार्यों से भिन्न हैं। उनका कथन है कि काव्य-मार्ग केवल अलंकारों पर आश्रित न होकर अनेक काव्य-गुणों पर आश्रित है (उन्होंने गुणों को अलंकार नाम से भी निर्दिष्ट किया है)। ये काव्य-गुण, काव्य-शैलियों अथवा मार्गों के मूलभूत तत्व हैं। गुणों की सिद्धि ही काव्य की निष्पत्ति होती है। वास्तव में दंडी ने मार्ग, जो अधिकांश रूप में वामन के रीति-सिद्धांत के समान है,[1] तथा उसके अंगों अर्थात् गुणों पर अधिक बल दिया है। यही दंडी के ग्रंथ की विशेषता है। अलंकार-सिद्धांत में इन गुणों का कुछ भी महत्व नहीं है। अतएव दंडी ने रीति-मत के सिद्धांत का शास्त्रीय विवेचन किया है। यद्यपि वामन की तरह दंडी ने रीति को काव्य की आत्मा नहीं कहा है, तथापि उन्होंने इसके साहित्यिक मूल्य को निस्संदेह विशेष महत्व दिया है। यह सच है कि दंडी ने अपने ग्रंथ में कहीं भी रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया है, किंतु पद्धति अथवा शैली का द्योतक, मार्ग शब्द का प्रयोग (i. 9, 40, 42, 67, 75, 101) रीति शब्द का पर्याय माना जा सकता है। उन्होंने काव्य की सामान्य परिभाषा करते हुए काव्य, अथवा काव्य-शरीर को 'इष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली' कहा है (i.10)। इसीलिए सबसे पहले उन्होंने उपयुक्त विचारों के लिए उपयुक्त अभिव्यक्ति अथवा शास्त्रीय शब्द, मार्ग अथवा रीति से लक्षित, शब्द तथा अर्थ के उचित काव्यात्मक विन्यास की चर्चा की है। उनका कथन है कि भाषा वा मार्ग विचित्र है (विचित्र-मार्ग, i. 9 तथा i. 40), अर्थात् अभिव्यक्ति के अनेक रूप होते हैं। सूक्ष्म भेद के कारण प्रत्येक मार्ग अन्य मार्ग से भिन्न होता है (i. 40), इस प्रकार अभिव्यक्ति के अनेक मार्ग हो सकते हैं। दंडी ने इन मार्गों के मोटे तौर से दो स्पष्ट भेद किए हैं—'वैदर्भ' तथा 'गौड'। प्रकट रूप में उनके संपूर्ण ग्रंथ में इन्हीं मार्गों का निरूपण किया गया है। उक्त मार्ग-भेद दंडी का अपना नहीं है, अपितु किसी प्रामाणिक परंपरा से उद्धृत किया गया प्रतीत होता है, भरत ने काव्य-गुणों का तो उल्लेख किया है, मार्ग अथवा रीति का नहीं। भामह ने काव्य के दो भेदों[2] (तथा गुणों) का विवेचन अवश्य किया है, किंतु उसमें

1. iii. 1, 12 में वामन ने मार्ग शब्द का भी प्रयोग किया है।
2. भामह ने मार्ग अथवा रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने काव्य के दो भेदों, वैदर्भ तथा गौड, को दो विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित बताया है। भामह के पूर्ववर्ती कवि बाण का कथन है कि विभिन्न प्रदेशों में

कुछ अंतर है। उक्त दो मार्गों में दंडी ने वैदर्भ-मार्ग को श्रेष्ठ कहा है। उनके कथनानुसार दस काव्य-गुणों के मधुर संयोग से वैदर्भ-मार्ग की प्रतिपत्ति होती है, गौड-मार्ग वैदर्भ के ठीक विपरीत है।

जिन दस काव्य-गुणों को वैदर्भ मार्ग का 'प्राण' कहा गया है और गौड-मार्ग में जिनका अभाव रहता है[1], वे अच्छे काव्य-प्रबंध के लिए आवश्यक हैं। दंडी ने इन्हें इस प्रकार गिनवाया है—

(1) श्लेष—श्लिष्ट शब्दावली, इसका विपर्यय शिथिल है।

(2) प्रसाद—स्पष्टार्थता, व्युत्पन्न इसका विपर्यय है।

(3) समता—वैषम्य इसका विपर्यय है।

(4) माधुर्य—मधुरता; माधुर्य में श्रुत्यनुप्रास[2] तथा अग्राम्यत्व[3], अर्थात्

विभिन्न काव्य-शोभाकर अथवा रूप प्रचलित हैं (हर्षचरित, i. 7)। दंडी का यह कथन कि गौड लेखक, शब्दाडंबर तथा विशिष्ट काव्य-गुणों को श्रेष्ठ मानते हैं, बाण के उपर्युक्त कथन के अनुरूप है। वामन के कथनानुसार, रीतियों का नाम प्रदेशों के नाम पर पड़ा। उन प्रदेशों में प्रचलित काव्य-शैलियों का अनुभवाश्रित विश्लेषण किया गया था। जहाँ तक काव्य-गुणों तथा माधुर्य का संबंध है, भामह ने उनका उल्लेख रीतियों से पृथक् किया है। माधुर्य तथा प्रसाद गुणों में समासों का अभाव होता है, किंतु ओज गुण में समास विशेषतया विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार ये काव्य-गुण, रुद्रट की काव्य-रीतियों के अनुरूप हैं। भरत ने अच्छे काव्य के दस आवश्यक गुणों का उल्लेख किया है, रीति के गुणों का नहीं।

1. आचार्य दंडी का कथन है—'एषां' (अर्थात् दस गुणों का) विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड-वर्त्मनि।' उनके मत से ऐसा लक्षित होता है कि सामान्यतः गौड-मार्ग में विपर्यय होते हैं, दस गुण नहीं होते। 'प्रायः' शब्द महत्वपूर्ण है। प्राचीन टीकाकारों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, तरुणवाचस्पति —'प्रायः शब्दः अर्थव्यक्त्यौदार्यसमाध्यादयो गुणा उभयसाधारण इति दर्शयति'। हृदयंगम—'प्रायो-ग्रहणं साकल्यनिवृत्यर्थं, तेन अर्थव्यक्त्योदार्यसमाधिगुणा उभयमार्गतुल्य इति गम्यते।' अतएव, कुछ गुण दोनों मार्गों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं।

2. कंठ, तालु, मूर्धा, दंत इत्यादि स्थानों से बोले जानेवाले समस्थानिक अक्षरों के समान शब्द-विन्यास को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। इस प्रकार श्रुत्यनुप्रास वर्णानुप्रास से भिन्न होता है। अनुप्रास के असंख्य भेद हैं। भोज ने (ii. 71 इत्यादि) छह मुख्य भेदों, अर्थात् श्रुति, वृत्ति, वर्ण, पद, नाम-द्विरुक्ति, तथा लाट पर आश्रित अनुप्रास का सूक्ष्म भेद-निरूपण किया है।

3. इस परिभाषा के अंतर्गत 'ग्राम्यत्व' तथा 'रस' शब्दों का अर्थ आगे अध्याय iv में दिया गया है।

वाग्-रस तथा वस्तु-रस विद्यमान होता है। माधुर्य का विपर्यय नहीं दिया गया है, किंतु श्रुत्यनुप्रास का 'उल्बण-वर्णावृत्ति' (i. 35)[1] तथा अग्राम्यत्व का विपर्यय 'ग्राम्यत्व' है। दोनों मार्गों में ग्राम्यत्व की निंदा की गई है।

(5) सुकुमारता—सुकुमार शब्दावली, 'निष्ठुर' अथवा 'दीप्त'[2] इसका विपर्यय है।

(6) अर्थव्यक्ति—(यह गुण दोनों मार्गों में समान रूप से स्वीकार किया गया है, इसका विपर्यय है 'नेयत्व' अथवा 'नेयार्थत्व', जिसे दोनों मार्गों ने अस्वीकार किया है)।

(7) उदारत्व—(दोनों मार्गों में मान्य)।

(8) ओज—समस्त पदों का प्रयोग (ओज दोनों मार्गों में समान रूप से मान्य है, वैदर्भ में गद्य को अधिक सरल रखने का प्रयत्न किया जाता है, किंतु गौडीय गद्य तथा पद्य, दोनों में ही ओज का प्राधान्य है, विशेषतया पद्य में दीर्घ समासों का अधिक प्रचलन है।)

(9) कांति, अर्थात् अस्वाभाविकता, अतिशय अथवा विषमता का अभाव। अत्युक्ति इसका विपर्यय है।

(10) समाधि, अर्थात् रूपकाश्रित अभिव्यक्ति (समाधि गुण दोनों मार्गों में मान्य है)।

काव्य-शैलियों के गुणों का उपर्युक्त विवरण, भरत के तत्संबंधी विवेचन से बहुत भिन्न है[3]। यह विवरण न तो व्यापक ही है, और न ही तर्कसंगत। उदाहरणार्थ, अर्थव्यक्ति को प्रसाद के अंतर्गत लिया जा सकता है। उदारत्व तथा कांति की परिभाषा स्पष्ट नहीं है। दंडी के कथनानुसार इन दोनों का व्यक्तिनिष्ठ मूल्यांकन स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार, विशिष्ट शब्द-विन्यास पर आश्रित माधुर्य को एक सूक्ष्म गुण कहा गया है, किंतु इसकी परिभाषा संभव

1. बी० राघवन् ने (शृंगार-प्र, खंड 2, पृ० 283) इसका अर्थ 'अत्यधिक-उल्बण अनुप्रास' किया है। दंडी तथा वामन के गुणों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विश्लेषण के संबंध में राघवन् के इसी ग्रंथ के पृ० 283-299 देखिए।

2. दीप्त से दंडी का तात्पर्य है कृच्छ्रोदय, अर्थात् उच्चारण करने में कठिन।

3. ऊपर देखिए, पृ० 12-15।

नहीं है।[1] समाधि में भी इसी प्रकार का एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्व स्वीकार किया गया है। इसकी परिभाषा के कारण समाधि को रूपक इत्यादि अलंकारों से भिन्न कहना कठिन है (अर्थात् समाधि, रूपक इत्यादि अलंकारों के समान ही है), क्योंकि रूपक में भी उपमान अथवा उसके गुण का अन्य वस्तु पर आरोप होता है। यह संभव है कि दंडी के मत के अनुसार, समाधि-गुण तथा रूपक-अलंकार में परस्पर भेद यह होता है कि गुण (समाधि) में किसी वस्तु के केवल गुण (धर्म) अथवा कर्म का दूसरी वस्तु पर आरोप किया जाता है, जबकि अलंकार में कोई एक धर्मी अन्य धर्मी का स्थान ले लेता है, अथवा नया अथवा एक अन्य धर्म, वर्त्तमान धर्म का स्थान ले लेता है। किंतु, आरोप की यह प्रक्रिया वास्तव में आलंकारिक अभिव्यक्ति का एक प्रकार है, जो लक्षणा पर ही आश्रित होता है। वामन के मत में दंडी का समाधि-गुण, 'वक्रोक्ति' अलंकार है, क्योंकि वक्रोक्ति भी समान गुणधर्म के कारण उसी प्रकार के आरोप पर आश्रित होता है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि दंडी ने कुछ गुणों को शब्दाश्रित, कुछ को अर्थाश्रित तथा कुछ को शब्द तथा अर्थ, दोनों पर आश्रित कहा है। माधुर्य तथा सुकुमारता, मुख्यतः शब्द-गुण हैं। वे विशिष्ट अक्षरों पर आश्रित होते हैं। माधुर्य में शब्दानुप्रास होता है तथा सुकुमारता में सुकुमार अक्षरों का प्रयोग होता है। क्योंकि माधुर्य में ग्राम्यता को लक्षित करनेवाली पदावली का प्रयोग वर्जित है, इसलिए इसे निश्चित रूप में शब्दगुण नहीं माना जा सकता। दंडी ने अपने परवर्ती आचार्य, वामन, के समान शब्द-गुणों तथा अर्थ-गुणों में विशिष्ट भेद नहीं किया है, किंतु जैसा कि उनकी परिभाषाओं से लक्षित होता है, उन्होंने कुछ गुणों, यथा श्लेष, समता, सुकुमारता अथवा ओज को, जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने भी निर्दिष्ट किया है, शब्द-गुण ही माना है। ये सभी गुण शब्दाश्रित होते हैं, और इसी प्रकार माधुर्य इत्यादि गुणों को शब्दार्थ गुण माना है। संभवतः दंडी को इस भेद-निरूपण की अशुद्धता का भान था, फलस्वरूप उनका यह कथन है (i. 101-102) कि गुण-संबंधी मतैक्य होते हुए भी, प्रबंध अथवा कलात्मक ग्रंथ के भावात्मक मूल्य के विषय में विभिन्न लेखकों में मतभेद की सदैव संभावना है।

---

1. दंडी की व्याख्या के अनुसार माधुर्य, शब्द-गुण (i. 53 में उदाहृत) तथा अर्थ-गुण (i. 64 में उदाहृत) दोनों है, यद्यपि उन्होंने इनका परस्पर भेद नहीं बताया है (किंतु, i. 68 के अंतर्गत 'विभक्त' शब्द से तुलना कीजिए)।

दो विपक्षी मार्गों में संबंधित गुणों के विवेचन के पश्चात् दंडी ने दूसरे अध्याय में अलंकारों का निरूपण किया है। यह स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए कि दंडी ने अलंकार शब्द को काव्य के शोभाकारक के सामान्य अर्थ में प्रस्तुत किया है—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते', (ii. 1)। इस निरूपण के अंतर्गत दोनों प्रकार के शोभाकर, गुण तथा अलंकार, सम्मिलित कर लिए गए हैं। पहले अध्याय में वैदर्भ मार्ग के सारभूत गुणों से संबंधित अपने कथन को निर्दिष्ट करते हुए, दंडी ने दूसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में उन गुणों को 'अलंकार' कहा है तथा अलंकारों को 'साधारणमलंकारजातम्' कहा है। अथवा, दूसरे शब्दों में, काव्यात्मक अलंकार दोनों मार्गों में समान होते हैं (साधारण), किंतु गुण-रूपी अलंकार केवल वैदर्भ मार्ग में ही होते हैं। काव्यात्मक अलंकारों के निरूपण के आरंभ में ही दंडी ने इस प्रकार कहा है—(ii. 3) :

'काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलंकारजातमद्य प्रदर्श्यते ॥

"मार्गों के विभागार्थ कुछ अलंकारों का पहले कथन किया जा चुका है (पिछले अध्याय में), अब साधारण अलंकारों (जो दोनों मार्गों में साधारण हैं) की चर्चा की जाएगी।" तरुणवाचस्पति ने इस श्लोक पर टीका करते हुए ठीक ही कहा है[1]-- "पहले श्लेष इत्यादि दस गुणों का उल्लेख किया गया है। यदि यह कहा जाय कि ये गुण, अलंकार किस प्रकार हैं, तो यह कहा जा सकता है कि अलंकार में शोभाकरत्व लक्षण होता है, क्योंकि ऐसा ही लक्षण गुणों का भी होता है, अतएव गुण भी अलंकार हैं। आचार्यों ने गुणों को वास्तव में अलंकार कहा है। अतएव श्लेषादि गुणात्मज अलंकार मार्ग-प्रभेद प्रदर्शनार्थ बताए गए थे। अब दोनों मार्गों में साधारण अलंकारों का विवेचन किया जाएगा।" यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि दंडी ने 'अलंक्रिया' शब्द को इसी सामान्य अर्थ में तीसरे अध्याय के श्लोक 137 (अथवा मद्रास सं० के चौथे अध्याय के श्लोक

1. "पूर्वं श्लेषादयो दश गुणा इत्युक्तम्। कथं तेऽलंकारा उच्यंते इति चेत्, शोभाकरत्वं हि अलंकार-लक्षणं, तल्लक्षणयोगात् तेप्यलंकारा,...गुणा अलंकार एव इत्याचार्याः...ततः श्लेषादयो गुणात्मकालंकाराः पूर्वं मार्गप्रभेदप्रदर्शनाय उक्ताः, इदानीं तु मार्ग-द्वयसाधारण अलंकारा उच्यंते।"

14) में प्रयुक्त किया है। जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे प्रतीत होता है कि दंडी ने (जैसा कि वामन इत्यादि परवर्ती आचार्यों ने माना है) गुण तथा अलंकार में किसी मूल भेद का निरूपण नहीं किया है, बल्कि अलंकार शब्द को व्यापक अर्थ में लेते हुए प्रकट रूप में दोनों को अलंकार ही माना है। सुंदर काव्य-शैली में गुणों का महत्त्वपूर्ण तथा मुख्य स्थान रहता है, अलंकार अच्छे या बुरे दोनों ही प्रकार के, उस शैली के गौण अंश होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि दंडी का इन दोनों शब्दों का प्रयोग भ्रमास्पद नहीं है। उन्होंने गुण शब्द को केवल शैली की काव्यात्मक श्रेष्ठता के लिए (i. 42, 76, 81, 100) तथा अलंकार शब्द को परंपरागत रूढ़ अर्थ में काव्यात्मक अलंकारों के लिए ही प्रयुक्त किया है (ii. 7, 116, 214, 220 268, 300, 340, 359; iii. 141; ii. 237, 287, 367 में अलंकारता)। इस प्रकार, यद्यपि उन्होंने रीति-मत के अंतर्गत गुण तथा अलंकार का भेद-निरूपण नहीं किया है, किंतु उनके परस्पर भेद का पूर्वसंकेत अवश्य किया है।

दंडी ने दूसरे तथा तीसरे अध्याय में गौण अलंकारों, अर्थात् काव्यात्मक अलंकारों का निरूपण किया है। इन अध्यायों में क्रमशः शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की चर्चा है। उन्होंने इनके परस्पर भेद का प्रत्यक्ष रूप में कथन नहीं किया है, किंतु यह भेद उनके निरूपण से परिलक्षित होता है। उनके कथनानुसार यमक इत्यादि शब्दालंकार मधुर नहीं होते (नैकांत-मधुरम्)। किंतु अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य, भामह की अपेक्षा उन्होंने इनका अधिक सूक्ष्म विवेचन किया है। उदाहरण के लिए, भामह ने प्रहेलिका[1] को केवल एक श्लोक में निपटा दिया है, किंतु दंडी ने (iii. 96-124) इसकी सोदाहरण सूक्ष्म मीमांसा करते हुए इसके सोलह भेदों का वर्णन किया है। दंडी ने यमक की सविस्तर

1. दंडी से पूर्व बाण ने कुछ प्रहेलिका-भेदों का उल्लेख किया है। भामह के एक अस्पष्ट श्लोक में कहा गया है कि अनेकार्थक यमकयुक्त प्रहेलिका एक परिश्रम-साध्य प्रबंध होता है, रामशर्मा के 'अच्युतोत्तर' में भी प्रहेलिका के यही लक्षण दिए गए हैं। दंडी ने प्रहेलिका के सोलह भेदों का उल्लेख किया है। दंडी की तरह रुद्रट ने भी प्रहेलिका तथा चित्रबंधों का कुछ विस्तार से विवेचन किया है, किंतु वामन ने इन्हें छोड़ दिया है। बाण तथा माघ ने कुछ चित्रबंधों का उल्लेख किया है। आनंदवर्धन ने चित्रकाव्य नाम से लक्षित करते हुए इनकी निंदा की है। परवर्ती काव्य-विद्या में इनका महत्त्व घट गया। धर्मदास सूरि के 'विदग्ध-मुख-मंडन' जैसे विशिष्ट ग्रंथों में इन्हीं विषयों का प्रतिपादन किया गया है (183-84)।

चर्चा की है, तथा गोमूत्रिका, अर्धभ्रम तथा सवतोभद्र नामक क्लिष्ट अलंकारों के परिभाषाओं-सहित उदाहरण दिए हैं।

पर दंडी ने अर्थालंकारों पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया है। अध्याय 2 के श्लोक 4-7 में उन्होंने केवल पैंतीस अलंकारों के नाम गिनाए हैं;[1] भामह तथा वामन के विपरीत, दंडी के निरूपण में यह विशेषता है कि उन्होंने इन अलंकारों के बहुत से उपभेदों का उल्लेख किया है; उपमा का उदाहरण विशेष रूप में उल्लेखनीय है। दंडी ने उपमा के बत्तीस उपभेद बताए हैं, परवर्ती लेखकों ने इनमें से कम से कम छह उपभेदों को स्वतंत्र अलंकारों के रूप में स्वीकार किया है। उद्भट से भी पहले दंडी ने, अन्य अलंकारों में विशिष्ट सौंदर्य-वर्धक के रूप में श्लेष को निर्दिष्ट किया है (ii. 362)। वे भामह से इस बात में सहमत हैं कि सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति होना अनिवार्य है (ii. 220)। दंडी ने केवल एक बार 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग किया है; स्वभावोक्ति को छोड़कर उन्होंने 'वक्रोक्ति' शब्द को सामूहिक रूप में सभी अलंकारों को लक्षित करने के लिए प्रयुक्त किया है। दंडी के कथनानुसार (जैसा कि ii. 362 में सूचित किया गया है), सभी अलंकारों के दो भेद किए जा सकते हैं, स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति को उन्होंने आद्य अथवा मुख्य अलंकार (आद्या अलंकृति) कहा है। स्वभावोक्ति से उनका तात्पर्य किसी वस्तु के जातिवाचक वर्णन, अथवा किसी क्रिया, गुण अथवा द्रव्य के सामान्य तथा प्रत्यक्ष वर्णन से है।[2] इस प्रकार की स्वभावोक्ति में प्रकट रूप से किसी परिश्रमसाध्य अभिव्यक्ति-वैचित्र्य का समावेश नहीं होता, अतएव स्वभावोक्ति, सामूहिक रूप में वक्रोक्ति पर आश्रित अन्य सभी अलंकारों

1. अलंकारों का विवेचन-क्रम इस प्रकार है—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश (अथवा लव), यथासंख्य (अथवा संख्यान अथवा क्रम), प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीष, संकीर्ण तथा भाविक। अध्याय 2 के श्लोक 4-7, जिनमें अलंकारों की प्राक्-सूची दी गई है, को प्रक्षिप्तांश कहा गया है, किंतु दूसरे अध्याय में अलंकार-विवेचन मुख्यतः उक्त सूची के अनुरूप ही है।

2. इन शब्दों का अर्थ व्याकरण के संदर्भ में ही अभिप्रेत है, दर्शनशास्त्रीय संदर्भ में नहीं।

से भिन्न होता है।[1] दंडी ने पहली बार आवृत्ति, लेश (व्याजोक्ति अथवा व्याजस्तुति), सूक्ष्म तथा हेतु नामक अलंकारों की परिभाषा की है। उद्भट ने हेतु को अपने काव्यलिंग अलंकार में सम्मिलित किया है। दंडी ने अनन्वय तथा ससंदेह की परिभाषा न देकर उन्हें क्रमशः असाधारणोपमा तथा संशयोपमा कहा है तथा उपमा-रूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को क्रमशः रूपक तथा उत्प्रेक्षा के अंतर्गत माना है। भामह की तरह उन्होंने भी वार्ता अलंकार का उल्लेख किया है (i. 85)। भट्टि ने प्रकट रूप में वार्त्ता का उदाहरण तो दिया है, किंतु परवर्ती अलंकार-साहित्य में इसका लोप हो गया, संभवतः इसे स्वभावोक्ति के अंतर्गत ही मान लिया गया। दंडी ने प्रतिवस्तूपमा का स्वतंत्र अलंकार के रूप में कहीं उल्लेख न करके उसे उपमा का ही भेद कहा है; उनका समाहित अलंकार, उद्भट तथा वामन के समाहित से भिन्न है। इन कुछ उदाहरणों से सूचित होता है कि दंडी ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य की अपेक्षा अपने ग्रंथ में कई नवीन विचारों को प्रस्तुत किया है। आविष्कारक प्रतिभा, अभिव्यक्ति, स्पष्टता तथा विशिष्ट वैदग्ध्य गुणों से युक्त दंडी ने न केवल अनेक पूर्ववर्ती विचारों में संशोधन किया, बल्कि उन्हें एक नवीन रूप भी दिया।

यहाँ रीति-मत में प्रवर्तित गुण-सिद्धांत के प्रतिरूप, दोष सिद्धांत की संक्षिप्त रूप में समीक्षा करना समीचीन रहेगा। भरत का अनुसरण करते हुए, दंडी ने काव्य के दस दोषों का उल्लेख किया है (iii. 125 इत्यादि, अथवा मद्रास सं० में अध्याय 4) किंतु उनकी दोष-परिभाषाएं अधिकांशतः भरत से भिन्न हैं। उनके नाम तथा उनका सार-तत्व भरत की उपर्युक्त दोष-सूची से अभिन्न है;[2] एकमात्र अपवाद ग्यारहवाँ दोष, अर्थात्, न्याय-दोष है, जिसे भामह ने तो मान्यता दी है, किंतु दंडी ने अविवेच्य मानते हुए उसकी चर्चा को व्यर्थ बताया

---

1. दंडी के टीकाकारों ने इसी व्याख्या का समर्थन किया है (देखिए मद्रास सं० पृ० 201-2)। 'वक्रोक्ति-जीवित', द्वितीय सं० की भूमिका के पृ० xiv इत्यादि पर इस विषय की चर्चा की जा चुकी है। ऊपर देखिए, पृ० 45 इत्यादि।

2. ऊपर देखिए, पृ० 10-12. Sb. der preuss Akad xxiv. 1922, पृ० 222-3 में जेकबी का लेख देखिए। काव्य-दोषों के विषय में दंडी के मतावलोकन के लिए वी० राघवन् के 'शृंगारप्रकाश' भाग 2, पृ० 234 इत्यादि देखिए।

है और उसे सर्वथा अस्वीकार किया है। किंतु दंडी ने इस दोष के छह उपभेद भामह के अनुसार ही दिए हैं। भामह ने जिन काव्य-दोषों का अपनी दूसरी पुस्तक में उल्लेख किया है, वे सामान्यतः वही दोष (अथवा गुणों के विपर्यय) हैं जिनका, दंडी के कथनानुसार, वैदर्भ-मार्ग में अभाव होता है तथा जो सामान्यतः गौड-मार्ग के लक्षण होते हैं। यह पहले बताया जा चुका है कि दंडी ने स्पष्ट रूप में इनमें से कुछ गुण-विपर्ययों का उल्लेख किया है; वे इस प्रकार हैं—

(1) श्लेष का विपर्यय, शिथिल;
(2) प्रसाद का विपर्यय, व्युत्पन्न;
(3) समता का विपर्यय, वैषम्य;
(4) सुकुमारता का विपर्यय, दीप्त;
(5) कांति का विपर्यय, अत्युक्ति;
(6) अर्थव्यक्ति का विपर्यय, नेयत्व; तथा
(7) माधुर्य का विपर्यय अनाम।

भामह के दस काव्य-दोषों के स्थान पर दंडी ने इन सात काव्य-दोषों का उल्लेख किया है; किंतु दंडी के कथनानुसार उदारत्व तथा समाधि (और संभवतः ओज) नामक गुणों के विपर्यय नहीं होते, क्योंकि ये दोनों गुण दोनों मार्गों में समान हैं। उन्होंने उपमा-दोषों की व्यवस्थित रूप में चर्चा नहीं की है।

सबसे पहले भरत ने यह प्रश्न उठाया था कि काव्य में दोषों का अस्तित्व निश्चित रूप में होता है अथवा वे केवल गुणों के ही विपर्यय होते हैं। दंडी ने इस समस्या का कहीं विवेचन नहीं किया है। भरत के कथनानुसार गुण केवल दोषाभाव की नकारात्मक अवस्था को ही परिलक्षित करते हैं; अर्थात् काव्य में दोषों का निश्चित रूप में अस्तित्व रहता है; दोषों का अस्तित्व ही गुणों के अस्तित्व को परिलक्षित करता है। दंडी के तत्संबंधी विवेचन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने भामह का अनुसरण करते हुए, चौथे अध्याय में बाह्य दोषों को निश्चित तत्वों के रूप में ही निर्दिष्ट किया है तथा काव्य के वास्तविक दोषों को वैदर्भ-मार्ग के कुछ गुणों के विपर्ययों तथा गौड़-मार्ग के निश्चित लक्षणों के रूप में ही निर्दिष्ट किया है। दो प्रतिपक्षी काव्य-शैलियों के परस्पर भेद का आश्रय लेकर उन्होंने इस विवाद से छुटकारा पाने की कोशिश की है और तथाकथित गुणों को वैदर्भ-मार्ग के लक्षण तथा कुछ तथाकथित दोषों को गौड़-मार्ग के लक्षण बताया है। इधर वामन ने रीति के स्पष्ट

सिद्धांत के अनुरूप, भरत के तत्संबंधी मत का विरोध करते हुए गुणों को निश्चित काव्य-तत्व, तथा दोषों को गुणों का विपर्यय कहा है, जैसा कि स्वयं गुणों से परिलक्षित होता है (गुणविपर्ययात्मनो दोषाः, अर्थतस्तदवगमः)। वामन ने यह भी कहा है कि दोषों का निरूपण पृथक् किया जाना चाहिए, ताकि उन्हें भली-भाँति समझा जा सके। उन्होंने इसीलिए दोषों के चार भेद किए हैं—(1) पद-दोष, (2) पदार्थ-दोष, (3) वाक्य-दोष, तथा (4) वाक्यार्थ दोष।[1]

1. रुद्रट ने गुणों तथा दोषों को पृथक् पृथक् तत्वों के रूप में स्वीकार करते हुए एक और ही सिद्धांत के अनुसार दोनों की संख्या तथा उनका जाति-भेद-निरूपण किया है। शब्द तथा अर्थ को काव्य के दो अंग मानते हुए उन्होंने (1) शब्द-दोषों तथा (2) अर्थ-दोषों के रूप में दोषों के दो जाति-भेद बताए हैं। पहली दोष-जाति में ग्यारह दोष हैं, अर्थात् (1) पद-दोष, यथा असमर्थ, अप्रतीक विसंधि, विपरीत-कल्पना, ग्राम्य, अव्युत्पन्न तथा देश्य (7 भेद), (2) वाक्य-दोष, यथा संकीर्ण, गर्भित, गतार्थ तथा अलंकार (4 भेद)। दूसरी दोष-जाति में चार उपमा-दोषों के अतिरिक्त नौ दोष हैं, यथा, अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाध्यत्, असंबद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वत, तथा अतिमात्र। रुद्रट ने केवल चार उपमा-दोष ही माने हैं (ii. 24), अर्थात्, सामान्यशब्द-भेद, वैषम्य, असंभव, तथा अप्रसिद्धि, किंतु भामह ने सात उपमा-दोषों का उल्लेख किया है। (रुद्रट के गुण तथा दोष-संबंधी सामान्य मत के विषय में क्रमशः वी० राघवन का 'शृंगार-प्रकाश' भाग 2, पृ० 302 इत्यादि तथा पृ० 239 इत्यादि का अवलोकन कीजिए)। भामह तथा दंडी की तरह रुद्रट का भी यही मत है कि स्थिति-परिवर्तन के कारण दोष भी गुण हो जाते हैं। ध्वनि के आचार्यों के आगमन के पश्चात् (गुणों की तरह) दोष, प्रबंधगत काव्य-रस के आश्रित माने जाने लगे और रस की निष्पत्ति में सहायक अथवा बाधक होना ही उनका लक्षण बताया गया। दोष-सिद्धांत तथा उसके विपर्यय अथवा विपक्षी, गुण-सिद्धांत का विवेचन केवल रस के दृष्टिकोण से ही किया जाने लगा। गुण तथा दोष निरपेक्ष तत्व नहीं रहे, बल्कि उन्हें रस-निष्पत्ति के सापेक्ष लक्षणों के रूप में, अथवा लक्षणाभाव के रूप में स्वीकार किया गया, रस का निरूपण करते हुए इन आचार्यों ने गुणों तथा दोषों को औचित्य-सापेक्ष बताया। दोषों को सामान्यतः 'रसापकर्षक' कहा गया (विश्वनाथ), किंतु विशिष्ट रस-दोषों के भी लक्षण दिए गए तथा उनका निरूपण किया गया। इस प्रश्न का कि दोष, नित्य अथवा अनित्य हैं, (भामह तथा रुद्रट भी इस प्रश्न की चर्चा कर चुके हैं) समाधान इस प्रकार किया गया कि रस-निष्पत्ति में बाधक होने के बदले यदि दोष रस-निष्पत्ति में सहायक हो तो वह भी कभी-कभी गुण हो जाता है। मम्मट तथा अधिकतर परवर्ती आचार्यों ने पद, वाक्य तथा अर्थ-दोषों के भेद को स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने रस-दोषों तथा अलंकार-दोषों का भी उल्लेख किया है। गुणों तथा दोषों के विषय

(२)
वामन

दंडी के ग्रंथ की अपेक्षा वामन के ग्रंथ[1] में उपर्युक्त विषयों का अधिक सूक्ष्म तथा विस्तृत निरूपण किया गया है। वास्तव में दंडी के ग्रंथ में जो विषय अस्पष्ट तथा अव्यवस्थित प्रतीत होते हैं, वामन के ग्रंथ में उन्हें पूर्णत: विकसित रूप में प्रस्तुत किया गया है, अतएव वामन को रीति-मत का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कहा जा सकता है। वामन को काव्य-विद्या का प्रथम आचार्य कहा गया है, जिन्होंने ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन से पूर्व, काव्य के एक स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से इस ग्रंथ में कुछ दोष हैं, किंतु कुछ अंशों में यह ग्रंथ अद्वितीय एवं बहुमूल्य है।

काव्य की आत्मा क्या है, आचार्य वामन ने सबसे पहले इस समस्या का बड़े व्यवस्थित रूप में विवेचन किया है। वामन के पूर्ववर्ती लेखकों ने काव्य-शरीर को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया था और इसलिए उन्होंने इस समस्या पर विचार नहीं किया। वामन ने स्पष्ट रूप में कहा है---'रीतिरात्मा काव्यस्य' अर्थात् रीति काव्य की आत्मा है (i. 2. 6)। इस आलंकारिक वर्णन की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है (i. 1. 1. की टीका में) कि शब्द तथा अर्थ काव्य के

में परवर्ती आचार्यों का यही मत रहा है कि गुणों तथा दोषों के अपने-अपने निश्चित अर्थ होते हैं, यद्यपि यह सच है कि कुछ दोष गुणाभाव तथा कुछ गुण दोषाभाव की अवस्थाओं में परिणत हो जाते हैं। दंडी ने चौथे अध्याय में पृथक् रूप से दस ऐसे दोषों का उल्लेख किया है, जो उनके किसी भी गुण के विपर्यय नहीं हैं।

1. प्राचीन सूत्रबद्ध-ग्रंथ-लेखकों में यह प्रथा रही है कि उन्होंने अपने ग्रंथों को पहले अध्यायों में विभक्त किया है और तत्पश्चात् प्रत्येक अध्याय के अंतर्गत कई अधिकरण दिए हैं। वामन ने इस क्रम के विपरीत, अपने ग्रंथ को पाँच अधिकरणों में विभक्त किया है। प्रत्येक अधिकरण में दो अध्याय हैं (किंतु पहले तथा चौथे अधिकरण में तीन-तीन अध्याय हैं)। इस प्रकार संपूर्ण ग्रंथ में पाँच अधिकरण तथा बारह अध्याय हैं। अधिकरणों में विषय-क्रम इस प्रकार है—(1) शरीर : इसमें काव्य-प्रयोजन, काव्य के अधिकारी, रीति तथा उसके उपभेद, गौण सहायक तथा काव्य-भेदों का निरूपण है, (2) दोष-दर्शन : इसमें प्रबंध-दोषों की चर्चा की गई है, (3) गुण-विवेचन, (4) आलंकारिक : इसमें काव्याश्रित अलंकारों का स्वरूप-निरूपण तथा उदाहरण हैं, (5) प्रायोगिक : इसमें काव्य-समय, काव्य-प्रयोग का औचित्य, शब्द-शुद्धि (भामह के ग्रंथ के अंतिम अध्याय के अनुसार) इत्यादि विषयों की चर्चा है।

शरीर हैं तथा रीति उसकी आत्मा है।[1] रीति का लक्षण उन्होंने 'विशिष्ट पद-रचना' बताया है। यह विशिष्ट पद-रचना प्रबंध के विशिष्ट गुणों के आश्रित रहती है। उदाहरण के लिए वामन की प्रस्तावित तीन रीतियों में वैदर्भी में सभी दस गुण होते हैं, गौड़ी में ओज तथा कांति का आधिक्य रहता है तथा पांचाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण होते हैं। वामन ने रीतियों के परस्पर भेदों का इसी प्रकार विवेचन किया है। इन तीन रीतियों में काव्य इस प्रकार प्रतिष्ठित हो जाता है, जिस प्रकार रेखाओं में चित्र प्रतिष्ठित होता है (i. 2. 13 की टीका)। वैदर्भी रीति का स्पष्ट रूप में समर्थन किया गया है, क्योंकि इसमें सभी गुण होते हैं, और क्योंकि प्रत्येक रीति की अपनी-अपनी विशिष्टता है, इसलिए वामन के कथनानुसार, वैदर्भी की सिद्धि के लिए अन्य दो निकृष्ट रीतियों का अभ्यास करना निरर्थक है। वामन की युक्ति है कि अतत्व का अभ्यास करने-वाले को तत्व की सिद्धि नहीं होती। सन के सूत्र बुनने का अभ्यास करनेवाला रेशम के सूत्र बुनने में वैचित्र्य प्राप्त नहीं करता। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीन प्रकार की काव्य-रीतियों में वैदर्भी रीति ही पूर्ण अथवा आदर्श रीति है, क्योंकि इसमें सभी काव्यगुणों का समावेश रहता है, जबकि अन्य दो रीतियों में कुछ विशेष गुणों का ही आधिक्य होता है। गौड़ी में ओज तथा कांति-गुणों पर बल दिया गया है, तथा पांचाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य-गुणों पर, गौड़ी शब्दाडंबर में लुप्त हो जाती है तो पांचाली शब्द-विस्तार में। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि विभिन्न रीतियों के नाम देशविशेष पर रखे गए हैं। वामन ने स्पष्ट ही कहा है (i. 2. 10) कि विशेष प्रदेश के कवियों की रचनाओं में विशेष काव्यगुणों के प्रचलन के कारण ही ये नाम रखे गए थे।[2] संभवतः काव्याभिव्यक्ति के विशिष्ट प्रादेशिक रूपों के वस्तुनिष्ठ

1. वामन के कथनानुसार गुण तथा अलंकार से अलंकृत शब्द तथा अर्थ ही काव्य है, किंतु भक्त्यार्थ में काव्य शब्द तथा अर्थ मात्र का भी वाचक है। काव्य-शरीर से अन्यत्र (i. 3. 10) उनका तात्पर्य इतिवृत्त अथवा काव्य की विषयवस्तु से है। वामन के प्रथम अधिकरण का शीर्षक शारीर है, किंतु i. 2. 6. की टीका में उन्होंने कहा है कि शारीर शब्द का अर्थ सूत्र में काव्य शब्द के अनुसार ही करना चाहिए, अर्थात् शब्द तथा अर्थमय काव्य ही शरीर है तथा रीति उसकी आत्मा है। रीति के विषय के इतिहास के लिए राघवन के 'सम कान्सेप्ट्स' पृ० 131-72, प्रकाश लाहिरी के 'कान्सेप्ट्स ऑफ़ रीति ऐंड गुण', ढाका विश्वविद्यालय, 1937 का अवलोकन कीजिए।
2. "विदर्भ-गौड-पांचालेषु तत्रत्यैः
कविभिर्यथा-स्वरूपमुपलब्धत्वाद् तत्समाख्या,
न पुनर्देशैः किंचिदुपक्रियते काव्यानाम्।"

विश्लेषण के फलस्वरूप ही रीतिमत के विशिष्ट रीति-सिद्धांत का जन्म हुआ। इस शास्त्र के अनुभवजन्य होने का यह एक और प्रमाण है।[1]

यह बात ध्यान देने योग्य है कि अंग्रेजी का 'स्टाइल' शब्द यद्यपि बहुधा रीति शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, वास्तव में यह शब्द रीति का उपयुक्त पर्याय नहीं है। 'स्टाइल' शब्द में एक स्पष्ट व्यक्तिनिष्ठ मूल्यांकन रहता है। यद्यपि संस्कृत के आचार्यों ने अर्थ-तत्व को स्वीकार किया है, तथापि गुणों के उपयुक्त संयोग अथवा शब्द तथा अर्थ के विन्यास पर आश्रित, वक्ष्यमाण अर्थ के वस्तुनिष्ठ सौंदर्य की अभिव्यक्ति ही वास्तव में रीति है। इन गुणों के लक्षणों का स्पष्ट रूप में विवेचन किया गया है। यह निस्संदेह स्वीकार किया गया है कि उपयुक्त अर्थ की अभिव्यक्ति उपयुक्त शब्द से की जानी चाहिए; अथवा शब्द का प्रयोग अर्थानुसार होना चाहिए। भरत ने इससे भी एक पग आगे बढ़कर कहा है कि रूपक में अभिव्यक्ति पात्र के गुण तथा प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिए। जैसा कि पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत में 'स्टाइल' अथवा शैली को सामान्यतः काव्यात्मक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में माना जाता है, रीति इस प्रकार की शैली नहीं है; रीति तो न्यूनाधिक निश्चित रूढ़ काव्य-गुणों के सुसंयोग से उत्पन्न काव्य-सौंदर्य की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र है। निस्संदेह, ये गुण, पद-रचना तथा अर्थ, दोनों में ही परिलक्षित होते हैं, किंतु ये व्यक्तिनिष्ठ तत्व, अनिर्वचनीय व्यक्तित्व

---

1. उपयुक्त सामग्री के अभाव के कारण यह निश्चित करना कि गौडी तथा वैदर्भी रीतियों के परस्पर भेद का पहली बार निरूपण कब किया गया, असंभव है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि बाण ने विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न शैलियों के प्रचलन की बात कही है; कुछ लोगों ने शब्द को महत्त्व दिया, कुछ ने अर्थ को और कुछ ने कल्पना-शक्ति के प्रदर्शन को। संभवतः दंडी के समय में शैली-भेद पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुका था। जेकबी ('महाराष्ट्री', पृ० xvi) ने यह सुझाव दिया है कि प्राचीन तथा आलंकारिक गौडी के विरोधस्वरूप अपेक्षाकृत सरल वैदर्भी रीति का विकास हुआ (दंडी ने गौडी की निंदा की है)। हाल की 'सप्तशती' (5 वीं शती ई०) में तत्संबंधी उल्लेख के अनुसार संभवतः तीसरी शती ई० में इसका जन्म हुआ था। इसके विपरीत यह युक्ति दी जा सकती है कि अपेक्षाकृत प्राचीन तथा सरल वैदर्भी के विपरीत गौडी शैली काव्य में जटिलता के विकास अथवा काव्य की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति को लक्षित करती है। परवर्ती संस्कृत काव्य में यह ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति निरंतर बढ़ती ही गई। तुलना कीजिए, कीथ, 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', पृ० 50।

पर आश्रित शैली-सौंदर्य का पर्याय नहीं हो सकते। यदि हम शैली के एक अर्वाचीन मीमांसक[1] के शब्द को स्वीकार कर लें तो यह कह सकते हैं कि संस्कृत आचार्यों ने, शास्त्रीय विधान के रूप में शैली-गत प्रतिभा को स्वीकार किया है, किंतु 'शैली-गत-आत्मा' को नहीं; 'शैलीगत-आत्मा' अव्यक्त होती है; इसलिए आचार्यों ने काव्य की आत्मा का निरूपण न करके उसे मीमांस्य ही रहने दिया।

अतएव, वामन का कथन है कि रीति के निष्पादक गुण काव्य के लिए आवश्यक हैं; रीति काव्य की आत्मा है। इस पर 'एकावली' के लेखक ने आपत्ति की है (पृ० 51) कि एक ओर तो गुणों को काव्य के मुख्य तत्वों के रूप में 'उपस्कार्य' कहा गया है; और दूसरी ओर गुणों को काव्य का 'उपस्कारक' कहा गया है; ये दो परस्पर विरोधी बातें हैं। यह एक सैद्धांतिक विवादमात्र है; इसमें कोई तत्व की बात नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि गुणों का लक्षण 'शब्दार्थयोर्धर्मा:' बताया गया है; किंतु टीकाकार के कथनानुसार यह शब्द का लौकिक प्रयोग है, क्योंकि गुण यथार्थतः रीति-निष्ठ ही होते हैं (गुणा वस्तुतो रीति-निष्ठा अपि, उपचाराच्छंद-धर्मा इत्युक्तं, पृ० 69 बनारस सं०)। रीति को 'गुणात्मा' कहा गया है। इस पर यह आपत्ति की गई है कि गुणों का स्वयं कोई पृथक् अस्तित्व नहीं। इस संबंध में आचार्य वामन का उत्तर है कि सहृदय द्वारा गुणों के संवेदन से गुणों का अस्तित्व सिद्ध है (संवेद्यत्वात्, iii. 1. 26; इसकी टीका इस प्रकार है—सहृदयसंवेदनस्य विषयत्वात्), प्रत्येक पाठ में ये गुण विद्यमान नहीं होते, अपितु विशिष्ट लक्षणों के अस्तित्व अथवा अभाव पर ही आश्रित होते हैं (iii. 2. 28 तथा वृत्ति)।

दंडी की तरह वामन ने भी गुणों की संख्या दस बताई है, भरत के समय से लेकर यही संख्या प्रामाणिक मान ली गई प्रतीत होती है, किंतु वास्तव में वामन ने गुणों का शब्द-गुणों तथा अर्थ-गुणों के रूप में भेद-निरूपण करते हुए उनकी संख्या दुगुनी कर दी है और प्रत्येक गुण के शब्द तथा अर्थ पर आश्रित

1. वाल्टर पेटर के 'एप्रिसिएशन्ज़' नामक ग्रंथ में 'स्टाइल' विषय पर निबंध। राघवन ने ('सम कान्सेप्ट्स', पृ० 140) हमारे उपर्युक्त मत का विरोध किया है; इस संबंध में डेमिट्रियस अथवा अरस्तू के विचारों को उद्धृत करने से कुछ लाभ नहीं; क्योंकि यहाँ चर्चाधीन विषय यूरोपीय श्रेणीगत साहित्य नहीं है, बल्कि वाल्टर पेटर अथवा बेनेडोट क्रोस के अर्वाचीन साहित्य से संबंधित विचारों की चर्चा है। कुंतक ने काव्य को 'कविस्वभाव' अथवा 'कवि-प्रतिभा' पर आश्रित कहा है। स्वयं राघवन ने इस मत को स्वीकार किया है।

दो भेद किए हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक गुण के दो प्रकार हैं और शास्त्रीय रूप में उनका परस्पर भेद वाचक अथवा वाक्य से निर्दिष्ट होता है। वामन ने सबसे पहले क्रमशः शब्द तथा अर्थ पर आश्रित गुणों का निश्चित रूप में वर्गीकरण किया है। इसमें संदेह नहीं कि वामन द्वारा विशिष्ट गुणों के स्पष्ट भेद-निरूपण के कारण भरत तथा दंडी के तत्संबंधी लक्षणों में जो अस्पष्टता थी, वह दूर हो गई। यद्यपि कुछ गुणों के स्वरूप अथवा लक्षणों के विषय में वामन तथा पूर्ववर्ती आचार्यों में बहुत भिन्नता है, तथापि उन्होंने समान अथवा सजाति गुणों का बड़ी सावधानी से भेद-निरूपण किया है। निस्संदेह मुख्य रूप में वामन ने दंडी के न्यूनाधिक अव्यवस्थित सिद्धांत का विकास किया है, किंतु जहाँ तक गुणों के लक्षणों का संबंध है, वे एक दूसरे ही रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, अतएव यह माना जा सकता है कि वामन के तत्संबंधी विचारों का स्रोत दंडी न होकर अन्यत्र है, क्योंकि उन्होंने अपने विवेचन की पुष्टि में अज्ञात स्रोत से श्लोक उद्धृत किए हैं (यथा iii. 1. 9. 25. 2. 15 इत्यादि की टीका में)।

वामन के गुणों को इस प्रकार तालिका-बद्ध किया जा सकता है—

शब्द-गुण	अर्थ-गुण
(1) ओज (गाढ़बंधत्व, यहाँ बंध = पदरचना, iii. 1,4)	(1) ओज (अर्थस्य प्रौढ़िः)
(2) प्रसाद (शैथिल्य)	(2) प्रसाद (अर्थवैमल्य), अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार, अनुपयोगि परिवर्जनात्।
(3) श्लेष (मसृणत्वं, यस्मिन्सति बहून्यपि पदान्येकवद् भासंते)।	(3) श्लेष (घटना) —अनेकार्थघटना।
(4) समता (मार्गाभेदः, येन मार्गणोपक्रमस्तस्यात्यागः)।	(4) समता (प्रक्रमाभेदः)।
(5) समाधि (आरोहावरोह-क्रम)।	(5) समाधि (अर्थदृष्टिः समाधिकारणत्वात्)।
(6) माधुर्य (पृथक्-पदत्व), समासदैर्घ्यनिवृत्ति।	(6) माधुर्य उक्ति (वैचित्र्य)
(7) सौकुमार्य (अजरठत्व)	(7) सौकुमार्य (अपारुष्य)

(8) उदारता (यस्मिन्सति नृत्यंतीव पदानि) अर्थात् पद-विच्छेदात् ?	(8) उदारता (अग्राम्यत्व)
(9) अर्थव्यक्ति (झटिति-अर्थ-प्रतिपत्ति हेतुत्व)।	(9) अर्थव्यक्ति (वस्तुस्वभाव-स्फुटत्व)।
(10) कांति (औज्ज्वल्य)।	(10) कांति (दीप्त-रसत्व)।

गुणों की उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना (गणना) से यह स्पष्ट हो जाता है कि वामन के तत्संबंधी विवेचन तथा भरत अथवा दंडी के निरूपण में पर्याप्त अंतर है। उदाहरण के लिए, वामन का ओज दंडी के श्लेष के अनुरूप है तथा दंडी के माधुर्य गुण के दो भेद कर दिए गए हैं, पृथक्-पदत्व तथा अग्राम्यत्व। वामन ने अर्थ-गुण कांति में रस-सिद्धांत को समाविष्ट कर लिया है (भरत के कांति गुण से इसकी तुलना कीजिए) और इस प्रकार इस गुण को काव्य के एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है, किंतु दंडी ने इसे काव्य का एक गौण अलंकार माना है। दंडी ने वामन के अर्थ-गुण अर्थ-व्यक्ति को स्वभावोक्ति अलंकार का उदाहरण माना है। किंतु यह द्रष्टव्य है कि वामन का गुण-निरूपण दंडी के तत्संबंधी विवेचन से अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होते हुए भी संतोषजनक नहीं है। गुणों का बाह्य तथा आभ्यंतरिक, शब्दाश्रित तथा अर्थाश्रित वर्गीकरण कुछ-कुछ पंडिताऊ होने के कारण आपत्तिजनक है और इसलिए परवर्ती आचार्यों ने इसका विरोध किया है।[1] कहीं-कहीं भेद-विवेचन युक्तिसंगत नहीं है। ऐसा संदेह होता है कि केवल समानता के लिए प्रत्येक प्रकार के दस गुणों के दो भेद किए गए हैं। जहाँ तक विशिष्ट गुणों का संबंध है, संभवत: स्वयं वामन को अपने तत्संबंधी लक्षणों के दोष ज्ञात थे, यद्यपि उन्होंने किसी रूढ़ परंपरा के अनुसार ही दस गुणों की व्याख्या की थी। उदाहरणार्थ, वामन का शब्द-गुण प्रसाद उनके ओज-गुण का ही विपर्यय है। वामन ने स्वयं इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है कि प्रसाद-गुण तभी होता है, जब वह ओज गुण के साथ रहता है; प्रसाद स्वयं कोई गुण नहीं है; पृथक् रूप में विद्यमान होने पर प्रसाद स्पष्ट रूप में एक दोष ही होता है। इस प्रकार के दो विरोधी गुणों का एकत्र संयोग नहीं हो सकता, यदि यह आपत्ति की जाए तो उसके प्रति वामन का उत्तर है कि इस प्रकार का संयोग

1. यथा मम्मट, अध्याय 8; हेमचंद्र, पृ० 195-200; माणिक्यचंद्र, पृ० 191 इत्यादि, जगन्नाथ, पृ० 69 इत्यादि।

तो साधारण है । मम्मट ने वामन के श्लेष गुण को एक पृथक् अथवा स्वतंत्र गुण नहीं माना है, क्योंकि यह ओज का ही एक विशिष्ट रूप है। इसी प्रकार परवर्ती आचार्यों ने सौकुमार्य गुण को भी स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि यह निष्ठुर दोष का उसी प्रकार विपर्यय है, जिस प्रकार वामन का उदारता गुण ग्राम्यत्व का विपर्यय है। वामन का अर्थ-गुण समाधि, दंडी के समाधि से भिन्न है, किंतु यह कोई गुण नहीं है। समाधि का लक्षण है—दिष्ट अथवा मूल अर्थ की प्रतिपत्ति; किंतु यह गुण तो प्रत्येक काव्य-प्रबंध में विद्यमान रहता है; और फिर ऐसा कौन-सा काव्य है, जिसकी अर्थ-प्रतिपत्ति न हो सके ? मम्मट तथा उनके मतानुयायियों ने वामन के गुण-विषयक निरूपण पर इसी प्रकार की आपत्तियाँ की हैं। उनके मतानुसार गुणों का इस प्रकार तथा इतनी संख्या में भेद-निरूपण करना अनावश्यक है । उन्होंने काव्य-गुणों को प्रबंधगत मुख्य रस के शोभाकरों के रूप में स्वीकार करते हुए मनोवैज्ञानिक आधार पर उनके तीन मुख्य जातिभेद किए हैं; वे हैं ओज, प्रसाद तथा माधुर्य ।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि रीति-सिद्धांत में कुछ गुणों से वह काम लिया गया है, जो अन्य सिद्धांतों में काव्यात्मक अलंकारों से लिया गया है। वामन का अर्थ-गुण कांति, अलंकार-सिद्धांत के रसवत्-जैसे अलंकारों के अनुरूप है;[1] तथा किन्हीं स्थलों पर दंडी का समाधि गुण, रूपक तथा सजातीय अलंकारों का पर्याय हो सकता है । वामन का अर्थ-गुण अर्थ-व्यक्ति दंडी का स्वभावोक्ति अलंकार ही है; और हेमचंद्र के कथनानुसार, दंडी का कांति गुण केवल अतिशयोक्ति अलंकार की सीमा को ही परिलक्षित करता है (सेयमतिशयोक्तेर्यंत्रणा, न पुनर्गुणांतरम्) । अलंकार-सिद्धांत के परवर्त्ती आचार्यों ने भामह के वक्रोक्ति अलंकार के आधार पर किस प्रकार 'उक्ति-वैचित्र्य' को सभी प्रकार की आलंकारिक अभिव्यक्ति के मूल सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया, यह आगे बताया जाएगा; किंतु वामन ने अर्थ-गुण माधुर्य का जो लक्षण बताया है, उसके अनुसार उक्ति-वैचित्र्य एक गुण ही है ।

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे तथा हेमचंद्र (पृ० 195-200) तथा माणिक्यचंद्र (पृ० 191 इत्यादि) की गुणविषयक विस्तृत समीक्षा से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि रीति-मत के आचार्यों, विशेषतया दंडी तथा वामन के मतानुयायियों में गुणों के लक्षणों तथा उनके जाति-भेद-निरूपण के

1. वामन ने इसी कारण अलंकार के रूप में रसवत् का लक्षण नहीं दिया है ।

विषय में बड़ा मतभेद है; उनका गुण-स्वरूप-निरूपण विवादास्पद है। इसके विपरीत, भरत के गुण-लक्षण दंडी अथवा वामन के गुण-लक्षणों के अनुरूप नहीं हैं। उदाहरणार्थ, भरत के ओज गुण का लक्षण ओजपूर्ण समस्त पद प्रयोग है, जो दंडी के ओज गुण के अनुरूप है, किंतु हेमचंद्र के कथनानुसार निम्नकोटि के अथवा घृणास्पद विषय का ओजस्वी वर्णन ही ओज है। भरत का प्रसाद गुण, जो दंडी के समाधि के अनुरूप है, केवल आलंकारिक अभिव्यक्ति का एक रूप है, जिसे वामन ने वक्रोक्ति अलंकार के अपने विचित्र लक्षण के अंतर्गत समाविष्ट किया है, परवर्ती आचार्यों ने इसे लक्षणा अथवा उपचार नाम से निर्दिष्ट किया है। भरत के उदार गुण तथा वामन के उदारता में बड़ा अंतर है। भरत के उदार में रसों तथा भावों का समावेश है, किंतु वामन के उदारता में नहीं है, यह गुण आंशिक रूप में वामन के अर्थ-गुण कांति के अनुरूप है। इस प्रकार की अल्प-त्रुटियों के बावजूद, ऐसा प्रतीत होता है कि वामन ने भरत के गुण-सिद्धांत का पूर्ण रूप में विस्तार किया है। इस विषय में, विशिष्ट गुणों के स्वरूप-विवेचन में प्राचीन आचार्यों में परस्पर मतभेद होना स्वाभाविक ही था। उनके सूक्ष्म विवेचन के बावजूद सिद्धांत अस्पष्ट तथा असंतोषजनक ही रहा। इसका कारण यह था कि आद्य आचार्यों ने अल्पसंख्यक जातियों की संकुचित सीमा में ही प्रबंधगत सभी काव्य-गुणों को निर्धारित करने का निष्फल प्रयत्न किया था। इन काव्य-गुणों की व्याख्या करने में उन्होंने बड़ी कुशलता दिखाई, किंतु इस विषय में वे पूर्णतया एकमत न हो सके, यह स्वाभाविक ही था।

गुण-सिद्धांत की समीक्षा करते हुए हेमचंद्र तथा माणिक्यचंद्र ने मंगल नामक एक आचार्य के मत का उल्लेख किया है।[1] ऐसा कहा गया है कि मंगल का ओज गुण का लक्षण भरत के लक्षण के अनुरूप है तथा वामन की तरह मंगल का भी यही कथन है कि दंडी ने ओज को गौडी रीति का विशिष्ट गुण कहा है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि यह गुण तो सभी रीतियों में साधारण रूप से विद्यमान रहता है। राजशेखर ही एक अन्य आचार्य हैं, जिन्होंने मंगल का उल्लेख किया है। उन्होंने मंगल के कुछ मतों का उल्लेख किया है, जो अधिकांश रूप में वामन के तत्संबंधी विचारों के अनुरूप हैं। राजशेखर ने पृ० 14 पर मंगल की एक उक्ति को उद्धृत किया है, जो किंचिद् भिन्न रूप में वामन i.2.1 में मिलती है। राजशेखर के इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मंगल

1. स्वयं वामन ने कुछ ऐसे श्लोक उद्धृत किए हैं, जिनमें विभिन्न शब्द-गुणों के प्राचीन लक्षण दिए गए हैं (iii.1,25 की व्याख्या में)।

यदि वामन के पूर्ववर्ती नहीं थे तो यह संभव है कि वह वामन-मत के ही अनुयायी थे। इसमें संदेह नहीं कि वामन द्वारा व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किए जाने से पूर्व यह सिद्धांत विद्यमान था। वामन ने उसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया, जिसके फलस्वरूप बहुत से लोग इस सिद्धांत के समर्थक बन गए। यही कारण है कि राजशेखर, हेमचंद्र तथा जयरथ-जैसे परवर्ती विख्यात लेखकों ने वामनीय मत के उद्धरणों का उसी प्रकार सादर उल्लेख किया है, जिस प्रकार उन्होंने वामन के समकालीन तथा प्रतिपक्षी, उद्भट के मतानुयायी, औद्भटों के उद्धरणों का उल्लेख किया है।

गुण-विवेचन के पश्चात् वामन ने काव्य के गौण तत्त्वों के रूप में अलंकारों की चर्चा की है। वामन ने सबसे पहले गुणों तथा अलंकारों के परस्पर भेद का निश्चित रूप से विवेचन किया है, भामह ने इस विषय पर कुछ ध्यान नहीं दिया। दंडी ने उनके परस्पर भेद को स्वीकार नहीं किया, और ऐसा प्रतीत होता है कि उद्भट ने उनमें कोई भेद ही नहीं माना हैं।[1] निस्संदेह, वामन ने आरंभ में ही कहा है कि काव्य में अलंकार ग्राह्य है, किंतु अलंकार से उनका अर्थ अथवा तात्पर्य सीमित काव्याश्रित अलंकार से नहीं, बल्कि मुख्यतः काव्यगत सौंदर्य से है (काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौंदर्यमलंकारः)। वामन ने यह भी कहा है कि अलंकार शब्द करण-व्युत्पत्ति से ही उपमादि काव्याश्रित अलंकारों में प्रयुक्त होता है (अलंकृतिरलंकारः, कारणव्युत्पत्या पुनरलंकार-शब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते)। इस विषय में वामन ने प्रकट रूप से दंडी के तत्संबंधी मत की पुष्टि की है, किंतु उन्होंने अलंकारों के अस्तित्व को आवश्यक नहीं माना है। वामन के मतानुसार, सौंदर्य के कारण ही काव्य ग्राह्य होता है (यहाँ सौंदर्य, अलंकार का व्यापक अर्थ है)। वामन ने सौंदर्य का लक्षण नहीं दिया है, किन्हीं अंशों में सौंदर्य अविवेच्य भी है।[2] रीति तथा रीति के अंग अर्थात् गुण, इस काव्य-सौंदर्य की निष्पत्ति में अनिवार्य होते हैं, काव्याश्रित अलंकार गौण सहायक के रूप में इस सौंदर्य का परिवर्धन करते हैं। काव्य के शास्त्रीय सिद्धांत के अंतर्गत गुणों तथा अलंकारों का क्या स्थान है और उनमें परस्पर क्या भेद

---

1. 'ध्वन्यालोक' में गुण तथा अलंकार के परस्पर भेद की स्थापना की गई है।
2. वामन ने केवल यही कहा है कि दोषों के परिहार तथा गुणों एवं अलंकारों के प्रयोग से इस सौंदर्य की निष्पत्ति होती है (स दोष-गुणालंकार-हानादानाभ्याम्)।

है, दंडी ने इसका संकेत मात्र ही किया था, किंतु वामन ने सबसे पहले इस विषय का पूर्ण रूप से विवेचन किया है (iii.1.1-3)। क्योंकि गुण, रीति के आवश्यक अंग हैं, अतएव उनका लक्षण काव्य-शोभाकर बताया गया है (काव्य-शोभाया: कर्तारो धर्मा :)—दंडी ने गुण तथा अलंकार, दोनों को काव्यशोभाकर कहा है—किंतु अलंकार ऐसे शोभाकर हैं, जो विद्यमान शोभा अथवा सौंदर्य का परिवर्धन करते हैं (तदतिशयहेतव:)। गुण नित्य कहे गए हैं, इसका तात्पर्य यह है कि अलंकार अनित्य हैं (पुनरलंकारा अनित्या इति गम्यते एवं, कामधेनु टीका, पृ० 71) क्योंकि अलंकारों के बिना काव्य में शोभा का अस्तित्व संभव है, किंतु गुणों के बिना शोभा की उपपत्ति नहीं हो सकती (तैर्विना काव्य-शोभानुपपत्ते:)। दूसरे शब्दों में, गुणों का काव्य से समवाय संबंध है (देखिए, कामधेनु, (iii.1.4 की टीका) तथा अलंकार का संयोग संबंध है। संयोग-संबंध केवल आनुषंगिक बताया गया है, जबकि समवाय-संबंध, अभिन्न अथवा नित्य-संबंध होता है।[1] आलंकारिक भाषा में, गुण, काव्य की आत्मा (अर्थात् रीति) पर आश्रित होता है, जबकि अलंकार केवल काव्य के शरीर (अर्थात् शब्द तथा अर्थ) पर आश्रित होता है। गुण के बिना अलंकार, अपने आप में काव्य का शोभाकर नहीं बन पाता, किंतु अलंकार के बिना गुण, काव्य का निरपेक्ष शोभाकर हो सकता है। तथापि वामन ने काव्य के एक अंग के रूप में अलंकार के अस्तित्व का तथा अलंकार-युक्त काव्य का समर्थन किया है आनंदवर्धन ने भी इस प्रकार के अलंकाराश्रित काव्य को स्वीकार तो किया है। किंतु उसका ठीक तरह विवेचन नहीं किया है। आनंदवर्धन के मतानुयायी, रूय्यक ने ही इस विषय का विशद विवेचन किया है, किंतु इसकी प्रेरणा उन्हें वक्रोक्तिजीवितकार से ही प्राप्त हुई है।

काव्याश्रित अलंकारों के निरूपण की साधारण रूपरेखा तथा विशिष्ट अलंकारों के लक्षण, कुछ अंशों में, वामन के अपने ही हैं। वामन ही एक ऐसे प्राचीन लेखक हैं, जिन्होंने अलंकारों की न्यूनतम संख्या का निरूपण किया है।[2]

---

1. मम्मट ने viii. 470 पर इस पर आलोचना की है। उनका कथन है कि ओज-जैसे गुणों तथा अनुप्रास और उपमा-जैसे अलंकारों की समवाय-स्थिति होती है।

2. निरूपण-क्रम इस प्रकार है—यमक, अनुप्रास, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, ससंदेह, विरोध, विभावना, अनन्वय, उपमेयोपमा, परिवृत्ति,

उन्होंने केवल दो प्रकार के शब्दालंकार; अर्थात् यमक तथा अनुप्रास स्वीकार किए हैं। अर्थालंकार, के विषय में उनका सामान्य कथन है कि सभी अलंकार उपमा-गर्भित होते हैं, उपमा-सापेक्ष होने के कारण उन्हें सामूहिक रूप से 'उपमाप्रपंच' नाम दिया गया है।[1] अन्य अलंकारों में उपमा का महत्त्व भामह के समय से ही स्वीकार कर लिया गया था, फलस्वरूप, सस्कृत अलंकार-शास्त्र के अधिकतर ग्रंथों के आरंभ में ही अपना को सदैव प्रमुख स्थान दिया जाता रहा है।[2] परवर्ती लेखकों ने जिन अलंकारों को सामूहिक रूप से 'सादृश्यमूल' अथवा 'औपम्य-गर्भ' कहा है वे उपमा-मूलक हो हैं, किंतु वामन ने सभी अलंकारों को उपमाश्रित अथवा उपमानउपमेयाश्रित मानकर उनका निरूपण किया है। इस मूल अभ्युपगम के कारण वालन मे अलंकारों के जो लक्षण दिए हैं, वे अन्य लेखकों से बहुत भिन्न हैं, उन्होंने पर्यायोक्त, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, उदात्त, भाविक तथा सूक्ष्म-जैसे अलंकारों को अलंकार न मानते हुए उनके लक्षण नहीं किए हैं। उन्होंने वक्रक्ति अलंकार को आलंकारिक अभिव्यक्ति का एक प्रकार कहा है। वामन का विशेषोक्ति जगन्नाथ के रूपक के अनुरूप है तथा आक्षेप अलंकार कुछ परवर्ती लेखकों के प्रतीप अथवा समासोक्ति के अनुरूप है। वामन के कथनानुसार, स्वधर्म आरोपणार्थं, समानगुण वस्तु द्वारा एक वस्तु का गोपन, अपह्नुति अलंकार होना है, दूसरे शब्दों में, उपमेय के गुणधर्म का निषेध होकर उसके स्थान पर उपमान का प्रतिष्ठापन कर दिया जाता है। दंडी का कथन है कि किसी वस्तु का पहले निषेध तथा उसके स्थान पर किसी अन्य वस्तु का आगम एक ऐसा अलंकार है, जिसका औपम्याश्रित होना आवश्यक नहीं है, दंडी के इस मत का अनुसरण करने हुए कुछ परवर्ती

क्रम, दीपक, निदर्शन, अर्थांतरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित तथा संसृष्टि (उपमा-रूपक तथा उत्प्रेक्षावयव-सहित)—संसृष्टि-रहित 30 अलंकार।

1. टीकाकार की व्याख्या इस प्रकार है—
प्रतिवस्तु-प्रमुखानामलंकाराणामूपमागर्भत्वादुपमाप्रपंच इति व्यपदेशः कृतः (iv. 3.1 की टीका)।
2. उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणालंकार-बीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा, रुय्यक पृ० 273. सादृश्यविच्छित्ति-विशेष रूपक-दीपकाद्यनेकालंकार-बीजतयोपमायाः प्रथमं निरूपणम्। मल्लिनाथ पृ० 195. यद्यपि सभी अलंकारों में उपमा का होना आवश्यक नहीं है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वामन ने केवल उन्हीं अलंकारों को स्वीकार किया है, जो उपमाश्रित हैं, क्योंकि उपमा से वे और भी सुंदर हो जाते हैं।

लेखकों (यथा, विश्वनाथ) ने अपह्नुति का एक दूसरा भेद भी बताया है, जिसमें कोई भी गम्यमान औपम्य नहीं होता है।[1]

(३)

रीति-मत के प्रमुख आचार्यों के विचारों की संक्षिप्त चर्चा से यह सूचित होता है कि कई अंशों में अलंकार-सिद्धांत की अपेक्षा रीति-सिद्धांत में बड़ी प्रगति हुई है। इन दोनों सिद्धांतों में कई विषय तो साधारण हैं; किंतु शास्त्रीय अथवा दार्शनिक प्रकार के नीरस ग्रंथों से सर्वथा भिन्न, काव्य के लक्षण के रूप में, रीति-मत में रीति-सिद्धांत का स्पष्ट शब्दों में स्वरूप-निरूपण किया गया तथा सबसे पहले, काव्य-सौंदर्य क्या है, इस समस्या (भामह के वक्रोक्ति-सिद्धांत में इस समस्या का संकेतमात्र ही किया गया है) को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त इसका विवेचन भी किया गया, और इस प्रकार विच्छित्ति- (अथवा उक्ति-वैचित्र्य) सिद्धांत का पूर्व-संकेत किया गया, जिसका आचार्य कुंतक तथा अलंकार-सिद्धांत के अन्य समर्थकों ने बाद में विकास किया था। ध्वनिकार ने पहली बार काव्य के वास्तविक स्वरूप-निरूपण के लिए रीति-मत की अप्रत्यक्ष रूप में प्रशंसा की है। यद्यपि यह निरूपण स्पष्ट नहीं है; किंतु ध्वनिकार रीति के विचित्र सिद्धांत से सहमत नहीं है। अलंकार-मत की अपेक्षा रीति-मत में काव्य के आवश्यक लक्षणों के अंतर्गत रस को भी मान्यता दी गई है (कांति में अर्थगुण के रूप में)। वामन रूपक के पक्षपाती थे, उन्होंने रूपक को प्रबंध का उत्तम रूप मानते हुए उसे काव्य के अन्य रूपों का स्रोत भी माना है ((i.3,30-32)। क्योंकि रस-सिद्धांत के आचार्य रूपक में रस के मौलिक महत्त्व का निरूपण कर चुके थे, इसलिए वामन ने भी रस के महत्त्व का अनुभव करते हुए उसे काव्य का एक आवश्यक लक्षण मान लिया (iii. 2, 15 तथा वृत्ति)। संभवतः उन्होंने अपने काव्य के लक्षण को इसलिए इतना व्यापक बनाया, ताकि उसके अंतर्गत ऐसा काव्य भी आ सके, जिसमें रस का परिपाक नहीं होता। 'काव्य-शोभा', जिसे संभवतः उन्होंने दंडी से उद्धृत किया है (ii. 1) अथवा उसका पर्याय, सौंदर्य, सभी प्रकार के काव्य का चरम निकष है; वामन के मतानुसार काव्य का यह सौंदर्य-सिद्धांत तत्संबंधी सामान्य बुद्धि के अनुरूप है, मुख्यतः तथाकथित काव्य-गुणों के प्रयोग से दोष-मुक्त तथा आनुषंगिक रूप से काव्य के शोभावर्धक अलंकारों से युक्त, सुव्यवस्थित काव्य शैली से ही उक्त सौंदर्य की निष्पत्ति होती है।

1. इसकी उद्योत से तुलना कीजिए, चंदोरकर सं०, पृ० 39.

यद्यपि वामन ने रीति-सिद्धांत को बड़े युक्तियुक्त रूप में प्रस्तुत किया और उनके मतानुयायियों ने इसका समर्थन भी किया, तथापि यह सिद्धांत बहुत प्रभावशाली न हो सका; इसका अस्तित्व अपेक्षाकृत अल्पकालीन ही रहा।[1] इसमें संदेह नहीं कि रस तथा अलंकार के सिद्धांतों की तरह परवर्ती काव्य-सिद्धांत रीति से प्रभावित रहे, किंतु वामन के पश्चात् परवर्ती लेखकों में किसी ने भी रीति का समर्थन नहीं किया. और न ही इसे किसी आचार्य ने निर्विवाद रूप में स्वीकार किया। आनंदवर्धन के समय से रीति के सामान्य सिद्धांत की निंदा तथा कटु आलोचना की जाने लगी और रीति को काव्य-स्वरूप का अत्यंत भोंडा निरूपण बताया गया। अर्वाचीनतम मत के प्रमुख आचार्य मम्मट ने रीति का बड़ी कुशलता से विरोध करते हुए वामन के मुख्य विचारों का निराकरण किया है।

यह द्रष्टव्य है कि परवर्ती आचार्यों ने रीति मत के कुछ मोटे-मोटे सिद्धांतों को अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता दी है। काव्य-विद्या में रीति अथवा शैली का महत्त्व निश्चित रूप में प्रतिष्ठित तो हो गया, किंतु इसमें भारी परिवर्तन किए गए। ध्वनि-मत ने इसे रस-ध्वनि के निष्पादक के रूप में स्वीकार कर लिया, ध्वनि-निष्पत्ति के लिए शब्द अथवा अक्षर-विन्यास को ही रीति का मुख्य लक्षण मान लिया गया।[2] इस परिवर्तन के कारण रीतियों के भेद-विवेचन की चर्चा के महत्व में कमी हो जाना स्वाभाविक था। वामन की तीन रीतियों को 'ध्वन्यालोक' के लेखकों ने अपने तीन गुणों का पर्याय मान लिया, किंतु परिवर्ती आचार्य रीति के सिद्धांत में थोड़ी-बहुत रुचि लेते ही रहे। ऐसे लेखक, जिन्होंने रीति-मत अथवा ध्वनि-मत में से किसी का भी समर्थन नहीं किया है, उन्होंने भी इस विषय पर काफी ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए, रुद्रट ने वामन की तीन रीतियों के अतिरिक्त लाटी का भी उल्लेख किया है, यद्यपि रीति से रुद्रट का तात्पर्य समस्त पदावली का निश्चित प्रयोग है। अग्निपुराण में इस चतुर्धा भेद-निरूपण को स्वीकार किया गया है, किंतु

---

1. वामन के एक टीकाकार, सहदेव, का कथन है कि वामन के ग्रंथ का प्रचलन नहीं रहा तथा भट्ट मुकुल ने वामन के ग्रंथ की एक प्रति प्राप्त करके वामन की परंपरा का पुनरुद्धार किया था (!)। गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज में 'काव्य-मीमांसा' सं० के पृ० 5 पर टिप्पणी देखिए।
2. वर्ण-संघटना, धर्मत्व, आनंदवर्धन, पृ० 5 अध्याय 2, श्लोक 8-11 भी देखिए।

रीति-भेद, वाक्य के छोटे अथवा बड़े होने के अतिरिक्त सौकुमार्य गुण तथा आलंकारिक उपचार के आधिक्य पर भी आश्रित रहता है। भोज ने अग्नि-पुराण की चार प्रकार की रीतियों में दो और रीतियों, अर्थात् मागधी तथा अवंतिका का उल्लेख करके रीतियों की संख्या में और भी वृद्धि कर दी। मागधी शैली, वैदर्भी तथा पांचाली की मध्यवर्ती शैली है तथा अवंतिका केवल खंड-रीति, अर्थात् विकृत अथवा अपूर्ण रीति है। राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमांसा' नामक ग्रंथ में वामन की ही तीन रीतियों का उल्लेख किया है, किंतु अपनी 'कर्पूरमंजरी' में उसने 'वच्छोमि' (वत्सगुल्म से)[1], 'माअही' (मागधी) तथा 'पंचालिआ' (पांचाली) नामक तीन रीतियों का उल्लेख किया है। ज्येष्ठ वाग्भट ने केवल दो रीतियों, पांचाली तथा लाटीया का उल्लेख किया है। पांचाली में कुछ समस्त पद होते हैं, किंतु लाटीया में नहीं। किंतु कनिष्ठ वाग्भट ने वामन की तीन रीतियों को स्वीकार करते हुए, माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों के आधार पर उनका वर्गीकरण अथवा रूप-भेद किया है। मम्मट के समय से इन्हीं तीन गुणों को प्रामाणिक माना गया था। ध्वनिकार ने इस विषय की चर्चा नहीं की है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि आनंदवर्धन ने उद्भट की तीन वृत्तियों तथा वामन की तीन रीतियों को समक्षेत्रीय कहा है, इस संबंध में मम्मट का कथन इस प्रकार है—'एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी-पांचाल्याख्या रीतयो मताः'।[2]

---

1. विदर्भ में, वास्तव में यह वैदर्भी ही है।

2. किंतु सैद्धांतिक रूप से वृत्ति तथा रीति के परस्पर भेद को सदैव स्वीकार किया गया है। प्रारंभ में वत्तियाँ, नाट्य-प्रबंध की विभिन्न शैलियाँ थीं (भरत iii. 25), उद्भट ने उन्हें अनुप्रास के भेद माना है (i.4 इत्यादि)। क्योंकि विभिन्न रसों के निष्पादक (अभिनवगुप्त के कथनानुसार, 'लोचन' पृ० 5-6), उपयुक्त विचारों की अभिव्यक्ति, विशिष्ट अक्षरसंघटना अर्थात् अनुप्रास पर ही निर्भर होती है; अतएव, रुय्यक का कथन है—'वृत्तिस्तु रस-विषयो व्यापारः, तद्वती पुनर्वर्णरचनेह वृत्तिः,' पृ० 20-21. इसके विपरीत, अधिकांशतः, प्रबंध के विभिन्न गुणों का वस्तुनिष्ठ समंजन ही रीति है, यद्यपि इसमें अर्थ को भी महत्त्व प्राप्त है। अक्षर-संघटना से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक प्रभाव तथा उस संघटना का निर्दिश्यमान अर्थ ही वृत्ति का विषय होता है। एक ही रीति अनेक वृत्तियों का कारण हो सकती है और विभिन्न रीतियों में एक ही वृत्ति हो सकती है, यद्यपि आचार्यों ने समानता रखने के लिए प्रत्येक रीति की पृथक् वृत्ति निर्दिष्ट की है। आनंदवर्धन ने स्पष्ट रूप में नाट्य वृत्ति तथा काव्य वृत्ति के

अभिनवगुप्त के मत में (पृष्ट 6) वामन की तीन रीतियाँ गुणों के विशिष्ट संयोग से क्रमशः उदात्त, कोमल तथा मध्यवर्ती विषयों को परिलक्षित करती हैं, किंतु इन रीतियों तथा उद्भट की वृत्तियों का गुणों तथा अलंकारों से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं। अतएव रीति की अपेक्षा गुणों तथा अलंकारों पर अधिक ध्यान दिया जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि वामन के मतानुसार वे रीति के ही अंग हैं। रीति को केवल रस की निष्पत्ति में सहायक विशिष्ट पदविन्यास अथवा वर्ण-संघटना के रूप में ही स्वीकार किया गया है। सामान्य अलंकारात्मक कल्पना के अनुसार रीति का रस से वही संबंध है, जो शरीर का आत्मा से है (पद-संघटना रीतिसंस्थाविशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्, विश्वनाथ ix)। इसका तात्पर्य यह है कि गुण तथा अलंकार रीति के पोषक न होकर रस के पोषक हैं, क्योंकि परवर्ती काव्य-सिद्धांतों में रस को काव्य के एक मूल अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। हम पहले ही बता चुके हैं कि आनंदवर्धन के मतानुसार (पश्चात्) गुणों को प्रबंध में रस के (रीति के नहीं, जैसा कि वामन ने कहा है) अभिन्न अंग तथा उत्कर्षहेतु मान लिया गया है (अंगिनो रहस्य उत्कर्षहेवत: अचल स्थितयो गुणा;, मम्मट, viii. 1)। इसके विपरीत, काव्याश्रित अलंकार केवल काव्य शक्ति, अर्थात् शब्द तथा अर्थ के गुणधर्म होते हैं[1] और आनुषंगिक रूप में रस-निष्पत्ति में सहायक होते हैं (वही viii. 2)।

परस्पर भेद का उल्लेख किया है, उनका कथन है कि नाट्य-वृत्ति अर्थाश्रित होती है तथा काव्य-वृत्ति पर आश्रित होती है—'वाच्याश्रया यो व्यवहारस्ता एता: कौशिकाद्यावृत्तय:, वाचकाश्रयश्चोपनागरिकाद्याः।' प्रबंधगत रसादि तात्पर्य से वे नाट्य तथा काव्य की शोभा को बढ़ाती हैं—'वृत्तयो हि रसादि-तात्पर्येण सन्निविष्टः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहति' पृ० 182. राजशेखर ने (काव्यमीमांसा, पृ० 9) एक लघूक्ति में इनके परस्पर भेद को व्यक्त किया है, यद्यपि उनका कथन शुद्ध नहीं है—'तत्र वेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलास-विन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यास-क्रमो रीतिः।' वृत्ति के विषय की सामान्य चर्चा के लिए, राघवन का 'सम कान्सेप्ट्स,' पृ० 182-93 तथा 'श्रृंगार-प्रकाश' पृ० 196-215 देखिए।

1. जैसा कि आगे बताया जाएगा, मम्मट ने गुण को रस का अंग माना है, यदि गुणों को शब्द तथा अर्थ के अंग कहा जाता है तो यह केवल उपचार-कथन ही है (उपचारेण), किंतु जगन्नाथ ने (पृ० 33-35) वामन के प्राचीन मत को आधार मानकर उक्त कथन का विरोध किया है और कहा है कि यह प्रयोग अलंकाराश्रित नहीं है।

काव्य-सौंदर्य के विषय में वामन के मत को स्वत:सिद्ध माना गया है, किंतु परवर्ती काव्य सिद्धांतों में यह मत, सभी प्रकार की आलंकारिक अभिव्यक्ति में निहित, विच्छित्ति, वैचित्र्य अथवा कवि-प्रौढ़ोक्ति से निर्दिष्ट कुछ परिवर्तित रूप में दृष्टिगोचर होता है।

यद्यपि काव्य का सामान्य सिद्धांत, रीति के उपर्युक्त तथा महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों से अवश्य संपन्न हुआ, तथापि रीति के मूल सिद्धांत को पूर्ण रूप में मान्यता प्राप्त न हो सकी। रीति-मत ध्वनिकार का प्रतिस्पर्धी भी न हो सका, क्योंकि वामन ने केवल औपचारिक दृष्टिकोण से ही काव्य का विवेचन किया, किंतु ध्वनिकार ने काव्य की अंतरात्मा का विवेचन किया। इस मत के अंतर्गत रीति का न्यूनाधिक वस्तुनिष्ठ लक्षण, काव्य के परम सिद्धांत के अन्वेषण के लिए पर्याप्त नहीं था। इस विषय में विश्वनाथ ने ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के मतानुसार रीति को एक प्रकार का औपचारिक विन्यास तथा अंगों का विशिष्ट संघटन बताते हुए उक्त आपत्ति को लक्षित किया है। जिसे काव्य की आत्मा कहा गया है, वह रीति से सर्वथा भिन्न है।[1] यद्यपि अनेक प्रकार की शैलियों अथवा रीतियों का विश्लेषण विचक्षणता का द्योतक है, किंतु जैसा कि स्वयं दंडी ने बहुत पहले ही स्वीकार किया है (i. 101-2) सभी प्रकार की काव्यात्मक अभिव्यक्ति को पृथक्-पृथक् नाम देना, उनका जाति-भेद-विवेचन करना तथा उनके निश्चित गुण-धर्म बताना असंभव-प्राय था। रीति-मत में वैदर्भी, गौडी तथा अन्य प्रकार की शैलियों के परस्पर भेद-निरूपण (अनुभवजन्य तथ्यों के सिवा) का ईर्ष्यास्पद तथा निरर्थक प्रयत्न किया गया, इसलिए इसकी आलोचना तथा विरोध होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि इन शैलियों के वास्तविक रूप में मतभेद रहना अनिवार्य था। इसी प्रकार, न्यूनाधिक औपचारिक विश्लेषण के आधार पर सभी काव्य-गुणों तथा काव्य-दोषों को निश्चित सीमाओं में रूढ़ कर देने का प्रयत्न युक्तिसंगत न हो सका। मम्मट ने गुणों के सूक्ष्म भेद-निरूपण अथवा अधिकाधिक संख्या में उनके भेद-विवेचन का निश्चित रूप में विरोध किया तथा (आनंदवर्धन के मतानुतार, पृ० 79 इत्यादि) काव्य-रस के परम अंगों के रूप में उनकी संख्या घटाकर केवल तीन कर दी—माधुर्य,

---

1. यत्तु वामनेनोक्तं—रीतिरात्मा काव्यस्य इति, तन्न, रीतेः संघटनाविशेषत्वात्, संघटनायाश्चावयवसंस्थान-रूपत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात, पृ० 18, दुर्गाप्रसाद सं०, 1915 (यह द्रष्टव्य है कि विश्वनाथ ने रीति को यहाँ संघटना का एक प्रकार कहा है)।

ओज तथा प्रसाद। काव्य के अन्य सूक्ष्मतर सिद्धांतों के अन्वेषण के हेतु, सभी प्रकार के काव्यों को रूढ़ रीतियों तथा गुणों में ढाल देने का प्रयत्न अंततोगत्वा त्यागना ही पड़ा। इस प्रकार का एक सिद्धांत, काव्य-लक्षित रस के रूप में स्वीकार कर लिया गया। रूपकाश्रित रस-सिद्धांत की मीमांसा पहले ही की जा चुकी थी। ध्वनि के आचार्यों ने काव्य के एक महत्त्वपूर्ण सौंदर्यबोधक आधार के रूप में उक्त रूपकाश्रित रस-सिद्धांत का प्रयोग किया। अगले कुछ अध्यायों में इसी विषय पर चर्चा की जाएगी।

अध्याय : चार

लोल्लट इत्यादि

(रस-सिद्धांत)

(१)

एक ओर काव्यविधा के प्राचीन मतों में अलंकार तथा रीति के सिद्धांतों का विकास हुआ तो दूसरी ओर कई ऐसे लेखक भी हुए, जिन्होंने भरत के मतानुसार नाट्याश्रित रस के विषय का विवेचन तथा भरत के तत्संबंधी बहुविवेचित सूत्र की व्याख्या की।[1] नाट्याश्रित होने के कारण उनकी व्याख्या उस समय तक यथार्थ रूप में काव्यविधा के क्षेत्र से बाहर थी, क्योंकि काव्यविधा में अलंकार तथा रीति के सिद्धांतों का ही प्राधान्य था। ध्वनिकार तथा उसके मतानुयायियों ने काव्यविधा में रस के सिद्धांत का समावेश किया। उनके पहले काव्यविधा के सिद्धांतों के अंतर्गत रस के सौंदर्यात्मक महत्त्व का किसी ने अनुभव नहीं किया था। इसी अवधि में नाट्याश्रित रस के सिद्धांत में अनेक रसात्मक सिद्धांतों की मीमांसा के फलस्वरूप नाटक के एक अंग के नाते रस को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था। इस प्रकार रस के सिद्धांत ने, कुछ अंशों में काव्यविधा के प्राचीन सिद्धांतों को प्रभावित किया। काव्यविधा के ये सिद्धांत प्राचीन काल में भी रस-सिद्धांत से अछूते नहीं थे। अलंकार अथवा रीति के सामान्य सिद्धांतों में वास्तव में रस को स्थान प्राप्त था, यद्यपि उसे अधिक महत्व नहीं दिया गया था।

इस विषय पर भामह तथा दंडी के विचारों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। भामह ने अलंकार अथवा वक्रोक्ति को काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग कहा है। संभवतः उन्हें काव्य में रस की शक्ति का स्पष्ट ज्ञान नहीं था; केवल रसवत् अलंकार के लक्षण में इसका प्रत्यक्ष उल्लेख किया

---

1. ऊपर देखिए, पृ० 21. सूत्र इस प्रकार है—विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रस-निष्पत्तिः।

गया है। भामह के कथनानुसार रसवत् में रसों का स्पष्ट निर्देश होना चाहिए (रसवद् दर्शित-स्पष्ट-शृंगारादिरसम्, iii. 6)। इस प्रकार भामह के सिद्धांत में केवल एक विशिष्ट अलंकार के अंतर्गत समावेश होने के कारण रस को बहुत गौण स्थान दिया गया है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि भामह को शृंगार इत्यादि नाट्याश्रित रसों का ज्ञान था, किंतु उनके समय में रसों की उत्पत्ति तथा उनकी शक्ति से संबंधित चिंतन का आरंभ नहीं हुआ था। इस विषय के परवर्ती लेखकों ने जिस बाहुल्य से 'विभाव', 'अनुभाव' इत्यादि शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है, भामह ने, दंडी की तरह, उनके प्रयोग को आवश्यक नहीं समझा। भामह के मतानुसार काव्य में रस का अस्तित्व अनिवार्य नहीं है, किंतु कभी-कभी किसी अलंकार द्वारा भी रस को लक्षित किया जा सकता है। निस्संदेह अपने ग्रंथ के अध्याय i श्लोक 21 में भामह ने यह कहा है कि महाकाव्य में सभी रसों का पृथक्-पृथक् वर्णन होना चाहिए और अध्याय v के श्लोक 3 में उन्होंने यह भी कहा है कि काव्य-रस द्वारा शास्त्रों की रुक्षता का निराकरण होता है। रुद्रट ने भी इस मत का समर्थन किया है (xii., 1-2)। संभवत: इसी कथन से प्रेरित होकर अभिनव-गुप्त ने शास्त्र को 'प्रभु-सम्मित' तथा काव्य को 'जाया-सम्मित' कहा है। संभवत: 'काव्य-रस' शब्द यहाँ अशास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। यदि अभिनवगुप्त के मतानुसार (—लोचन पृ० 182) इस शब्द को शास्त्रीय अर्थ में ग्रहण कर भी लिया जाए तो इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्ववर्ती लेखकों ने रस को काव्य का बाह्य शोभाकर ही माना है[2], यद्यपि नाटक में सभी रसों की निष्पत्ति हो सकती है। (i.21)

रस की मान्यता के विषय में न्यूनाधिक यही कथन दंडी पर भी लागू होता

---

1. वक्रोक्ति पर भामह के मुख्य श्लोक (ii. 85) 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिर-नयार्थो' पर टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने रस-विषयक अपने विचारों को लक्षित करने का प्रयत्न किया है तथा इस श्लोक में 'विभाव्यते' शब्द की शास्त्रीय रूप में इस प्रकार व्याख्या की है—प्रमदोद्यानैर्विभावतां नीयते, विशेषेण च भाव्यते, रसमयीक्रियते इति—उन्होंने प्रकट रूप में भामह को वक्रोक्ति का अर्थ यह लगाया है कि वक्रोक्ति द्वारा काव्यार्थ रसानुकूल हो जाता है। इस प्रकार शास्त्रीय अर्थ में 'विभाव्यते' शब्द के प्रयोग से भामह का तात्पर्य यह है कि रस तथा अलंकार दोनों का उद्‌भव वक्रोक्ति से हुआ है।

2. दंडी ii. 292 से भी इसी प्रकार का भेद-विवेचन लक्षित होता है; रस के दो अर्थ किए जा सकते हैं (आगे देखिए) :—(1) काव्य-रस अथवा काव्य-

है; किंतु भामह की अपेक्षा दंडी को रस के महत्त्व का अधिक ज्ञान था। भामह की तरह दंडी ने रसवत् इत्यादि अलकारों में रसों के सन्निवेश को स्वीकार किया है, अन्यथा उनके सिद्धांतों में रस को कहीं स्थान प्राप्त न हो सकता था। यह कहा जा सकता है[1] कि दंडी ने रीति के एक आवश्यक गुण, अर्थात् माधुर्य, के अंतर्गत रस को महत्त्व दिया है। माधुर्य का लक्षण इस प्रकार है····शब्द तथा वस्तु में रस की स्थिति (वाचि वस्तुन्यपि रस-स्थिति, i. 51), किंतु अध्याय 2 के श्लोक 292 में दंडी ने माधुर्य गुण में रस शब्द से अग्राम्यत्व को ही लक्षित किया है[2], उन्होंने शास्त्रीय अर्थ में रस को स्वीकार नहीं किया है।[3]

दंडी के मतानुसार (i. 51-7) माधुर्य-गुण के दो रूप हो सकते हैं। वाग्-रस तथा वस्तु-रस। वाग्-रस में श्रुत्यनुप्रास रहता है[4] तथा वस्तु-रस में अग्राम्यत्व होता है। हेमचंद्र ने वाक् अथवा वस्तु पर आश्रित दंडी के माधुर्य गुण में रस की व्याख्या इस प्रकार की है (पृ० 198) 'श्रुति वर्णानुप्रासाभ्यां

रस से उद्भूत सौंदर्य-सुख, तथा (2) नाट्य-रस के शास्त्रीय अर्थ में रस। यह द्रष्टव्य है कि प्राचीन श्रेणी-काव्य में संभवत: (माघ को छोड़कर) रस शब्द का नाट्य-रस के अर्थ में प्रयोग अत्यंत विरल है। यह काव्य-रस, सार रूप में भामह के 'वक्रोक्ति' से बहुत भिन्न नहीं है, क्योंकि संभवत:, यह सामान्य उक्ति से भिन्न, एक प्रकार की उदात्त अभिव्यक्ति ही है। प्राचीन श्रेणीगत साहित्य में रस शब्द को अशास्त्रीय अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिए, दंडी के 'रसवत्' तथा 'रसावह' इत्यादि शब्दों में भी यही अर्थ अपेक्षित है।

1. देखिए, जेकबी, ZDMG lvi. 1902, पृ० 401 पा० टि०।
2. वास्तव में, साधारण अर्थ में ग्राम्य शब्द प्राकृत अथवा असभ्य का द्योतक नहीं है, यद्यपि दंडी ने अश्लील को भी ग्राम्य ही माना है। ग्राम्य शब्द, अभिजात अथवा सभ्य के विपरीत, 'निम्न', 'गंवारू' अथवा 'लौकिक' का द्योतक है।
3. इस विषय पर 'हृदयंगम' टीका में अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है—'माधुर्य-गुण प्रदर्शित: शब्दार्थयोरग्राम्यतया जातो रसो वाक्यस्य भवति, अलंकार-तया निर्दिष्टं रसवत्त्वमष्टरसायत्तम्' (पृ० 167)। अंतिम अंश में ऐसा कहा गया है कि दंडी ने रसवत् इत्यादि रसाश्रित अलंकारों के प्रकरण में ही आठ प्रकार के नाट्याश्रित रसों को स्वीकार किया है। अध्याय 1 के श्लोक 64 में दंडी ने अग्राम्य अर्थ को रसावह कहा है।
4. ऊपर देखिए पृ० 74, पा० टि० 2. दंडी ने इस संदर्भ में (i. 52) अनुप्रास को इसी अर्थ में रसावह कहा है।

वाग्रसः······अग्राम्याभिधेयतया तु वस्तु-रसः।[1] इस प्रकार दंडी के माधुर्य-गुण में रस का विशिष्ट अर्थ है, इसलिए वह रस-सिद्धांत के अंतर्गत शास्त्रीय नाट्याश्रित रस से भिन्न है।[2]

किंतु यह भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार भरत तथा उनके मतानुयायियों ने रस-विचार का विवेचन किया था, दंडी उससे सर्वथा अनभिज्ञ थे। दंडी का कथन है (i. 18) कि महाकाव्य में रस तथा भाव अवश्य होना चाहिए। भामह का भी यही मत है (i. 21)। जिस प्रकार दंडी ने रसवत्, प्रेयस् तथा ऊर्जस्वी अलंकारों का विवेचन किया है (ii. 280-87), उससे यह स्पष्ट रूप में सिद्ध होता है कि उन्हें शास्त्रीय आठ रसों का ज्ञान था। उन्होंने इन सब का नामोल्लेख किया है। इनमें से चार रसों, अर्थात् शृंगार, रौद्र, वीर तथा करुण, को चर्चाधीन अलंकारों के अंग के रूप में उदाहृत किया है। यदि अभिनवगुप्त के कथन को स्वीकार कर लें[3] तब दंडी तथा भट्ट लोल्लट का रस-विषयक मत समान ही है (भट्ट लोल्लट के मत पर आगे चर्चा की जाएगी)। उनके मतानुसार

---

1. माणिक्यचंद्र इस व्याख्या से सहमत हैं—'श्रुति-वर्णानुप्रासाभ्यां वाग्-रसः, अग्राम्यतया तु वस्तु-रसः, इत्थं रसो द्वेधा (पृ० 189, आनंदाश्रम सं०)।

2. अध्याय 3 के श्लोक 149 (अथवा अध्याय iv. 26, मद्रास सं०) में रस शब्द का ऐसा ही अशास्त्रीय प्रयोग है (दंडी ने उसकी व्याख्या नहीं की है, किंतु इस स्थल पर व्याख्या की है)। तरुणवाचस्पति ने उक्त श्लोक में 'गिरां रसः' (वाग्रसः) की व्याख्या 'साधुत्वं' से ही की है। अर्वाचीन टीकाकारों ने, निस्संदेह रस-विषयक अपने विचारों से भ्रांत होकर दंडी ने भी, उन्हीं विचारों को लक्षित करने का प्रयत्न किया है। दंडी ने कहीं भी रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं कहा है, किंतु i. 10 पर टीका करते हुए हेमचंद्र ने इसी बात को दंडी से कहलवाना चाहा है। i. 62 में अर्थ-रस विशिष्ट रूप में 'अग्राम्यता' को ही लक्षित करता है।

3. नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय की टीका। हेमचंद्र ने पृ० 57 इत्यादि पर आंशिक रूप में इसका उद्धरण किया है। रस-विषयक सिद्धांतों से, जिनका विवेचन आगे किया गया है, संबंधित भरत के 'रस-सूत्र' पर अभिनव की बहुमूल्य टीका 'सर आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबिली कमेमोरेशन वाल्यूम' (ओरिएंटालिया, खंड iii. 1922) के अंतर्गत सुशील कुमार डे के लेख 'थियोरी ऑफ़ रस' के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुई है। इस अध्याय में उक्त लेख का काफी उपयोग किया गया है। लेख के पृष्ठों की संख्या देते हुए 'भरत पर अभिनव का टीका' के रूप में इसका उल्लेख किया गया है। सुशीलकुमार डे के 'सम प्राब्लम्ज़' पृ० 219-35 के अंतर्गत इस लेख का पुनर्मुद्रण हुआ है।

रस की निष्पत्ति विभावों तथा अनुभावों के कारण ही होती है। दंडी के तत्संबंधी विवेचन की अपर्याप्तता के कारण इस विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता, किंतु यह माना जा सकता है कि दंडी ने रति अथवा क्रोध इत्यादि स्थायी भावों से ही श्रृंगार अथवा रौद्र इत्यादि रसों की निष्पत्ति को स्वीकार किया है। रसवत् अलंकार के विषय में दंडी ने कहा है कि उसमें रस-निष्पत्ति का लक्षण होना चाहिए। इसी प्रकार के एक अलंकार में श्रृंगार-निष्पत्ति का उदाहरण देते हुए उन्होंने इस प्रकार कहा है—'रतिः श्रृंगारतां गता। रूपबाहुल्य योगेन' (ii. 281)। इसी प्रकार क्रोध से रौद्र की उत्पत्ति का कथन करते हुए उन्होंने कहा है—'इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः (ii. 283)। किंतु इन अलंकारों के अंतर्गत रस गौण रूप में होते हुए अलंकार का ही शोभाकारक होता है (अलंकारतया स्मृतम्), अथवा रस की निष्पत्ति रस के लिए नहीं होती, अपितु अभिव्यंजना की शोभा-वृद्धि के लिए होती है। अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि दंडी ने एक सीमा तक रस तथा भाव को स्वीकार किया है, किंतु अपने सिद्धांत के अंतर्गत वे इसे शब्द अथवा अर्थ के शोभाकारक के रूप में ही स्थान दे पाए थे। यदि ऐसा मान लिया जाय कि इन प्राचीन लेखकों ने अपने ग्रंथों में वस्तुनिष्ठ रस का ही प्रतिपादन किया है, तो अलंकार तथा रीति में रस को गौण स्थान मिलने का संभवतः यही कारण था।

यद्यपि वामन ने अन्य पक्षों में दंडी के सिद्धांत का परिमार्जन किया है, तथापि रस के विषय में उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सभी काव्याश्रित अलंकारों को आलंकारिक मात्रा मानते हुए रसवत् अलंकार का लक्षण नहीं दिया, किंतु काव्य के एक नित्य लक्षण के रूप में रस को अर्थ-गुण कांति के अंतर्गत स्वीकार किया है। इसका लक्षण है 'अर्थ-गुण, जिसे रस-दीप्ति युक्त होना चाहिए' (दीप्ति-रसत्वं कांतिः, iii. 2, 15)। संभवतः एक गुण के अंतर्गत रस का समावेश करने का संकेत भरत के कांति गुण के लक्षण से, अथवा प्रत्यक्षतः उसी के उदार-गुण के विशिष्ट लक्षण से प्राप्त हुआ, किंतु इतना स्पष्ट है कि दंडी तथा भामह की अपेक्षा वामन का रस-विषयक विवेचन निश्चित रूप में प्रगति का सूचक है। उन्होंने तो रस को केवल एक अनावश्यक अलंकार के रूप में ही स्वीकार किया था।

उद्भट ने इस विषय में मुख्यतः भामह का मतानुसरण करते हुए रस को रसवत्-जैसे अलंकारों का अंग माना है। जर्नल ऑफ़ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी 1897, के अंतर्गत जेबक द्वारा प्रकाशिक उद्भट के पाठ में, पृ० 847 पर निम्नलिखित श्लोक है—

रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्-रूपतया यतः।
कथ्यते तद् रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम् ॥

इस श्लोक में प्रकट रूप में रस को काव्य की आत्मा कहा गया है, यद्यपि उसके आधार पर किसी सौंदर्यात्मक सिद्धांत का प्रतिष्ठापन नहीं किया गया। किंतु यह श्लोक अपने संदर्भ में ठीक नहीं बैठता।[1] निर्णय-सागर प्रेस द्वारा मुद्रित पाठ में यह श्लोक नहीं है, यद्यपि प्रतीहारेंदुराज की संलग्न टीका के पृ० 77 पर 'तदाहुः' शब्द के साथ उद्धरण के रूप में इसका उल्लेख है। जेकब के पाठ से भ्रांत होकर जेकबी यही मान बैठा[2] कि उद्भट ही पहले लेखक हैं, जिन्होंने काव्य की आत्मा क्या है, इस विषय पर विवेचन किया तथा रस को ही काव्य की आत्मा कहा।

इतना स्पष्ट है कि चर्चाधीन श्लोक उद्भट का नहीं है। यह न तो अपने संदर्भ, न उद्भट के सामान्य सिद्धांत और न ही उद्भट के रसवत् के लक्षण से संगत है। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उद्भट को रस के किसी सिद्धांत तथा तत्संबंधी शास्त्रीय पक्षों का ज्ञान था, जो उनके द्वारा विभाव, स्थायी, संचारी (iv. 4) तथा अनुभाव (iv. 2) जैसे शब्दों के प्रयोग तथा भरत के अनुसार आठ रूढ़ नाट्य-रसों तथा नवें रस, अर्थात् शांत रस, के नामोल्लेख से सिद्ध होता है। उद्भट ने रसवत्-जैसे अलंकार के शोभाकर के रूप में इन सब बातों पर विचार किया है[3]। रस का अपना

1. यह श्लोक (vi. 17) काव्यलिंग अलंकार (vi. 16) के पश्चात् दिया गया है। इस अलंकार के लक्षण-निरूपण के पश्चात् उसका उदाहरण अपेक्षित था, जो उक्त श्लोक के पश्चात् अगले श्लोक (vi. 18) में दिया गया है। यदि जेबक के पाठ को प्रामाणिक मान लिया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि 'रसाद्यधिष्ठितं' श्लोक (vi. 17), काव्यलिंग के लक्षण तथा उसके उदाहरण के बीच में बरबस घुसा दिया गया है। वास्तव में, यह श्लोक काव्यलिंग पर प्रतीहारेंदुराज की टीका में है, किंतु संपादक ने गलती से इसे उद्भट के पाठ में मिला लिया है।

2. ZDMG 1902, पृ० 396.

3. उद्भट द्वारा दिए गए रसवत् इत्यादि के लक्षण भामह तथा दंडी के लक्षणों से भिन्न हैं। उन्होंने समाहित नामक एक नए अलंकार को भी स्वीकार किया है। उनके मतानुसार प्रेयस् श्रृंगार जैसे भाव तक ही सीमित रहता है, उसमें रस की निष्पत्ति नहीं होती। रसवत् में स्वशब्द, स्थायी, संचारी, विभाव तथा अनुभाव के द्वारा रसों की पूर्ण निष्पत्ति लक्षित होती है। उर्जस्वी, अनौचित्यप्रवृत्त रस अथवा भाव को लक्षित करता है। यह परवर्ती लेखकों के रसाभास के अनुरूप है। रस, भाव अथवा उसके आभास का समाहृत हो जाना, समाहित का लक्षण है।

कोई महत्त्व नहीं है। विशिष्ट अलंकार का शोभावर्द्धक होना ही रस का लक्षण है। अतएव, प्रतीहारेंदुराज का कथन है कि उद्भट ने, रस तथा भाव का क्या लक्षण है तथा काव्य की आत्मा के रूप में उनका क्या महत्त्व है, इस विषय को अतिप्रासंगिक तथा अप्रासंगिक समझते हुए अछूता रहने दिया है।[1]

इसके विपरीत, रुद्रट संभवतः प्राचीनतम लेखक हैं, जिन्होंने अपने काव्य-विधा के निरूपण में रस के विषय का स्पष्ट रूप में समावेश करते हुए चार अध्यायों में इसकी चर्चा की है। अपने ग्रंथ के आरंभ में उन्होंने सरस काव्यों की रचना से अनंत यश प्राप्त करनेवाले कवियों की प्रशंसा की है। बारहवें अध्याय में उन्होंने भरत के आठ रूढ़ रसों के अतिरिक्त प्रेयस् तथा शांत के साथ दस रसों का उल्लेख किया है[2] तथा इसी संदर्भ में नायक तथा नायिका के लक्षणों-सहित शृंगार का वर्णन किया है। अगले दो अध्यायों में शृंगार के दो भेदों, संभोग तथा विप्रलंभ तथा तत्संबंधी विषयों का निरूपण है। तत्पश्चात् एक लघु अध्याय में शृंगार के प्रत्येक भेद के अनुकूल रीति का स्वरूप-निरूपण किया गया है।[3] काव्य के अंग के रूप में रुद्रट ने रस को क्या महत्त्व दिया है,

1. संभवतः उद्भट ने भी भरत के नाट्यशास्त्र पर एक टीका लिखी थी, जैसा कि उद्भट द्वारा नाट्यशास्त्र के iv. 15 के एक पाद के उद्धरण (iv.5, यह कहना संदेहास्पद है कि यह उद्भट का कारिका श्लोक है) तथा विभाव इत्यादि शास्त्रीय शब्दों के प्रयोग से सूचित होता है। उन्हें भरत के पाठ का ज्ञान था। किंतु यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि उद्भट भरत के मतानुयायी थे। इसके विपरीत, सैद्धांतिक दृष्टिकोण से, उद्भट, भामह के मत के निःसंदिग्ध अनुयायी थे।

2. यदि उद्भट का iv. 5 कारिका-श्लोक है (और प्रतीहारेंदुराज की टीका से उद्भट के पाठ में गलती से इसका प्रक्षेप नहीं किया गया है) तब उद्भट ही प्रथम लेखक हैं, जिन्होंने भरत के आठ रसों में शांत रस को स्थान दिया है। भामह, दंडी तथा उद्भट का प्रेयस् अलंकार ही संभवतः रुद्रट के प्रेयस् रस को लक्षित करता है। xii. 4 में, जैसा कि नमिसाधु ने ठीक ही कहा है, उद्भट ने भरत को आचार्य शब्द से निर्दिष्ट किया है।

3. जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रुद्रट ने समास प्रयोग के संदर्भ में ही रीति के लक्षणों का विवेचन किया है। प्रेयस्, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसों के लिए उन्होंने वैदर्भी तथा पांचाली रीतियों को तथा रौद्र के लिए लाटीया तथा गौडीया रीतियों को निर्दिष्ट किया है। अवशिष्ट रसों के लिए कोई निर्दिष्ट नियम नहीं है। उन्होंने इसी संदर्भ में औचित्य शब्द का प्रोयग करके औचित्य सिद्धांत का मार्गदर्शन किया। सबसे पहले आनंदवर्धन ने रस-निरूपण के संबंध में इसी औचित्य के आधार पर अपने औचित्य-सिद्धांत का विवेचन किया था।

यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि उन्होंने तत्संबंधी सैद्धांतिक पदों को बिल्कुल अछूता ही रहने दिया है। ग्रंथ के सोलह में से केवल चार अध्यायों में रस का सैद्धांतिक के बदले विवरणात्मक विवेचन है। शेष ग्रंथ में काव्यात्मक अलंकारों का सविस्तर निरूपण है। रुद्रट ने अलंकारों को अधिक महत्त्व दिया है। पाठकों के लिए सरस काव्य की रचना के विषय में उनका कथन है (xi., 1) कि वे लोग, जो रसास्वादन करते हैं, किंतु शास्त्र से डरते हैं, उन्हें सरस काव्य के माध्यम से चतुर्वर्ग का उपदेश देना सरल है। उनके मतानुसार, काव्य को सरस बनाने का मुख्य उद्देश्य यही है। रुद्रट ने शब्द तथा अर्थ को काव्य के दो अंग कहा है। उनके अनुसार काव्यात्मक अलंकार इन्हीं अंगों के शोभाकर होते हैं; किंतु उन्होंने यह नहीं बताया कि उनके सिद्धांत में रस का समावेश किस प्रकार हुआ। इससे यह संदेह हो सकता है कि उनके ग्रंथ के अंतर्गत रस-विषयक अध्याय प्रक्षिप्त अंश हैं, यद्यपि वे उनके सामान्य सिद्धांत के अंतर्गत नहीं हैं। सिद्धांत पक्ष के दृष्टिकोण से रुद्रट का रस-मत से कोई संबंध नहीं है। वे अलंकार-मत के ही समर्थक हैं और इस प्रकार वे रुद्रभट्ट से भिन्न हैं। रुद्रभट्ट के सिद्धांत का मुख्य विषय रस-विषयक ही है। रुय्यक तथा जयरथ के साक्ष्य से भी इस बात की पुष्टि होती है। रुय्यक का कथन है[1] कि रुद्रट ने अलंकार पर, जिसमें रस-सहित ध्वनि के तीन भेद भी सम्मिलित हैं, विशेष बल दिया है। रस तथा भाव को परिलक्षित करनेवाले रसवत् इत्यादि अलंकार अभिधार्थ के शोभाकरों के रूप में स्वीकार किए गए हैं।[2]

ध्वनि सिद्धांत के आचार्यों से पूर्व काव्यविधा के प्राचीन लेखकों ने काव्य के बाह्यांग, अर्थात् काव्य-शरीर की मीमांसा करने में ही स्वयं को कृतार्थ समझा। उन्होंने काव्य के आभ्यंतरिक सौंदर्यात्मक सिद्धांत अर्थात् काव्य की आत्मा क्या है, इस समस्या पर अधिक ध्यान नहीं दिया। उन्होंने काव्यात्मा

1. काव्यमाला सं०, पृ० 5. समुद्रबंध इससे सहमत हैं।
2. रुद्रट के xii. 2 पर टीका करते हुए नमिसाधु का कथन है कि लेखक के मतानुसार, शब्द तथा अर्थ काव्य का शरीर; काव्यात्मक अलंकार, कृत्रिम अलंकारों के समान तथा रस, बल तथा सौंदर्य इत्यादि सहज गुणों के समान होता है (रसास्तु सौंदर्यादय इव सहजा गुणाः)। किंतु रुद्रट के ग्रंथ में ऐसा कुछ नहीं है, जिससे उनके पूर्वोक्त मत को पुष्टि होती हो, विशेषतया जबकि रुद्रट के काव्य-निरूपण में अलंकारों का बड़ा महत्त्व है। उनको काव्य का केवल कृत्रिम अलंकार कहना उनके मत के विरुद्ध है। ऊपर देखिए, पृ० 56-57.

का, जैसा कि कुछ परवर्ती लेखकों ने कहा है, रस नामक मनोवैज्ञानिक तत्त्व से तादात्म्य भी नहीं किया। निस्संदेह, रीति को काव्य की आत्मा कहकर वामन ने इस समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया है; किंतु वामन के मतानुसार, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रीति, काव्यात्मक व्यक्तित्व की अभिव्यंजना न होकर निश्चित काव्य-गुणों के समुचित प्रयोग से निष्पन्न वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति है। अतएव, प्राचीन लेखकों ने अलंकार अथवा रीति को अत्यधिक महत्त्व दिया। काव्य में इन्हें यथेष्ट लाभप्रद समझा गया। यद्यपि उन्होंने काव्य के सभी रूपों में सौंदर्य, जिसे संस्कृत साहित्य में रस नाम से लक्षित किया गया है, की अनिवार्यता को स्वीकार किया, तथापि वे काव्य के बाह्यांग शोभाकर के सिद्धांत से उसका साहचर्य स्थापित न कर सके। उन्होंने रस को काव्यात्मक अलंकारों का एक अंग कहा तथा भाषा के न्यूनाधिक एक शोभाकर के रूप में ही उसका विवेचन किया; अथवा रीति-गुण के एक अंग के रूप में ही उन्होंने रस का निरूपण किया। उनके पास रस को मान्यता प्रदान करने की और कोई विधि नहीं थी। यही कारण है कि ध्वनिकार ने (iii. 52) काव्य-स्वरूप-निरूपण के विषय में पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धांतों को अपरिपक्व तथा अपर्याप्त बताते हुए अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया है, जिसमें रस-ध्वनि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(२)

प्राचीन काव्य सिद्धांत के अंतर्गत रस को आनुषंगिक स्थान दिए जाने का कारण यह था कि भरत के नाटकाश्रित रस-निरूपण को प्रामाणिकता मिल चुकी थी। इस विषय के अनेक टीकाकारों तथा लेखकों ने रस का सविस्तर विवेचन किया था। प्राचीन आचार्यों का उससे एक सीमा तक प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भरत के रस-विषयक सूत्र[1] की अस्पष्टता के कारण उनके मतानुयायियों को बड़ा परिश्रम करना पड़ा और फलस्वरूप उसकी यथार्थ व्याख्या के विषय में बड़ा मतभेद हो गया। क्योंकि प्रत्येक लेखक ने अपने ही दृष्टिकोण से इस सूत्र की व्याख्या की, इसलिए रस

1. अर्थात्, विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रस-निष्पत्तिः (ऊपर देखिए, पृ० 21); संयोग तथा निष्पत्ति शब्दों की विभिन्न व्याख्या के आधार पर विभिन्न सिद्धांतों की प्रतिष्ठा की गई है। इन दो शब्दों की अस्पष्टता के अतिरिक्त यह द्रष्टव्य है कि स्थायी अथवा स्थायि-भाव शब्दों का इस सूत्र में अभाव है।

के अनेक सिद्धांतों का जन्म हुआ। लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनव-गुप्त के नामों से संबंधित इस प्रकार के रस-विषयक चार सिद्धांत विद्यमान हैं; किंतु जगन्नाथ ने (रसगंगाधर, पृ० 28) आठ विभिन्न मतों का उल्लेख किया है।

संभवतः भट्ट लोल्लट इसी प्रकार के एक प्राचीनतम टीकाकार थे। दुर्भाग्यवश उनका ग्रंथ लुप्त हो चुका है। भरत के नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त की टीका के अंतर्गत उनके मत की संक्षिप्त समीक्षा की अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती।[1] लोल्लट के मत पर चर्चा करनेवाले सभी परवर्ती लेखकों ने भी अभिनवगुप्त की टीका के उन अंशों का न्यूनाधिक उद्धरण ही किया है।[2] एक विपक्षी आलोचक की इस संक्षिप्त व्याख्या से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भरत के सूत्र की व्याख्या करते हुए लोल्लट ने विभाव को रस का प्रत्यक्ष कारण कहा है, जिससे रस एक अनुकार्य अथवा उत्पाद्य बन जाता है। भरत के निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति अथवा पुष्टि करना चाहिए। राम-जैसे पात्रों में उपलब्ध रस, अभिनेता के ही कारण होता है, जो कि रूप, वेशभूषा तथा अभिनय द्वारा पात्र का अनुकरण करते हुए दर्शकों को मंत्रमुग्ध करता है। मम्मट तथा उनके मतानुयायियों ने लोल्लट के उक्त मत को और भी स्पष्ट कर दिया है। उनका कथन है कि स्थायीभाव का राम-जैसे नायक से साक्षात् संबंध होता है (मुख्यतया वृत्या साक्षात् संबंधेन), किंतु मूल पात्र के कुशल अनुकरण के कारण अभिनेता में इस भाव का अस्तित्व रहता है। प्रकट रूप में इसी अनुकरण के कारण दर्शक मंत्रमुग्ध होते हैं। अतएव, रस का अस्तित्व नायक में ही होता है, किंतु आपत्ति यह है कि नायक की मानसिक स्थिति का अभिनेता पर कैसे आरोपण किया जा सकता है और दर्शक उस मनोभाव से

---

1. हेमचंद्र (पृ० 57-66) तथा माणिक्यचंद्र (पृ० 40 इत्यादि, आनंदाश्रम सं०) ने अभिनव द्वारा की गई लोल्लट, शंकुक तथा भट्ट नायक की मत-समीक्षा का विस्तृत उद्धरण किया है। मम्मट तथा परवर्ती सभी लेखकों ने भी ऐसा ही किया है। अभिनव की टीका का यह अंश 'थ्योरी ऑफ़ रस' (सुशील कुमार डे के 'सम प्राब्लम्ज़ ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स', कलकत्ता, 1959 में पुनर्मुद्रित) पर उपर्युक्त लेख के अंतर्गत दिया गया है। अतएव, यहाँ उसका विस्तृत उल्लेख नहीं है।
2. उदाहरणार्थ, देखिए, मम्मट अध्याय iv, हेमचंद्र पृ० 57, विद्याधर पर मल्लिनाथ की टीका पृ० 85, मम्मट पर गोविंद की टीका पृ० 63 इत्यादि।

कैसे प्रभावित हो सकता है, जबकि अभिनेता में उसका अभाव रहता है, यह स्पष्ट नहीं है। अभिनेता द्वारा अनुकरण किए गए मनोभाव के ज्ञान मात्र से मूल मनोभाव की लेशमात्र भी निष्पत्ति नहीं होती और न ही दर्शक की मनस्तुष्टि होती है, अन्यथा काव्य से भिन्न, लौकिक शृंगारादि के दर्शनमात्र से ही मनस्तुष्टि हो सकती थी।[1] यह भी कहा गया है कि लोल्लट के इस कार्य-कारण सिद्धांत में विभाव इत्यादि की तथा रस के परस्पर संबंध की संतोष-जनक व्याख्या नहीं हो सकी है। कारक-हेतु के नष्ट हो जाने पर भी कार्य का भाव हो सकता है, किंतु रस, विभावों के प्रदर्शन में ही सीमित होता है, उनका अभाव ही रस का अभाव होता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि रस को एक लौकिक कार्य नहीं कहा जा सकता।[2] इसके अतिरिक्त कार्य और कारण समकालीन नहीं हो सकते। यदि रस को कारण माना जाय तो रस का आस्वादन, जैसा कि वास्तव में होता है, विभावों का समकालीन नहीं हो सकता। अतएव, विश्वनाथ ने कहा है (पृ० 86) कि—यदि विभाव-ज्ञान कारण है और रस कार्य है, तब रसास्वादन के समय विभावों का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य और उसके कारण की प्रतिपत्ति युगपद् नहीं होती। चंदनलेप के स्पर्श का ज्ञान तथा तत्कृत सुखानुभव युगपद् नहीं हो सकते, भले ही उनका आनंतर्य कितना ही कम हो।

इस विषय के अन्य महत्त्वपूर्ण लेखक शंकुक ने, जिनका अभिनवगुप्त इत्यादि ने उल्लेख किया है,[3] उत्पत्तिवादियों की इस व्याख्या को स्वीकार नहीं किया। ऐसा कहा गया है कि उत्पत्तिवादियों ने अपने विशिष्ट सिद्धांत में मीमांसा-दर्शन का अनुसरण किया है। लोल्लट ने दर्शक के मनोभावानुभव के रूप में रस का विवेचन नहीं किया है। इसके विपरीत, शंकुक के मतानुसार, रस की उत्पत्ति कार्य के रूप में नहीं होती, अपितु दर्शक द्वारा उसका अनुभव अथवा अनुमान किया जाता है और दर्शक उस अनुभव का ही रस के रूप में आस्वादन करता है। कुशल अभिनय द्वारा, विभाव इत्यादि के माध्यम से, अभिनेता में ही

---

1. गोविंद ने लोल्लट के मत की आलोचना इस प्रकार की है—तदपेशलं सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभव-विरोधात् न च तद्ज्ञानमेव चमत्कार-हेतुः, लौकिक-शृंगारादि-दर्शननापि चमत्कार-प्रसंगात् (काव्य-माला सं०, 1912, पृ० 63)।
2. गोविंद, पृ० 69, मल्लिनाथ, पृ० 87, 93-94.
3. जैसा कि ऊपर पृ० 109 की पाद-टिप्पणी 1 में निर्दिष्ट किया गया है, [illegible] इत्यादि के ग्रंथों में शंकुक के मत का उल्लेख है।

नायक के स्थायी भाव का अनुमान कर लिया जाता है (यद्यपि अभिनेता में उस भाव का वास्तव में अभाव होता है), ताकि नायक के मनोभाव के अभेद भाव का आभास हो सके।[1] वस्तु-सौंदर्य के कारण, दर्शक इस प्रकार अनुमान किए गए भाव का अनुभव करता है, जिससे उस भाव की विलक्षणता और भी बढ़ जाती है।[2] फलस्वरूप दर्शक के मन में आस्वादस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसे रस कहते हैं। अतएव, रस की निष्पत्ति एक तर्कसंगत अनुभव है। भरत के सूत्र में निष्पत्ति शब्द की व्याख्या अनुमिति से की गई है। विभाव का रस से वही संबंध है, जो अनुमापक अथवा गमक का अनुमाप्य अथवा गम्य से है। साध्य तथा साधन संबंध से अनुमित भाव, सामान्य अनुमित वस्तु से भिन्न होता है, क्योंकि भाव का अनु-ान विभाव से संबंधित होने के कारण ही होता है। विभाव कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नहीं माने जाते। इस प्रकार के ज्ञान को चित्र-तुरगन्याय-आश्रित कहा गया है, जो सम्यक् ('वह राम है'), मिथ्या (पहले कहा जाता है 'वह राम है', तत्पश्चात् उसका निषेध कर दिया जाता है, 'वह राम नहीं है'), संशय ('वह राम हो सकता है अथवा नहीं') तथा सादृश्य ज्ञान ('वह राम सदृश है') से भिन्न है।[3] परवर्ती मत में इस सिद्धांत की निंदा इसलिए की गई है (जैसा कि संक्षिप्त रूप में गोविंद ने कहा है[4]) कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जैसा चमत्कार उत्पन्न होता है, वैसा अनुमिति से नहीं होता। यह एक लोकप्रसिद्ध तथ्य है, जिसकी इस सिद्धांत में अवहेलना की गई है। यह भी कहा गया है कि ज्ञान-प्राप्ति के सामान्य साधनों द्वारा रस की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भूतकाल के राम-जैसे नायक के भाव का प्रत्यक्ष ज्ञान वर्त्तमान ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।[5] ध्वनि-सिद्धांत

---

1. रामाद्यभेद-भावितेन नटे तत्प्रकाशितैरेव विभावादिभिरनुमितः। मल्लिनाथ, पृ० 85.
2. वस्तुसौंदर्यबलाद् रसनीयत्वेन स्थायिनामन्यानुमेयवैलक्षण्यात्; गोविंद, पृ० 65 यह सर्वथा मम्मट की व्याख्या ही है।
3. मम्मट तथा अभिनव (पृ० 241) ने इसकी व्याख्या इसी प्रकार की है। हेमचंद्र ने उनकी व्याख्या को विशद रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है— न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः, नाप्ययमेव राम इति, न चाप्ययं न सुखीति, नापि रामः स्याद् वा न वायमिति, न चापि तत् सदृशमिति, किंतु सम्यन्मिथ्या-संशय-सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन यः सुखी राम असावयमिति प्रतीतिरस्ति (पृ० 59)।
4. प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कारं नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धिमवधूयान्यथा-कल्पने मानाभावः, पृ० 65.
5. विवादक, पृ० 94.

के संदर्भ में अनुमान-सिद्धांत की सविस्तर आलोचना की गई है, क्योंकि यह विषय रस-ध्वनि के अंतर्गत है। सिद्धांत के इस पक्ष का विवेचन यथा-स्थान किया जायगा। इस सिद्धांत के निराकरण में यह तर्क दिया गया है कि विभाव, स्थायीभाव की सिद्धि का साधन नहीं हो सकता, क्योंकि विभाव और स्थायी का परस्पर संबंध साधन और साध्य के परस्पर संबंध से भिन्न होता है। विभाव व्यंजक मात्र ही होते हैं।

अतएव, लोल्लट तथा शंकुक के मतानुसार विभाव न तो रस के कारक-हेतु होते हैं और न ही ज्ञापक हेतु। शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को छोड़कर, लोल्लट के अनुसार, दर्शक कुशल नट अथवा अभिनेता में नायक की ही मानसिक स्थिति का आरोप अनुमान करता है और इस आरोपित मनोभाव की प्रतिपत्ति के फलस्वरूप उसके मन में उसी प्रकार का रसोत्पादक भाव उत्पन्न होता है। शंकुक का मत है कि कुशल नट अथवा अभिनेता नायक का इतना अच्छा अनुकरण करता है कि दर्शक उसे नायक से अभिन्न समझता है और इस आभास के फलस्वरूप वह अपने मन में नायक के वास्तविक मनोभाव का अनुमान कर लेता है, क्योंकि वह अभिनय के विशिष्ट सौंदर्य से प्रभावित होता है। इन दोनों ही सिद्धांतों में एक कठिनाई रह जाती है। वह यह है कि यदि रस वस्तुनिष्ठ होने के कारण उत्पाद्य अथवा अनुमेय है तो इससे दर्शक के मन में एक व्यक्ति-निष्ठ आस्वाद्य भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है, जबकि दर्शक में विभाव इत्यादि का अभाव माना जाता है? इसके विपरीत, यदि यह कहा जाए कि दर्शक में भी रस का भाव होता है तो यह प्रश्न रह जाता है कि विशिष्ट नायक (जैसे राम, जो कि दर्शक से भिन्न अथवा श्रेष्ठ हैं) के विशिष्ट मनोभाव का आस्वादन अथवा उसकी प्रतिपत्ति दर्शक के अपने व्यक्तिगत मनोभाव के रूप में कैसे हो सकती है? भट्टनायक ने इन आक्षेपों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है[1]। अभिनवगुप्त ने अपने '—लोचन' (पृ० 67-68) में इनकी इस प्रकार व्याख्या की है: 'रस को यदि परगत कहा जाए तब उसकी ताटस्थ्य स्थिति हो जाती है, अर्थात् व्यक्ति स्वयं उससे प्रभावित नहीं हो सकता। राम इत्यादि चरितमय काव्य में रस स्वगत नहीं होता। यदि रस को स्वगत मान लिया जाय, तब

1. भट्टतौत ने भी शंकुक के मत पर आपत्ति की है। अभिनव ने (उन्हें 'अस्मद्उपाध्याय माघ' संबोधित करते हुए) एक स्थल पर उनके मत का सारसंग्रह किया है, जिसे हेमचंद्र ने भट्टतौत के प्रकरण में पृ० 52 पर अधिकांशतः उद्धृत किया है। माणिक्यचंद्र पृ० 43 भी देखिए। उन्होंने भी तौतसंबंधी अभिनव की व्याख्या का उद्धरण किया है।

रस की स्वयं में, अर्थात् व्यक्ति में, उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। किंतु यह अयुक्त है, क्योंकि दर्शक में विभाव का अभाव रहता है। यदि ऐसा कहा जाए कि वासना-विकास का हेतु साधारण कांतत्व, विभाव के रूप में प्रयुक्त होता है तो देवता-वर्णन इत्यादि में इसका कैसे प्रयोग हो सकता है ? स्व-कांता-स्मरण संवेद्यता में बाधाकर नहीं होता। अलोक-सामान्य रामादि के समुद्र-सेतु-बंधादि विभाव, दर्शक के मन में साधारण कैसे हो सकते हैं ? राम के उत्साहादि का स्मरण नहीं होता, क्योंकि अपना उत्साह उसके अनुरूप नहीं होता। शब्द से अर्थात् काव्य से रस की प्रतिपत्ति होने पर भी रस का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि नायक-मिथुन के प्रत्यक्ष प्रेक्षण से भी हो सकता था। यदि यह कहा जाय कि रस की उत्पत्ति होती है, तब दुःखांत काव्य में अप्रवृत्ति हो जायगी, क्योंकि करुण रस के अभिनय से उसे दुःख का ही अनुभव होगा।[1]

भट्ट नायक ने इन पूर्ववर्ती सिद्धांतों का निराकरण करते हुए भोग नामक एक विशिष्ट सिद्धांत की स्थापना करने का यत्न किया है। भोग में रस का आस्वादन संभव हो सकता है। उनका कथन है (मम्मट इत्यादि की व्याख्या के अनुसार) कि (1) कार्य के रूप में रस उत्पाद्य नहीं है, क्योंकि अवास्तविक कारक (अर्थात् विभाव) से वास्तविक कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, (2) रस अनुमेय नहीं है, क्योंकि वास्तविक नायक (यथा, राम) का दर्शक के समक्ष अस्तित्व नहीं होता, अतएव उसके भाव का भी अस्तित्व नहीं होता और जिसका अस्तित्व नहीं होता, उसका अनुमान तथा स्मृति भी नहीं हो सकती (न तत्वतो रामस्य स्मृतिः, अनुपलब्धत्वात्)। न ही रस किसी शक्ति-रूप की अभिव्यक्ति होती है। यदि ऐसा होता, तो उत्पाद्य भाव एक बार विकसित हो जाने पर अपने-अपने स्थान पर विभिन्न मात्रा में विद्यमान रहेगा और फलस्वरूप रस की एकात्मकता का प्रतिषेध हो जायगा। इसके अतिरिक्त, रस की उत्पत्ति स्वयं में होती है अथवा अन्य व्यक्ति

1. रसो यदि पर-गततया प्रतीयते, तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्व-गतत्वेन रामादि-चरितमयात् काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनिरसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्, सा चायुक्ता, सामाजिकं प्रत्य-विभावत्वात्। कांतात्वं साधारणं वासना-विकास-हेतु विभावनायां प्रयोजकं चेत्, देवता-वर्णनादौ तदपि कथम् ? न च स्वकांतास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोक-सामान्यानां च रामादीनां ये समुद्र-सेतु-बंधादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भवेयुः ? न चोत्साहादि-मात्रं स्मर्यते, अननुरूपत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः, प्रत्यक्षादिव नायकमिथुन-प्रतिपत्तौ। उत्पत्ति-पक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्, तन्न।

में होती है, यह समस्या भी रह जाती है। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए भट्टनायक (अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार) का कथन है कि भोज्य-भोजक के परस्पर संबंध के आधार पर रस का आस्वादन विभावापेक्ष होता है। इस मत[1] के अंतर्गत शब्द की तीन शक्तियाँ बताई गई हैं—अभिधा (जिसे मीमांसकों तथा व्याकरणाचार्यों ने पहले से ही स्वीकार किया है), भावकत्व तथा भोजकत्व। इसी प्रकार काव्य की भी अपनी तीन शक्तियाँ कही गई हैं—अभिधा शक्ति, भावकत्व शक्ति तथा भोजकत्व शक्ति। अभिधा शक्ति शब्द के केवल अभिधार्थ की ही द्योतक नहीं है, वरन् उसमें लक्षणा भी शामिल है (अभिधा लक्षणैव)।[2] प्राचीन चिंतन में शब्द की जिन दो शक्तियों, अर्थात् अभिधा तथा लक्षणा, का विवेचन किया गया था, वे उक्त अभिधा में सम्मिलित हैं। संभवतः आशय यह है कि भट्टनायक के मतानुसार अभिधा शक्ति रसाश्रित शक्ति के आलंकारिक महत्व को भी परिलक्षित करती है। जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है, प्रकट रूप में 'भावकत्व' (अथवा 'रस-भावना') का विवेचन भरतकृत 'भाव' के सामान्य निरूपण के आधार पर ही किया गया है। भावकत्व का अर्थ है ऐसी भावकत्व शक्ति, जिसके द्वारा विशिष्ट धर्मनिरपेक्ष विभावों तथा स्थायीभाव का सामान्य बोध हो सके। उदाहरण के लिए, सीता 'विभाव' की प्रतिपत्ति इस भावकत्व शक्ति द्वारा विशिष्ट व्यक्ति के रूप में नहीं, अपितु एक सामान्य स्त्री के रूप में ही होती है, तथा स्थायी भाव (यहाँ सीता के प्रति राम का स्नेह) वस्तु अथवा कारक (कर्त्ता) निरपेक्ष सामान्य स्नेह का ही द्योतक है। इस प्रकार, दर्शक को विभाव तथा स्थायीभाव का सामान्य रूप में बोध हो सकता है। रस में इस प्रकार भावकत्व शक्ति आ जाने के पश्चात् उसमें भोजकत्व शक्ति आ जाती है। भोजकत्व शक्ति द्वारा विभावोंसहित स्थायी भाव का इसी सामान्य रूप में आस्वादन होता है। सांख्याचार्यों की भाषा में, जिसका इन सैद्धांतिकों ने उपयोग किया है, इस भोजकत्व को प्रबुद्ध, पूर्ण तथा आनंदमय ज्ञान के आस्वादन के

---

1. अभिनव ने नाट्यशास्त्र की टीका पृ० 244—'लोचन', पृ० 68, मम्मट ने अध्याय iv., हेमचंद्र ने पृ० 61 इत्यादि पर तथा गोविंद ने पृ० 66 पर भट्टनायक के मत का उल्लेख करते हुए उनकी आलोचना की है।
2. चिंतामणि (जर्नल ऑफ़ ओरिएंटल रिसर्च, 1927, पृ० 275, पा० टि०) ने 'अभिधाविलक्षणैव' पाठ ग्रहण किया है। उनका कहना है कि क्योंकि भट्टनायक मीमांसक थे, इसलिए वे लक्षणा को अभिधा में शामिल नहीं कर सकते थे। त्रिवेदी (एकावली, पृ० 425) ने हमारा पाठ 'अभिधा लक्षणैव' ही स्वीकार किया है।

समान कहा गया है, जिसकी अनुभूति मनुष्य-गत सत्व-गुण के आधिक्य के कारण होती है। यह अनुभूति, व्यक्ति-निरपेक्ष होने के कारण लौकिक सुखानुभूति से भिन्न होती है। भोजकत्व को दो प्रकार के ज्ञान, 'अनुभव' तथा 'स्मरण' से भिन्न बताया गया है। मन का विद्रवण, व्याप्ति तथा विस्तार इसके लक्षण हैं। इसीलिए 'इसे ब्रह्मास्वाद-सचिव' समान कहा गया है। अतएव, भट्टनायक के मतानुसार, अभिधा तथा भावकत्व की शक्ति से काव्य तथा रूपक में सामान्य रूप से स्थायीभाव ही रस होता है। इस रस की अनुभूति भोग नामक आनंदमय विधि से होती है। व्यक्तिनिरपेक्ष तथा अलौकिक आस्वाद्य स्थिति प्राप्त कर लेने पर इस रस को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है।

यह द्रष्टव्य है कि विभिन्न रस-सिद्धांत, रूपक तथा काव्याश्रित होते हुए भी भारतीय दर्शन के विभिन्न सिद्धांतों से सामान्यतः प्रभावित रहे हैं। लोल्लट स्पष्ट रूप में मीमांसक हैं। उनके मतानुसार शब्द का अभिधार्थ बहुत व्यापक होता है। अभिधा द्वारा रस के रूप में सभी प्रकार के लक्षित अथवा व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति हो सकती है। इसके विपरीत, शंकुक नैयायिक हैं। उन्होंने अनुमान द्वारा रस को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका मत है कि तर्काश्रित अनुमान द्वारा अभिधार्थ से लक्षित रस की निष्पत्ति हो सकती है। यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अनुमित भाव का ज्ञान, सामान्य अथवा लौकिक अनुमिति से भिन्न होता है, क्योंकि भाव की प्रतिपत्ति भाव के विलक्षण सौंदर्य से होती है। इस दिशा में भट्टनायक का मत और भी अधिक विकास का परिचायक है। उनके सिद्धांत के अंतर्गत रस का वस्तुनिष्ठ के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठ विवेचन किया गया है तथा दर्शक के स्वगत अनुभव के रूप में रस की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त, यह भी सिद्ध होता है कि भट्टनायक ने अपने विशिष्ट भोग सिद्धांत में अधिकांशतः सांख्य-शास्त्र का अनु रण किया है।

यहाँ सांख्य मनोविज्ञान अथवा तत्वमीमांसा का सविस्तर विवेचन आवश्यक नही है, किंतु काव्य-संकल्पना तथा उससे उत्पन्न कलात्मक सुख पर सांख्य के मुख सिद्धांतों के प्रभाव का संक्षिप्त वर्णन अपेक्षित है।[1] सांख्य में विकास का प्रयो नन भोग तथा अपवर्ग की प्राप्ति है। काव्य में रस का भोक्ता ब्रह्मवेत्ता के समान है, किंतु सौंदर्यात्मक भाव, दार्शनिक भाव से भिन्न है।

1. प्रोसिडिंग्ज़ एंड ट्रांज़ेक्शन्ज़ ऑफ़ दि फ़र्स्ट ओरिएंटल कान्फ़रेंस', पूना, खंड 2, में 'इंडियन' एस्थेटिक्स' शीर्षक के अंतर्गत एम० हिरियन्ना ने इस विषय पर कुछ विस्तार से चर्चा की है।

सौंदर्यात्मक भाव वास्तव में, 'संवित्' (अथवा 'चित्-स्वभाव') अर्थात् निर्लिप्त विशुद्ध चिंतन का भाव होता है, जिसका फल 'विश्रांति' है, किंतु दार्शनिक भाव में सुख-दुःख तथा अहंकार की पूर्ण विरक्ति होती है, क्योंकि वेत्ता, अपनी बुद्धि के ऊपर उठकर व्यक्ति-निरपेक्ष हो जाता है। दोनों दशाओं में सात्विक गुण के आधिक्य के कारण ही ऐसा होता है, किंतु आध्यात्मिक भाव में बुद्धि के सहज सात्विक गुण को विकृत करनेवाली वासनाओं की अहंकारात्मक प्रवृत्तियों का निवारण हो जाता है तथा वास्तविक वेत्ता, प्रकृति तथा पुरुष के अपृथकत्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप इंद्रियज्ञान से ऊपर उठ जाता है। सौंदर्यात्मक भाव में इस प्रकार की पूर्ण विरक्ति संभव नहीं है। काव्य-जगत्, काल्पनिक होने के कारण, सामान्य जगत् से भिन्न है। इसमें अहंकारात्मक वासनाओं का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि काव्य-वस्तु विषय से कोई विशिष्ट वस्तु लक्षित नहीं होती। काव्य-वस्तु अथवा विषय सर्वथा व्यक्ति-निरपेक्ष होता है। इस प्रकार के व्यक्ति-निरपेक्ष काव्य द्वारा दर्शक अनुरक्ति-जन्य दुःख से मुक्ति प्राप्त करता है, किंतु इस साधन द्वारा सामान्य जगत् से केवल क्षणिक मुक्ति ही प्राप्त हो सकती है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति के समान दर्शक भी अपनी बुद्धि का सर्वथा अतिक्रमण नहीं कर सकता। काव्यास्वादन के तीन सोपानों से, जिनके माध्यम से सौंदर्यात्मक रस की अनुभूति होती है, यह सूचित होता है कि अभिधार्थ ज्ञान का महत्व केवल इतना ही है कि उसके द्वारा विशिष्ट वस्तु-निरपेक्ष सामान्य कल्पनाओं का बोध हो सकता है। यह सामान्यीकरण 'भावकत्व' के माध्यम से होता है, जिसके फलस्वरूप भावों को जागृत करनेवाले कारक तथा स्वयं भाव भी व्यक्ति-निरपेक्ष हो जाते हैं। कल्पनात्मक काव्य रचना से 'भोग' का आविर्भाव होता है, जो सुख की अवस्था का द्योतक तथा प्राकृतावस्था से भिन्न होता है, क्योंकि प्राकृतावस्था सदैव सुखावह नहीं होती। भोग आध्यात्मिक भाव से भिन्न होता है, क्योंकि आध्यात्मिक भाव सुख-दुःख-निरपेक्ष होता है।

(३)

भट्टनायक के सिद्धांत की किंचित् विस्तृत आलोचना की गई है। इस आलोचना से ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्धांत पूर्ववर्ती सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली रहा। निस्संदेह अभिनवगुप्त का सिद्धांत भी इससे प्रभावित था। ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के नवीन सौंदर्य-सिद्धांत की व्याख्या का श्रेय अभिनवगुप्त को ही प्राप्त है।

ध्वनिकार की रस-ध्वनि तथा रस की व्याख्या नाट्याश्रित रस-मत से बहुत प्रभावित प्रतीत होती है। भरत का कथन है कि आठ में से किसी एक अथवा अधिक रस का विकास करना ही रूपक का प्रयोजन है। इसलिए काव्यात्मक सिद्धांतों के विवेचन से भी पहले नाट्यकला के लिए उपयोगी मानव-भावों का सविस्तर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया था। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रक्रम तथा अहं की एक विशिष्ट अवस्था के बोध को लक्षित करनेवाले परम मानसिक अनुभव अर्थात् रस के विषय पर भरत के टीकाकारों तथा अनुयायियों ने, ध्वनिकार तथा उनके पश्चात् आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त से पहले, भरत के तत्संबंधी मत की व्याख्या की। पूर्ववर्ती रूपक तथा नाट्य-सिद्धांत की रसविषयक कल्पना का काव्य तथा काव्य-सिद्धांत में अनुप्रयोग होना स्वाभाविक ही था। सरल काव्य का भावपूर्ण काव्य में संक्रमण हो जाने के पश्चात् आचार्यों ने काव्य के एक आवश्यक अंग के रूप में रस का प्रतिष्ठापन किया। आनंदवर्धन ने इस विषय में स्पष्ट ही कहा है (पृ० 81)—'एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबंधन भरतादावपि सुप्रसिद्धमेव।' दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भरत तथा अन्य नाट्याचार्यों की स्थापनाएँ काव्य में इस प्रकार उपलब्ध हुईं और इन्होंने काव्य-विचार का पूर्णतया संस्कार कर दिया।[1] अभिनवगुप्त ने साहित्य तथा दर्शन-शास्त्र का गंभीर अध्ययन किया था। उन्हें भरत के नाट्यशास्त्र तथा उनके मतानुयायियों की रचनाओं का भी ज्ञान था, अतएव, इस दिशा में एक पग आगे बढ़कर उन्होंने कहा है—नाट्यात् समुदयरूपाद् रसः. रससमुदयो हि नाट्यम्, न नाट्य एव च रसः काव्येऽपि-नाट्यायमान एव रसः काव्यार्थः।" इन आचार्यों ने ऐसा अनुभव किया कि नाट्यविद्या के समान काव्य के किसी भी सिद्धांत में भावों, अनुभावों तथा रसों की अवहेलना नहीं की जा सकती। काव्य में रस को महत्त्वपूर्ण स्थान देना आवश्यक है। रस की निष्पत्ति जैसे रूपक का प्रयोजन है, वैसे ही काव्य का भी प्रयोजन है। कालांतर में उस भाव तथा कल्पना पर बल दिया जाने लगा, जिसका हमलोगों तक संप्रेषण करने में कवि सफल होता है। प्राचीन लेखकों ने जिस बाह्य व्यंजना को इतना महत्त्व दिया था, उसे अब केवल काव्यात्मक भाव की अभिव्यक्ति का साधन मात्र ही माना जाने लगा है।

---

1. रुद्रभट्ट ने भी कहा है (1.5) कि भरत इत्यादि आचार्य नाट्याश्रित रस का पहले ही विवेचन कर चुके हैं, मेरा प्रयोजन तो काव्याश्रित रस का निरूपण करना है। [illegible] पृ० 2 से तुलना कीजिए।

पूर्ववर्ती आचार्यों का रस-विषयक विवेचन स्पष्ट रूप में अपूर्ण रहा है। अभिनवगुप्त द्वारा उसकी आलोचना उचित ही है, किंतु रस-सिद्धांत की इस प्रकार व्याख्या की गई कि न केवल उसकी त्रुटियाँ ही दूर कर दी गईं, अपितु नवीन मत ने जिस ध्वनि-सिद्धांत का प्रवर्त्तन किया, उसमें भी रस को यथा-योग्य स्थान प्राप्त हो गया। यहाँ ध्वनि-सिद्धांत की विस्तार से चर्चा करना आवश्यक नहीं है, उसपर यथास्थान विचार किया जायगा, किंतु विवेचन तारतम्य तथा सुविधार्थ ध्वनि-सिद्धांत में रस का किस प्रकार समावेश कर लिया गया, यह बताना अपेक्षित है। ध्वनि-मत में काव्य के आवश्यक अंगों के विश्लेषण के फलस्वरूप यह अनुभव किया गया कि सुंदर काव्यांश के दो अंग किए जा सकते हैं। पहला काव्य का वाच्य अथवा अभिधार्थ होता है, दूसरा वाच्य न होकर पाठक अथवा श्रोता को कल्पना पर आश्रित होता है। ऐसा अवाच्य अथवा लक्षित अंग, स्पष्ट रूप में वाच्य से संबद्ध होता है तथा एक विशिष्ट व्यंजना-प्रक्रम से उसका विकास होता है। इसे ही काव्य की 'आत्मा' कहा गया है। अवाच्य ही को काव्य की आत्मा कह दिया गया, यह बात वैयाकरणों तथा आचार्यों को कुछ अटपटी लगी। इसके विपरीत, औचित्यवश, शब्द की अपेक्षा संकेत तथा लक्षण के माध्यम से अर्थ-व्यक्ति के लिए उपयुक्त सांकेतिक भाषा का किसी-न-किसी रूप में सदैव प्रयोग किया जाता रहा है और कवि अपने विचारों को न्यूनाधिक रूपकात्मक अथवा आलंकारिक भाषा में व्यक्त करने के पक्षपाती रहे हैं। किंतु लक्ष्यार्थ काव्य अलंकारात्मक मात्र काव्य से कुछ भिन्न होता है। वामन ने स्पष्ट रूप में इस बात को स्वीकार किया था और अलंकार तथा रीति-मतों के अंतर्गत इसे बड़ा महत्त्व दिया गया था। अलंकार अथवा रूपकाश्रित अर्थ कितना भी प्रच्छन्न क्यों न हो, वाच्य ही माना जाता है, किंतु लक्षितार्थ सदैव अवाच्य रहता है और इसलिए गोपनीयता के कारण अपेक्षाकृत अधिक सौंदर्यवर्धक होता है। जैसा कि इस मत में प्रतिपादित किया गया है, इस अवाच्य अर्थ की उत्पत्ति शब्द तथा उसके अर्थ की विशिष्ट लक्षणा शक्ति के कारण होती है।

शब्द अथवा अर्थ की लक्षणा शक्ति के कारण अवाच्य अर्थ एक अवाच्य अथवा अनुक्त वस्तु अथवा अनुक्त अलंकार हो सकता है, किंतु अधिकांशतः यह रस ही होता है, जो प्रत्यक्ष रूप में अवाच्य होता है। अतएव, ध्वनि-मत में भावों तथा रसों को अवाच्य मानकर रस को ध्वनि-सिद्धांत के अनुरूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया

गया है ।[1] जैसा कि आचार्य दंडी का मत था, यह अनुभव किया गया कि सुंदर कल्पना को सुंदर शब्द-परिधान में विभूषित कर देना मात्र ही काव्य नहीं है, काव्य में भावों तथा अनुभावों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है । किंतु भाव तथा अनुभाव स्वयं अवाच्य होते हैं । भाव को नाम तो दिया जा सकता है, किंतु नाम देने मात्र से भाव की व्यंजना अथवा विकास नहीं हो जाता । भावों को लक्षित ही किया जा सकता है । कवि प्रत्यक्ष रूप में केवल विभावों का ही वर्णन कर सकता है, किंतु इन वाच्य विभावों का लौकिक रूप से भिन्न, काव्य-जगत् में विभावकत्व अथवा साधारणीकरण होना आवश्यक है । कवि इन्हीं विभावों की सहायता से, शब्द तथा अर्थ में निहित लक्षणा शक्ति के द्वारा हम में आत्मा की एक ऐसी अलौकिक अवस्था जाग्रत करता है, जिसमें भाव का आस्वादन संभव हो जाता है । यह सत्य है कि कवि जिस विभाव का वर्णन करता है, उसी के भाव की अनुभूति नहीं करवा सकता; उदाहरणार्थ, राम की; किंतु वह विभाव की प्रतिमूर्त्ति को अवश्य जाग्रत कर सकता है, जो अंशतः विभाव के समान हो जा सकती है । काव्य तथा रूपक में इस प्रकार के भाव की अनुभूति ही पाठक की आत्मा की रसास्वादन-अवस्था है । शब्द अथवा अर्थ में निहित केवल लक्षणा शक्ति के द्वारा इस अवस्था का ज्ञान हो सकता है ।

ध्वनि-मत के व्याख्याताओं ने रस-सिद्धांत को एक नई दिशा प्रदान की है । जिस प्रकार उन्होंने भरत के रस-विषयक मुख्य सूत्र की व्याख्या की है, उसके अनुसार व्यंग्य तथा व्यंजक के संबंध द्वारा स्थायी भाव का विभावों के साथ संयोग रस को लक्षित करता है, अतएव भरत के 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'अभिव्यक्ति' ही होना चाहिए ।

लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक की प्रत्यक्ष परंपरा में जिस प्रकार इस मत के अंतर्गत रस-सिद्धांत की व्याख्या की गई है, उसे मम्मट इत्यादि आचार्यों ने अभिनवगुप्त के नाम से संबद्ध किया है ।[2] भट्टनायक के सिद्धांत पर टिप्पणी करते हुए अभिनव ने कहा है कि प्रमाणाभाव के कारण 'भावकत्व' तथा 'भोगीकरण' नामक दो शक्तियों को स्वीकार कर लेने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'रसव्यंजना' तथा उसकी चरम अवस्था, अर्थात् 'आस्वाद' में

---

1. स्वयं आनंदवर्धन ने कहा है (ध्वन्या० पृ० 163) कि मेरा प्रयोजन केवल ध्वनि की स्थापना ही नहीं, अपितु यह सिद्ध करना भी है कि ध्वनि, रस के अनुरूप है ।
2. आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त के सामान्य सैद्धांतिक पक्षों में परस्पर कुछ भेद है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी ।

उक्त दोनों शक्तियाँ पहले से ही अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान होती हैं। भरत की उक्ति 'काव्यार्थान् भावयंतीति भावाः' का यह अर्थ है कि काव्यार्थ को बुद्धिगम्य बनाने के साधन के रूप में सभी 'भावों' में 'भावकत्व'-क्षमता निहित होती है। यहाँ 'अर्थ' शब्द रसास्वादन के मुख्य अर्थ का सूचक है। अतएव, दोनों प्रकार के भाव, अर्थात् स्थायी तथा व्यभिचारि, इस अंतर्निहित भावकत्व शक्ति के द्वारा काव्य के विशिष्ट आस्वाद्य अर्थ का उत्पादन करते हैं। इस अर्थ की प्रतिपत्ति सामान्य अथवा व्यक्तिनिरपेक्ष रूप में होती है। इस प्रकार, स्थायी भाव को रस का 'भावक' अथवा 'निष्पादक' कहा जा सकता है और यह तथा-कथित 'भावकत्व', अभिनव के मतानुसार, शब्द तथा अर्थ की लक्षणा शक्ति द्वारा रस-विकास के प्रयोजन के लिए गुण तथा अलंकार के समुचित परिग्रह पर अवलंबित है (समुचित-गुणालंकारपरिग्रहात्मकम्)। अभिनव ने इस प्रकार 'भावना' अथवा 'भावकत्व' को आंशिक रूप में स्वीकार तो किया है, किंतु इनकी व्याख्या में कुछ भिन्नता की है। उन्होंने तत्पश्चात्, भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित 'भोग' अथवा 'भोगीकरण' नामक दो शक्तियों की चर्चा की है। उनका कथन है कि रस की 'प्रतीति' के अतिरिक्त 'भोग' नाम की कोई वस्तु नहीं है। यदि 'भोग' आस्वादन का ही सूचक है तो वह रस शब्द से लक्षित हो जाता है, एक नया नाम देने से क्या लाभ है? अभिनव का मत है कि भट्टनायक का 'भोग', 'रति' इत्यादि स्थायी भावों पर आश्रित तथा काव्य की लक्षणा शक्ति के कारण, 'रसास्वाद' ही है। इसलिए, भोग ध्वन्यात्मक ही है, इसे एक पृथक् शक्ति नहीं माना जा सकता (भोगीकरण-व्यापारश्च काव्यात्मकरसविषयो ध्वननात्मैव)।

अभिनवगुप्त का कथन है कि रस की यह 'प्रतीति', लक्षणा शक्ति द्वारा रस की अभिव्यक्ति के कारण होती है। इसी 'प्रतीति' को 'रसना', 'आस्वाद' अथवा 'चर्वणा' अवस्था कहा गया है। अभिव्यक्ति स्वयं रस की नहीं होती, अपितु रस के आस्वाद की होती है। विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति न होकर पाठक के मानस-पटल पर सौंदर्यात्मक आस्वादन की स्वगत अवस्था के रूप में उस भाव की छाया पड़ती है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार का रसास्वादन ज्ञानात्मक होता है, किंतु इस ज्ञान की प्रतिपत्ति लौकिक साधनों से नहीं होती, क्योंकि इस ज्ञान के कारक अथवा साधन (अर्थात् 'विभाव') लौकिक नहीं होते।[1] यद्यपि ये तीन कारक रस की निष्पत्ति के लिए आवश्यक हैं और इनके

1. यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि करुण, बीभत्स तथा भयानक-जैसे करुणात्मक, बीभत्सात्मक तथा भयानक रस भी आस्वाद्य बताए गए हैं।

बिना रस का अस्तित्व नहीं हो सकता, तथापि रस को एक सामान्य कार्य नहीं माना जा सकता। इस संदर्भ में कार्य-कारण सिद्धांत लागू नहीं होता, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि काव्य के अलौकिक क्षेत्र में कार्य-कारण संबंध के स्थान पर पाठक के मानस अथवा आत्मा को रसानुभूति में सक्षम, कल्पनात्मक संबंध-क्रम की स्थापना हो जाती है। निष्पादित रस का 'विभावों' से तादात्म्य नहीं हो

रस का आस्वादन एक ऐसा अलौकिक आनंद कहा गया है, जो व्यक्ति-निरपेक्ष होने के अतिरिक्त, स्वगत अथवा अहंकारात्मक वासनाओं के आधिक्य से उद्भूत लौकिक सुख-दुःख से भिन्न होता है। मन रस में इतना तल्लीन हो जाता है कि उस अवस्था में शोक अथवा भय के आस्वादन से दुःख का अनुभव नहीं होता और यदि कुछ होता भी है तो यह सुखात्मक दुःख का अनुभव होता है। सामान्य अनुभव से भी इस बात की पुष्टि होती है, क्योंकि रंगमंच पर शोक के अभिनय के प्रति दर्शक यही कहता है कि मैंने उसका आस्वादन किया है। अतएव, अभिनवगुप्त का कथन है— 'सामाजिकानां हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम्'। विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार कहा है (iii. 6-7 तथा वृत्ति) कि लोक में जिन वस्तुओं को सुख तथा दुःख का कारण बताया गया है (यथा, सीता-वनवास), वही वस्तुएँ काव्य तथा रूपक के क्षेत्र में, व्यक्ति-निरपेक्ष हो जाने के कारण 'अलौकिक विभाव' इत्यादि के रूप में मान ली जाती हैं और उनसे सुख की उसी प्रकार अनुभूति होती है, जिस प्रकार सुरत में दंत-दंश इत्यादि से होती है। यदि वास्तव में ही दुःख का अनुभव होता हो तो फिर काव्य तथा रूपक में कोई भी प्रवृत्त न हो (किंच तेषु यदि दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः)। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि अश्रुपात इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि काव्य में सुख की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि पाठक के अश्रुपात का कारण दुःख नहीं होता, रसानुभूति होती है। इस विषय में जगन्नाथ का कथन बड़ा रोचक है। उनका कहना है (पृ० 26) कि अश्रुपात इत्यादि सुखानुभव के वैशिष्ट्य के कारण होता है, दुःखानुभव के कारण नहीं होता। अतएव, इष्ट देव की स्तुति के श्रवण मात्र से भक्त के नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते हैं। इस अवस्था में दुःख का लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता। काव्य में काव्य से उत्पन्न विरागात्मक शक्ति इतनी प्रबल होती है कि उसके फलस्वरूप शोक इत्यादि अशुभ वस्तुओं से व्यक्ति-निरपेक्ष सुख की ही उत्पत्ति होती है। व्यक्ति-निरपेक्ष अथवा आदर्शात्मक कलापूर्ण रचनाओं के इस सुखात्मक रसास्वादन को लौकिक अनुभव से भिन्न मानना ही उचित है। 'नाट्य-दर्पण' में प्रतिपादित एक अन्य सिद्धांत में कहा गया है कि इस रस में शोक का पुट रहता है। अपने 'शृंगार-प्रकाश' में भोज ने इस प्रकार कहा है—'रसा हि सुख-दुःखावस्थारूपाः।' देखिए राघवन् का 'नंबर ऑफ रसाज़' (अड्यार 1940) पृ० 155.

सकता, क्योंकि विभावों की अनुभूति रस से पृथक् नहीं होती, अपितु सब कुछ, सहज तथा अविभाज्य, रस ही प्रतीत होता है। आस्वादन की अवस्था में रस के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। अलंकार विद्या के आचार्यों ने इस अवस्था की व्याख्या करते हुए इसे आसव के सदृश बताया है। काली मिर्च, गुड़, कपूर इत्यादि द्रव्यों को मिलाकर प्रपाक (पेय) तैयार किया जाता है, किंतु इस प्रपानक का स्वाद इसके प्रत्येक घटक से भिन्न होता है। परिणाम-स्वरूप स्वाद में ऐसी एकात्मकता होती है कि प्रपानक में प्रयुक्त घटकों का लेशमात्र भी पता नहीं चलता।

अभिनवगुप्त ने इससे भी एक पग आगे बढ़कर कहा है कि लौकिक कारणों (यथा, नारी, उद्यान इत्यादि) से अनुमानित स्थायी भाव सूक्ष्म वासनाओं के रूप में, सहृदय दर्शकों के हृदय में विद्यमान रहता है। आचार्यों ने तो पहले से ही वासनाओं के अस्तित्व को स्वीकार किया है। काव्य-पाठ करते समय अथवा नाटक देखते समय, वासना के रूप में विद्यमान यह स्थायी भाव, प्रत्यक्ष 'विभाव' इत्यादि से लक्षित होता है। काव्य और रूपक से इन विभावों को 'लौकिक' कारण न कहकर 'विभाव' इत्यादि नाम से लक्षित किया जाता है। इन विभावों का विशिष्ट संबंध निरपेक्ष, सामान्य रूप में ही स्वीकार किया जाता है। अतएव, पाठक के मानस में 'विभावों' का साधारणीकरण हो जाता है अथवा विभाव उसके मानस में व्यक्तिनिरपेक्ष रूप में ही विद्यमान रहते हैं। यह साधारणीकरण, जैसा कि भट्टनायक का मत था, भावकत्व शक्ति के द्वारा नहीं होता, अपितु काव्य में यह साधारणीकरण सामान्यतः शब्द तथा अर्थ की लक्षणा शक्ति द्वारा तथा विशेषतः गुण तथा अलंकार के कुशल प्रयोग द्वारा होता है और रूपक में कुशल अभिनय द्वारा होता है। इसी प्रकार, रस के हेतु (कारण), स्थायी भाव[1] का भी साधारणीकरण हो जाता है, क्योंकि

---

1. इसे स्थायी इसलिए कहा गया है कि अन्य सभी भावों के समान अस्थायी होते हुए भी, वासना अथवा संस्कार के रूप में, इसकी छाप न्यूनाधिक स्थायी होती है, रस की प्रतीति होने पर स्थायी भाव की निष्पत्ति होती है। तुलना कीजिए, 'प्रभा', पृ० 61—'अंतःकरण प्रवृत्ति-रूपस्य रत्यादेराशुविनाशत्वेऽपि संस्कारात्मना चिरकाल-स्थायित्वाद् रस-प्रतीतिकालमनुसंधानाच्च स्थायित्वम्।' किंतु संभवतः आरंभ में इसे स्थायी इसलिए कहा गया था, क्योंकि यह प्रबंध का स्थायि भाव अथवा स्थायि रस होता है तथा कोई भी सजातीय अथवा विरोधी भाव इसका परिहार नहीं कर सकता। अन्य भाव इसकी पुष्टि ही करते हैं। किंतु 'स्थायि' स्वयं

वासना के रूप में इसका बीज पाठक के मन में पहले से ही विद्यमान होता है। स्थायी भाव तथा विभाव इत्यादि के साधारणीकृत अभिनय के सौंदर्य के कारण देश-काल की सीमाएँ दूर हो जाती हैं। भाव के साधारण हो जाने का अर्थ यह भी है कि वह किसी व्यक्तिविशेष को लक्षित न करके पाठक सामान्य को परिलक्षित करता है। फलस्वरूप व्यक्तिविशेष भी उसका आस्वादन करता हुआ यही समझता है कि इसका आस्वादन केवल मैं ही नहीं करता, अपितु सभी सहृदय इसका आस्वादन करते हैं। दर्शक अथवा पाठक के मन में इस स्वगत रसास्वादन को काव्य तथा रूपक में रस कहा गया है।

शास्त्रीय सूक्ष्मताओं से रहित, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मन में पूर्वानुभूत वासनाएँ अथवा पूर्व-जन्म के संस्कार विद्यमान रहतें हैं। काव्य में समान वस्तु के वर्णन से उन संस्कारों का उद्दीपन हो जाता है। भाव के सामाजिक होने के कारण हमारा भी उसी भाव से तादात्म्य हो जाता है और हम स्वयं को उसी अवस्था में विद्यमान होने की कल्पना कर लेतें हैं। यह द्रष्टव्य है कि इन आचार्यों ने 'वासना' तथा 'साधारण' अथवा 'साधारणीकरण' को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, जिस व्यक्ति को रति भाव का अनुभव नहीं है, न उसमें रति की वासना का अस्तित्व है और न ही उसे मानवीय भावों का ज्ञान है, वह व्यक्ति रस का आस्वादन नहीं कर सकता। 'वासना' को 'नैसर्गिकी' बताया गया है, पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण हमारे मन में वासना का अस्तित्व रहता है, किन्तु स्वाध्याय तथा अनुभव से भी 'वासना' की प्राप्ति हो सकती है। काव्य विद्या के आचार्यों ने नीरस वैयाकरणों तथा प्राचीन मीमांसकों की निर्दयतापूर्ण (कड़ी) आलोचना की है। इस प्रकार के लोग रसास्वादन नहीं कर सकते। इन आचार्यों का एकमत कथन है कि 'रसिक' ही रस का आस्वादन कर सकता है। रस, नायक अथवा अभिनेता पर आश्रित कोई वस्तुनिष्ठ पदार्थ नहीं है, अपितु एक स्वगत अवस्था है। उसका सौंदर्यात्मक आस्वादन पाठक की अपनी क्षमता पर निर्भर है। अतएव, समालोचक, रसिक अथवा सहृदय को काव्य की सूक्ष्म कल्पना के अनुरूप सुसंस्कृत, अनुभवी होने के अतिरिक्त सौंदर्य-सिद्धांत का ज्ञाता होना आवश्यक है। इस विषय में अभिनव-

---

'रस' नहीं है, इसका 'व्यक्ति विशिष्ट' तथा 'विभावादि-मेलक' तथा फलस्वरूप 'चर्वणोपयोगी' अथवा आस्वाद्य होना आवश्यक है, गोविंद, पृ० 62. रस की परम आस्वाद्य अवस्था 'स्थायी' तथा 'विभाव' के संसर्ग से पुष्ट होती है।

गुप्त का कथन है---'अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः'। उन्होंने ऐसे सहृदय का वर्णन इस प्रकार किया है ('लोचन', पृ० 11)— "येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदय-संवादभाजः सहृदयाः।"

यहाँ यह कहा जा सकता है कि रस की इस सूक्ष्म कल्पना को पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत की शब्दावली में व्यक्त करना कठिन है। व्युत्पत्ति के आधार पर रस शब्द के 'फ्लेवर', 'रेलिश', 'गस्टेशन', 'टेस्ट', 'गेशमक' अथवा 'सेव्यूर' पर्याय बनाए गए हैं, किंतु इनमें से कोई भी पर्याय पर्याप्त नहीं है। एक सरल शब्द 'मूड' अथवा जेकोबी द्वारा प्रयुक्त 'स्टीमुंग' (Stimmung) शब्द संभवतः रस का निकटतम पर्याय है, किंतु यूरोपीय समीक्षा-सिद्धांतों में रस के सदृश कोई कल्पना नहीं है। प्रयुक्त किए गए अधिकतर पर्यायों के अपने-अपने सूक्ष्म अर्थ हैं और इसलिए उन्हें यथार्थ रूप में रस के पर्याय नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए 'टेस्ट' अथवा 'रेलिश' शब्द शब्दशः तो ठीक है, किंतु सौंदर्यात्मक मूल्यांकन, अर्थात् 'अच्छा या बुरा' टेस्ट का वाचक नहीं हो सकता, अपितु भोजन चखने के समान अर्थ का ही सूचक हो सकता है। तथापि, रस के इस व्यावहारिक अथवा यथार्थ वर्णन के कारण रस को निम्न शारीरिक कोटि का सुख कहना अयुक्त है, क्योंकि इस कलात्मक सुख को लौकिक सुख से श्रेष्ठ, लगभग आध्यात्मिक आनंद के समान कहा गया है।

अभिनवगुप्त के कथनानुसार, इस विशिष्ट मानसिक व्यवस्था, अर्थात् रस-निष्पत्ति, शब्द तथा अर्थ में निहित 'व्यंजना' शक्ति के कारण होती है। परवर्ती आचार्यों ने इस समस्या का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने यह बताने का परिश्रम किया है कि व्यंजना शक्ति दर्शनशास्त्रियों तथा वैयाकरणों द्वारा बताए गए प्रमाणों अर्थात् अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा स्मरण से बाहर है। इन शास्त्रीय सूक्ष्मताओं का उचित स्थान 'व्यंजना-वृत्ति' के अंतर्गत है। यहाँ इनके विवेचन की आवश्यकता नहीं है। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि अभिनवगुप्त ने इस 'अभिव्यक्ति' को 'चर्वणा' का पर्याय मानते हुए 'वीतविघ्न-प्रतीति' कहा है। जगन्नाथ तथा 'काव्यप्रदीप' पर 'प्रभा' नामक टीका के लेखक ने 'व्यक्ति' को 'भग्नावरण चित्' कहा है। इन दो शब्दों से रस के अर्वाचीन सिद्धांत का वेदांत से संबंध स्थापित हो जाता है। 'अभिधा' के निवारण तथा 'काम' एवं 'कर्म' के त्याग के फलस्वरूप विरक्ति की अवस्था में आत्मा का ब्रह्म से तादात्म्य हो जाता है और इस तादात्म्य से आनंद की

प्रतिपत्ति अथवा अनुभूति होती है। वेदांत में मोक्ष की अवस्था कोई उत्पाद्य वस्तु नहीं, अपितु विघ्नकारकों के निवारण से ही उसका आविर्भाव होता है। 'अभिव्यक्ति' से परिलक्षित रस की निष्पत्ति, मोक्ष के सदृश ही है। 'अभिव्यक्ति' किसी नवीन वस्तु के आविर्भाव को लक्षित नहीं करती, अपितु पहले से विद्यमान वस्तु की प्रतिपत्ति को ही लक्षित करती है। 'ब्रह्मास्वाद' को 'रसास्वाद' के समान बताया गया है, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में अहंकारात्मक मनोवृत्तियों के निग्रह के फलस्वरूप तादात्म्य की अनुभूति होती है और उस तादात्म्य में पृथकत्व निमज्जित हो जाते हैं। 'रसास्वाद' की अवस्था में ऐसा तब होता है, जब दर्शक के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान काव्यात्मक रस का उद्दीपन होता है तथा काव्य-रचना के विभाव इत्यादि की अर्थाश्रित अथवा साधारणीकृत (अथवा सामाजिक) शक्ति के कारण उसके मानस में सभी अहंकारात्मक वासनाओं का अपसारण हो जाता है। इन 'विभावों' को इसीलिए 'विघ्नापसारक' कहा गया है। अतएव, व्यक्तिसापेक्ष, सांसारिक अथवा लौकिक सुख से भिन्न तथा ज्ञान सामान्य साधनों से अनधिगम्य होने के कारण रसास्वाद अलौकिक होता है। रसास्वाद, तत्वतः 'आस्वाद', 'चर्वणा', अथवा 'रसना' मूलक ही है, किंतु यह एक ऐसा आस्वाद है कि इसमें रस के कारकों का न होकर, केवल रस का ही ज्ञान होता है। अतएव, रसास्वाद को एक ऐसी मानसिक अवस्था कहा गया है कि जिसमें रस के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं रहता (विगलित-वेद्यांतर), अथवा ब्रह्मचिंतन में लीन मन की ऐसी अवस्था के समान है, जो 'वेद्यांतर-स्पर्श-शून्य' होती है। इसका कोई साक्ष्य अथवा अभिधान नहीं है और क्योंकि इसकी प्रतीति में ही इसका भाव है, अतएव इसका अलग से बोध नहीं करवाया जा सकता। अथवा, दूसरे शब्दों में, रसास्वाद की प्रतीति ही रसास्वाद का ज्ञान है। सहृदय द्वारा इसका आस्वादन ही इसके अस्तित्व का एकमात्र साक्ष्य है (सकल-सहृदय-हृदय-संवेदनसाक्षिक); और ऐसा सहृदय जो इस रस का आस्वादन कर पाता है, उस योगी के समान है, जो अपने संचित पुण्यों के फलस्वरूप इसके योग्य हो पाता है (पुण्यवंतः प्रमिण्वंति योगिवद् रससंततिम्)।[1]

1. अतएव कलात्मक भाव लौकिक भाव से भिन्न होते हुए अपेक्षाकृत दार्शनिक भाव के अधिक समान हैं। किंतु व्यक्ति, कला के द्वारा अपने व्यक्तिगत संबंध अथवा व्यावहारिक अथवा लौकिक प्रवृत्तियों का निग्रह करके लौकिक दुःख से केवल क्षणिक मुक्ति ही प्राप्त कर सकता है तथा इसी माध्यम से लोक-साधारण के स्थान पर एक अन्य लोक अर्थात् काव्य-लोक में [illegible]

ध्वनि-मत में रस-सिद्धांत को जैसा अंतिम रूप दिया गया है, उसी की सामान्य रूपरेखा ऊपर दी गई है। धनंजय से लेकर जगन्नाथ तक सभी परवर्ती आचार्यों ने न्यूनाधिक इसी नवीन व्याख्या को स्वीकार करते हुए इसका सविस्तर विवेचन करने का प्रयत्न किया है। महिमभट्ट ने ध्वनि-सिद्धांत का खंडन करने का प्रयत्न किया था, किंतु उन्होंने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया है और कहा है कि इस विषय में मेरे तथा ध्वनिकार के मत में कोई अंतर नहीं है।[1] अंतर केवल रस को अभिव्यक्त करनेवाली आदर्श अथवा श्रेष्ठ शक्ति के विषय में है। इस प्रकार ध्वनि के आचार्यों ने मानसिक अनुभव के रूप में रस की व्याख्या करने के अतिरिक्त ध्वनि के नवीन सिद्धांत में इस सौंदर्यात्मक रसास्वादन के भाव का भी समावेश कर लिया और काव्य तथा रूपक दोनों में इसका प्रयोग किया। इसी समय से यथार्थ रूप में रस-वाद का प्रबलतर ध्वनि-वाद में विलयन आरंभ हो गया। संप्रति ध्वनि-मत पर विचार किया जायगा। रस-सिद्धांत में आगे चलकर क्या विकास हुआ, इसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी।

करता हुआ विश्रांति लाभ करता है। यह शुद्ध आनंद तथा निरपेक्ष 'संवित्' का भाव है, वास्तविक बोध का नहीं है। वास्तविक बोध तो उसी वेत्ता को प्राप्त होता है, जो ऐंद्रिय ज्ञान तथा सुख-दुःख, दोनों से पूर्णतया ऊपर उठ जाता है। इस भाव को अनेक नाम दिए गए हैं—चमत्कार-निर्देश, रचना, आस्वाद, भोग, संपत्ति, लय तथा विश्रांति। इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस सिद्धांत को दार्शनिक पुट दिया गया है। रस में 'चमत्कार' विषय के लिए सुशीलकुमार डे की 'वक्रोक्ति-जीवित' (द्वि० सं० 1928) की भूमिका, पृ० xxxvi, पा० टि० 33 तथा जगन्नाथ के प्रकरण (अध्याय 7) में आगे देखिए। राघवन् का 'सम कान्सेप्ट्स' पृ० 268-71 भी देखिए।

1. काव्यस्यात्मनि संगिनि (अंगिनि ?) रसादि-रूपे न कस्यचिद् विमतिः, पृ० 2.

अध्याय : पाँच

ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन

ध्वनि-सिद्धांत

काव्य विधा के अन्य मतों की तरह ध्वनिमत का आदि रूप अतीत के अंधकार में विलीन है, किंतु ध्वनिकार के स्मारक श्लोकों में ध्वनि का समुचित सिद्धांत, पहली बार स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया है। ध्वनिकार का समय ज्ञात नहीं है, किंतु वे अपने टीकाकार आनंदवर्धन के समय से बहुत अधिक पूर्व के नहीं हो सकते। यह भी संभव है कि स्वयं ध्वनिकार ने एक अधिक प्राचीन परंपरा का अनुसरण किया हो। ध्वनिकार स्वयं रस, अलंकार तथा रीति के किसी सिद्धांत से परिचित थे, इस बात को उक्त अनुमान के पक्ष अथवा विपक्ष में निर्दिष्ट करना आवश्यक है, क्योंकि इन सिद्धांतों के जन्म के विषय में कोई निश्चित तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती और इस बात का भी कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है कि ध्वनिकार को भरत, भामह अथवा दंडी के विशिष्ट सिद्धांतों का ज्ञान था। इन सिद्धांतों के विकास का ऐतिहासिक युग इन्हीं आचार्यों के समय से आरंभ हुआ माना जाता है। स्वयं 'ध्वन्यालोक' के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि 'ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।' यह सिद्धांत प्राचीन आचार्यों ने परंपरागत रूप में स्वीकार किया है (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः)। यदि ध्वनिकार के इस कथन को स्वीकार कर लिया जाए तो यह बताना कठिन हो जाएगा कि रस-सिद्धांत से एक सीमा तक प्रभावित होनेवाले काव्यविद्या के भामह, दंडी अथवा वामन-जैसे प्राचीन आचार्य ध्वनि-सिद्धांत से सर्वथा अछूते कैसे रह गए। इसके विपरीत यह कहना सुगम होगा कि 'व्यंग्यार्थ' अथवा 'ध्वनि' के सिद्धांत के प्रवर्तक-मत में ही शक्ति के रूप में 'व्यंजना' का विकास हुआ था, क्योंकि आनंदवर्धन के पूर्ववर्ती दर्शन-शास्त्रियों अथवा वैयाकरणों की रचनाओं में इस शक्ति का उल्लेख नहीं मिलता। भामह,[1] वामन (iv. 3, 8) तथा अन्य प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार के

---

1. ऊपर देखिए, अध्याय 2, पृ० 49 इत्यादि।

'व्यंग्यार्थ' की चर्चा की है और वे सामान्य रूप में इससे परिचित प्रतीत होते हैं, किंतु उन्होंने 'व्यंजना', अथवा 'व्यंग्यार्थ' अथवा 'ध्वनि' शब्दों का कहीं प्रयोग नहीं किया है। जैसा कि प्रकट रूप में ध्वनिकार के कथन से प्रतीत होता है, यदि ये शब्द इतने प्रचलित अथवा प्रसिद्ध होते तो संभवत: उन्होंने इनका प्रयोग किया होता। अन्य मतों ने ध्वनि को मान्यता प्रदान नहीं की, यह कोई महत्त्व-पूर्ण तर्क नहीं है। इसकी अनेक प्रकार से युक्तियुक्त व्याख्या की जा सकती है। यह प्रसिद्ध है कि दर्शनशास्त्रियों ने 'व्यंजना' को अद्वितीय व्यापार के रूप में मान्यता देने से इन्कार कर दिया[1] और आलंकारिकों द्वारा इसका समर्थन किए जाने के पश्चात् भी उन्होंने इसे एक अन्य मान्यताप्राप्त शक्ति 'अन्यथा-सिद्ध' ही कहा। अतएव प्राचीन वैयाकरणों अथवा दर्शनशास्त्रियों द्वारा 'व्यंजना' की सर्वथा अवहेलना कोई विस्मयजनक बात नहीं है। काव्य-विद्या के प्राचीन आचार्यों ने 'ध्वनि' का कहीं प्रत्यक्ष रूप में उल्लेख नहीं किया, इसका कारण यह हो सकता है कि संभवत: स्वयं ध्वनिकार, जिन्होंने इस सिद्धांत का व्यवस्थित रूप में प्रवर्त्तन किया था, इन आचार्यों के समकालीन थे। यदि ध्वनिकार और उनके टीकाकार आनंदवर्धन में पर्याप्त समय की छूट देना अपेक्षित हो, तो उन्हें इन आचार्यों के अधिक पश्चात् हुआ नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त आनंदवर्धन की वृत्ति में पुनरावृत्तिस्वरूप दिए गए श्लोकों से लक्षित मध्यवर्त्ती विवेचन के लिए भी समय की छूट देनी पड़ेगी।[2] इस अनुमान को यदि स्वीकार न भी किया जाए तो भी ध्वनिकार ने स्वयं इस प्रकार की अमान्यता को उपर्युक्त श्लोक से वस्तुत: समझाया है। वास्तव में यह अमान्यता अर्ध-मान्यता ही है, क्योंकि उनके कथन से प्रतीत होता है कि इन प्राचीन आचार्यों को ध्वनि का ज्ञान था, किंतु वे इसका स्वरूप न समझ पाए और गुण-दोष देखे बिना अपने-अपने दृष्टिकोण से ही उन्होंने ध्वनि का सरल रूप में ही अवलोकन किया। कुछ आचार्यों ने इसे काव्य के अन्य अंगों में समाविष्ट समझा, कुछ ने तो इसे अनवगम्य माना और कुछ अन्य आचार्यों (जैसे कविमनोरथ, जिनका आनंदवर्धन ने उल्लेख किया है) ने इसका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया। इसमें संदेह नहीं कि इस कथन से ध्वनिकार का

---

1. देखिए, जैकोबी, ZDMG, lvi, 1920, पृ० 397, पादटिप्पणी 2 तथा पृ० 398 पादटिप्पणी 1.
2. देखिए खंड 1, पृ० 100 तथा बुलेटिन ऑफ़ दि स्कूल ऑफ़ ओरिएंटल स्टडीज़ i. 4,1920, पृ० 7-8.

उद्देश्य यह था कि मैं किसी सर्वथा नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं कर रहा हूँ और दूसरा यह था कि इससे उन्हें कुछ प्राचीन आचार्यों के ध्वनि के प्रति अस्पष्ट मत (वास्तविक अथवा काल्पनिक) में साक्ष्य प्राप्त हो गया, तथापि यह स्पष्ट है कि यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि के विषय में स्पष्ट रूप में कुछ नहीं कहा है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें किसी भी प्रकार के 'व्यंग्यार्थ' का ज्ञान नहीं था।

यह एक विचित्र बात है कि ध्वनिकार के ग्रंथ-जैसी रचना बिना किसी पूर्व वृत्तांत के एकाएक प्रकट हो गई। संभवतः उनके सिद्धांत के प्राचीन रूप, जिनसे उनके प्रत्यक्ष जन्म तथा विकास का पता चल सकता, या तो लेखनीबद्ध नहीं किए गए थे अथवा कालांतर में उनका लोप हो गया था। इन कारिकाओं में इस सिद्धांत का प्रथम बार निरूपण किया गया है और यह निरूपण अपेक्षाकृत पूर्ण रूप में ही है। इस सिद्धांत की रूप-रेखा व्यवस्थित होते हुए भी उसमें परिवर्धन के लिए पर्याप्त अवकाश है, किंतु किसी महत्त्वपूर्ण अथवा मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। इस सिद्धांत के प्राचीन अस्तित्व के विषय में ध्वनिकार के 'समाम्नातपूर्वः' की व्याख्या में आनंदवर्धन के 'परंपरा' शब्द पर अभिनवगुप्त की टिप्पणी का संभवतः यही आशय है। अभिनव का कथन है (पृ॰ 3) कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने विशिष्ट पुस्तकों में इसका विवेचन किए बिना अविच्छिन्न प्रवाह में इसका कथन किया है (अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं, विनापि विशिष्ट-पुस्तकेषु विवेचनात्)। यह सत्य है कि मुकुल ने (पृ॰ 21) कुछ सहृदयों द्वारा वर्णित ध्वनि के एक नूतन सिद्धांत का उल्लेख किया है (सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य)[1] कि लक्षणा शक्ति से ध्वनि की प्रतिपत्ति नहीं होती तथा कुशाग्र बुद्धि से ही इसका निरूपण हो सकता है (एतच्च विद्वद्भिः कुशाग्रया बुद्ध्या निरूपणीयं···इत्यलमतिप्रसंगेन), संभवतः यहाँ मुकुल का तात्पर्य प्रत्यक्ष रूप में ध्वनिकार से है, जिन्होंने कदाचित् पहली बार अपने स्मारक श्लोकों में प्रचलित परंपरा को एक व्यवस्थित रूप दिया, अथवा

1. यहाँ 'सहृदय' शब्द ध्वनिकार के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा नहीं माना जा सकता (देखिए खंड 1, पृ॰ 98 इत्यादि)। इसे ध्वनि-सिद्धांत के प्रवर्त्तक की उपाधि भी नहीं कहा जा सकता। अधिकांश स्थलों पर इसका जैसा प्रयोग किया गया है, यह शब्द सामान्यतः नवीन सिद्धांत की स्थापना करनेवाले समालोचकों अथवा सहृदयों को अथवा विशिष्टतः ध्वनिकार अथवा आनंदवर्धन को ही निर्दिष्ट करता है। अलंकार साहित्य में इस शब्द का इससे अधिक अर्थ लगाने की आवश्यकता नहीं है। संभवतः यह शब्द प्रत्यक्षतः आनंदवर्धन का ही वाचक है, जो मुकुल के पिता कल्लट के समकालीन थे (देखिए खंड 1, पृ॰ 70.)।

आनंदवर्धन से है, जिन्हें सिद्धांत को पूर्णतया एक नवीन तथा व्यवस्थित रूप देने का श्रेय प्राप्त है।

ध्वनिकार से भी पहले किसी-न-किसी रूप में ध्वनि-सिद्धांत की परंपरा का अस्तित्व था, इस अनुमान की इस बात से भी पुष्टि होती है कि जहाँ तक इस सिद्धांत के सार-रूप का संबंध है, इसे प्राचीन वैयाकरणों से ग्रंथों तथा उनकी शब्द-विषयक अर्ध-दार्शनिक मीमांसा से भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि आरंभ में अभिव्यक्ति के एक सिद्धांत के रूप में, व्यंजना-सिद्धांत को प्राचीन वैयाकरणों ने मान्यता नहीं दी, किंतु इस सिद्धांत के समर्थक आचार्य स्वयं को एक सर्वथा नवीन सिद्धांत के प्रवर्तक नहीं कहलाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने यह कहकर कि हमारा सिद्धांत आपके ही प्राचीन 'स्फोट' सिद्धांत के सदृश है, वैयाकरणों का साक्ष्याश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न किया। हम यह पहले ही बता चुके हैं[1] कि काव्यविद्या पर प्राचीनतर व्याकरण-शास्त्र का बहुत प्रभाव रहा है, और स्वयं आनंदवर्धन ने बड़ी सावधानी से कहा है कि जिस सिद्धांत का मैंने प्रतिपादन किया है, वह वैयाकरणों के सिद्धांतों पर ही आधारित है। सबसे पहले उन्होंने ही 'स्फोट' को व्यक्त करनेवाले श्रूयमाण वर्ण के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया है।[2] इस अंश पर अभिनवगुप्त की टीका में संभवतः अति-प्रसंग दोष आ गया है, उन्होंने 'वाक्यपदीय' के साक्ष्य पर 'स्फोट' सिद्धांत के सभी पक्षों का सविस्तर विवेचन किया है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि काव्यविद्या के आचार्यों के सम्मुख, ध्वनि-सिद्धांत का निरूपण करते समय स्फोट का सिद्धांत अवश्य विद्यमान था। 'स्फोट' को नव्यप्लेटो-वादियों के 'लोगेस' के समान कहा गया है और प्रायः 'एक्सप्रेशन', 'कान्सेप्ट' अथवा 'आइडिया' शब्दों

1. देखिए खंड 1. पृ० 7-8।
2. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरण-मूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यहरंति। तथैवान्येस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः (पृ० 47-8)। इस पर 'लोचन' का अवलोकन कीजिए। इससे भी तुलना कीजिए—परिनिश्चित-निरपभ्रंशशब्द-ब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिंत्यते (पृ० 199)। जैसा कि कुछ लोग समझ बैठे हैं, इस अंतिम अंश में वेदांत की ओर निर्देश नहीं है, अपितु व्याकरण-दर्शनशास्त्र-मूलक शब्द-ब्रह्म के सिद्धांत को ही निर्दिष्ट किया गया है। इस अंश पर *ZDMG.* vii, 19.3, पृ० 56 पा० दि० 1 में जेकोबी का नोट देखिए।

से इसका अनुवाद किया गया है, किंतु इनमें से कोई भी शब्द इसके वास्तविक स्वरूप का वाचक नहीं है। कुछ दार्शनिकों ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया, और वैयाकरणों ने इसे मान भी लिया, कि शब्द का अपना एक आदिरूप होता है। स्फोट यथार्थ में शब्द का आदिरूप नहीं है, किंतु इसे शब्द के वर्ण-समुदाय की ध्वनि कहा जा सकता है, जिससे शब्द के अगों अर्थात् वर्णों के अतिरिक्त उसके अर्थ का भी बोध होता है। स्फोट में शब्द के वर्णों के पौर्वापर्य के अनुसार ध्वनि नहीं होती, अपितु उन वर्णों की ध्वनियाँ अथवा उन्हीं के समान कुछ वस्तुओं का अविभाज्य रूप में सम्मिश्रण हो जाता है। जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उसकी पृथक्-पृथक् ध्वनियाँ कुछ अंशों में स्फोट के विशिष्ट ध्वनिक्रम में भी परिलक्षित होती हैं। अंतिम ध्वनि का लोप हो जाने पर, इन सब ध्वनियों से परिलक्षित स्फोट की प्रतीति हो जाती है और इस प्रकार अर्थ-बोध हो जाता है। अतएव, पृथक्-पृथक् वर्णों की ध्वनि से भिन्न, शब्द-ध्वनि का समुदाय ही स्फोट है।

इस कुछ-कुछ रहस्यमूलक कल्पना से संकेत पाकर आलंकारिकों ने सादृश्य के आधार पर ध्वनि के सिद्धांत का विकास किया। उनका कथन है कि काव्य के अनेक वाच्य भाग अथवा खंड अवाच्य गंभीर अर्थ के व्यंजक होते हैं; यह अर्थक्रम तथा साररूप में अभिधार्थ तथा लक्ष्यार्थ से भिन्न होता है। इसी अर्थ को काव्य में 'ध्वनि' अथवा 'व्यंग्य-अर्थ' कहा गया है। जैसा कि आनंदवर्धनका कथन है, वैयाकरणों ने कहीं-कहीं स्वयं 'ध्वनि' शब्द को स्फोट के व्यंजक शब्द अथवा वर्णों के लिए प्रयुक्त किया है। इस संबंध में आचार्य मम्मट की टिप्पणी यथास्थान है। ध्वनि के लक्षण-निरूपण पर अपनी वृत्ति (1.4) में उन्होंने कहा है कि वैयाकरणों के मतानुसार ध्वनि वह शब्द है, जिससे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्फोट की अभिव्यक्ति हो, क्योंकि स्फोट से ही शब्द के अर्थ का बोध होता है। अन्य आचार्यों (मम्मट के अनुसार काव्यविद्याविषयक ध्वनि सिद्धांत के आचार्य) ने इससे एक पग आगे बढ़कर, वाच्यार्थ के स्थान पर एक और ही अर्थ को लक्षित करने में समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए ध्वनि शब्द प्रयुक्त किया है। वस्तुतः इन दोनों सिद्धांतों का परस्पर कोई विशेष संबंध नहीं है, आलंकारिकों को वास्तव में अपनी व्यंजना-शक्ति के सिद्धांत के लिए किसी प्रमाण अथवा साक्ष्य की आवश्यकता थी और व्याकरण के महान् आचार्यों ने उन्हें प्रश्रय नहीं दिया। वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धांत में भी इसी प्रकार का विधान है, क्योंकि शब्द के वर्ण सार्थक को ही व्यक्त करते हैं।

अतएव, आलंकारिकों को सादृश्य के आधार पर यह कहने का मौका मिल गया कि हमें भी 'प्रथमे विट्ठांसो' अर्थात् वैयाकरणों का साक्ष्य प्राप्त है। उन्होंने इसी आधार पर अपने 'व्यंजना-सिद्धांत' की स्थापना की। यहाँ यह कहना अभीष्ट है कि 'व्यंजना' शब्द से लक्षित 'अभिव्यक्ति' का विचार, जैसा कि पहले बताया जा चुका है [1], भारतीय मीमांसा में कोई नवीन विचार नहीं। व्यंजना से किसी नवीन वस्तु का कथन लक्षित नहीं होता, अपितु पहले से ही विद्यमान की अभिव्यक्ति लक्षित होती है। जैसा कि भारतीय दर्शनशास्त्र में प्रसिद्ध उदाहरण है, व्यंजना से अभिव्यक्ति इस प्रकार होती है, जिस प्रकार दीप के प्रकाश से पहले से ही विद्यमान पात्र की अभिव्यक्ति होती है। यद्यपि ध्वनि की सामान्य कल्पना इस प्रकार के अर्थ-रहस्यमूलक विचार-प्रवाह से आप्लावित है, तथापि आनंदवर्धन ने स्पष्ट कहा है (पृ० 232-4) कि जैसा प्रायः समझा जाता है, उसके विपरीत, ध्वनि कोई रहस्यमय कल्पना नहीं है। इसका स्वरूप-निरूपण भली प्रकार किया जा सकता है और इसे समझाया जा सकता है। ध्वनि का खंडन करनेवाले मतों से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं है। कपिल (मुनि) ने 'अनाख्येय' कहकर 'स्फोट' के सिद्धांत का दर्शनशास्त्र से बहिष्कार कर दिया था।

यद्यपि इस सिद्धांत ने थोड़े से परिवर्तन के साथ शब्द के स्वरूप तथा शक्ति के विषय में वैयाकरणों के तत्संबंधी विश्लेषण (चिंतन) को स्वीकार किया तथा स्फोट-सिद्धांत के सादृश्य पर ध्वनि की स्थापना की, फिर भी वास्तव में ध्वनि-मत का अभिव्यक्ति-सिद्धांत आरंभ से ही स्वतंत्र था। इस मत के अंतर्गत 'व्यंजना' तथा 'व्यंग्यार्थ' से प्रतिपादित शक्ति का पूर्ववर्ती मीमांसात्मक साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। किंतु ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन का मिश्रित ग्रंथ काव्यविद्या के अन्य मतों से प्रभावित है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ध्वनिकार नहीं तो आनंदवर्धन, भरत, भामह, उद्भट तथा वामन के मतों से पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं। आनंदवर्धन ने इनमें से अधिकांश आचार्यों का प्रत्यक्ष रूप में नामोल्लेख किया है। किसी-न-किसी रूप में रस, अलंकार तथा रीति के सिद्धांतों का ज्ञान तो ध्वनिकार को भी अवश्य रहा होगा। 'ध्वन्यालोक' के दो प्रतिपाद्य विषय (प्रयोजन) हैं—(1) ध्वनि-सिद्धांत की स्थापना करना और यह सिद्ध करना कि काव्यविद्या के प्राचीन तथा समकालीन सिद्धांतों से ध्वनि की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, तथा (2) ध्वनि से

1. देखिए खंड 1, पृ० 10।

उनके परस्पर संबंध का विवेचन करने के दृष्टिकोण से रस, अलंकार, रीति, गुण तथा दोषविषयक विद्यमान विचारों की समालोचना तथा दोनों के संश्लेषण से काव्यविद्या के एक पूर्ण तथा व्यवस्थित सिद्धांत का विकास करना। 'ध्वन्यालोक' के इन दोनों प्रयोजनों में इस सीमा तक सफलता मिली कि लगभग सभी परवर्ती आचार्यों ने अप्रत्यक्ष रूप में ध्वनि के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया और ऐसे सभी सिद्धांतों को, जो आनंदवर्धन के पश्चात् प्रकाश में आए और आचार्य मम्मट जिनके प्रथम तथा प्रमुख प्रतिनिधि रहे, वास्तव में स्वतंत्र मतों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही उन्हें रस, अलंकार अथवा रीति के प्राचीन मतों से संबद्ध किया जा सकता है। वास्तव में ये सिद्धांत एक नवीन सौंदर्यात्मक व्याप्त सिद्धांत का रूप हैं, जिनमें इन सभी मतों के विचारों का समाहार करके एकरसता स्थापित की गई है। आनंदवर्धन ने अपने ग्रंथ में सबसे पहले इस नवीन समन्वय की रूपरेखा देकर इस सिद्धांत का सुदृढ़ शिलान्यास किया।

अभिव्यक्ति-सिद्धांत पर आधारित ध्वनि-मत में प्रथमतः शब्द की शक्ति तथा शब्द के अर्थ के विषय में व्याकरणात्मक तथा दार्शनिक समस्याओं का विवेचन है; अथवा, दूसरे शब्दों में, शब्द तथा अभिधार्थ के परस्पर संबंध का विवेचन है। वैयाकरण, नैयायिक तथा मीमांसक पहले ही यह निर्धारित कर चुके थे कि जिस शक्ति से शब्द के मुख्य अथवा शक्य अर्थ का बोध हो वह अभिधा है, इसका रूढ़ अर्थ 'संकेतित अर्थ' है। अभिधा शक्ति से 'गौ' शब्द से गौ का बोध होता है। अभिधा, शब्द की वह शक्ति है, जिससे बिना किसी अन्य शक्ति की बाधा के शब्द के रूढ़ अथवा संकेतित अर्थ का ही बोध हो। इस शब्द से इस अर्थ का बोध होता है, यही 'संकेत' है, और लोक-व्यवहार से सिद्ध होता है (अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारः शक्तिग्राहकः समयः)। यह शक्ति 'ईश्वरेच्छा' अथवा 'इच्छामात्र' (अर्थात् मानव इच्छा) है, यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना अनावश्यक है, किंतु 'संकेत' के विषय में वैयाकरणों, नैयायिकों, सौगतों तथा मीमांसकों के अपने-अपने सिद्धांत हैं। वैयाकरणों का अनुसरण करते हुए काव्यविद्या के आचार्यों ने कहा[1] है कि संकेत, जाति, द्रव्य, गुण अथवा क्रिया पर आश्रित होता है।

---

1. मुकुल तथा मम्मट ('शब्द व्यापार', पृ० 2) दोनों का कथन है कि आलंकारिकों का यह मत 'महाभाष्य' (कोलहार्न सं० पृ० 19, i. 20) के अंतर्गत 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' सूत्र पर आधारित है।

जब 'अभिधेयार्थ' अथवा मुख्यार्थ में बाधा होती है, तब 'लक्षणा' शक्ति का बोध होता है और रूढ़ि अथवा 'प्रयोजन' द्वारा मुख्यार्थ से संबंधित एक अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ, ऐसा कहा जा सकता है, 'देश मुदित है', किंतु देश तो स्वयं मुदित नहीं हो सकता, यहाँ अभिप्रेतार्थ है कि देश के लोग मुदित हो रहे हैं, खुशियाँ मना रहे हैं। जैसा कि बाद के विश्लेषण (व्याख्या) से सूचित होता है, यह शक्ति वास्तव में अर्थ-व्यापार के कारण है, किंतु शब्दाश्रित होने के कारण यह 'आरोपित-शब्दव्यापार' ही है। अर्थात् (जैसा कि अन्य आचार्यों ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है), पहले शब्द होता है, तब उसका 'वाच्यार्थ' होता है, तत्पश्चात् लक्षणा शक्ति के कारण व्याच्यार्थ से ही संबंधित 'लक्ष्यार्थ' की प्रतीति होती है। अतएव, 'लक्ष्यार्थ' 'सांतर' होता है, अभिधा के समान 'निरंतर' नहीं होता, क्योंकि उसके मध्य में वाच्यार्थ आ जाता है; जब अभिधार्थ अथवा मुख्यार्थ बाधित होता है, तभी 'लक्षणा' का उपयोग किया जाता है, इसीलिए अभिधार्थ पर आश्रित होने के कारण लक्षणा 'अर्थ-निष्ठ' होती है।[1] अतएव, 'लक्षणा' के लिए तीन अनिवार्य बातों का होना आवश्यक है, अर्थात्, अभिधार्थ अथवा मुख्यार्थ का बाधित्व, संकेतित अर्थ का मुख्यार्थ से संबंध तथा लक्षणा के प्रयोग का प्रयोजन। जिस प्रकार अभिधा व्यावहारिक संकेत के आश्रित होती है, उसी प्रकार लक्षणा इन तीन बातों पर आधारित विशिष्ट संकेत अथवा रूढ़ि के आश्रित होती है। क्योंकि मुख्यार्थ के बिना लक्ष्यार्थ अथवा आरोपितार्थ संभव ही नहीं है, इसलिए कभी-कभी लक्ष्यार्थ को अभिधा की पूँछ कहा गया है (अभिधापुच्छभूता)। वस्तुतः, जैसा कि पहले बताया जा चुका है[2], भट्टनायक जैसे आचार्यों ने लक्षणा को अभिधा के अंतर्गत ही माना है, क्योंकि लक्षणा को अभिधा का ही एक रूप कहा गया है।

व्युत्पत्तिमूलक होने के कारण, विभिन्न ग्रंथों में लक्षणा तथा अभिधा के परस्पर संबंध का विवेचन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। आलंकारिकों के 'लक्षणा'-विषयक विवेचन के अनुरूप 'न्यायसूत्र' में एक शब्द अन्य शब्द के लिए किन-किन गौण अथवा आरोपित अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है, इसकी पूरी सूची दी गई है (ii. 2.63.); किंतु मुकुल ने भर्तृमित्र

---

1. शक्त्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयत्वाच्छब्दे आरोपित एव स व्यापारः, वस्तुतोऽर्थनिष्ठ एवेत्यर्थः, तदुक्तं ''सांतरार्थनिष्ठः' इति, ... प्रतीप, निर्णयसागर प्रेस सं० 1912, पृ० 27.

2. ऊपर देखिए, अध्याय 4, पृ० 114.

के साक्ष्य का उल्लेख किया है,[1] जिन्होंने एक श्लोक में इन अर्थों के पाँच जाति-भेद किए हैं, अर्थात्, संबंध, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य तथा क्रियायोग। व्यावहारिक प्रयोग के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—'पीन (स्थूलकाय) देवदत्त दिन में नहीं खाता' (पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते); 'यह बालक सिंह है' (सिंहो माणवकः); 'गंगा पर घोष' (गंगायां घोषः); 'यह मूर्ख बृहस्पति है' (बृहस्पतिरयं मूर्खः) तथा 'महासमर में आप शत्रुघ्न हैं' (महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्)। इन विश्लेषणात्मक सूक्ष्मताओं अथवा लक्षणा के सूक्ष्म रूप-भेदों का अधिक विवेचन करना अनावश्यक है, किंतु यह द्रष्टव्य है कि एक वस्तु के गुण-धर्म अथवा कार्य का काल्पनिक रूप से अन्य वस्तु पर आरोप पर आश्रित रूपक तथा रूपकमूलक अलंकार 'लक्षणा' अथवा लक्ष्यार्थ पर ही निर्भर होते हैं। ऐसा कहा गया है कि रूपकात्मक आरोपितार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से विशिष्ट सौंदर्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि विवक्षित लक्ष्यार्थ अथवा आरोपितार्थ में कवि का विशिष्ट प्रयोजन, प्रत्यक्ष रूप में लक्षित किए बिना, अथवा लक्षित किए बिना ही, निष्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं, 'युवावस्था जीवन का वसंत है', तो प्रत्यक्ष रूप में बिना व्यक्त किए इससे हमारा तात्पर्य वसंतकालीन सौंदर्य, शक्ति अथवा उपभोग से है। 'प्रयोजन' के अलक्षित अथवा अवाच्य होने पर भी उसकी प्रतीति होती है। अतएव, जैसा कि आगे बताया जायगा, अभिधा तथा लक्षणा के अतिरिक्त शब्द की तीसरी शक्ति 'व्यंजना' को, जिससे अवाच्यार्थ का बोध होता है, स्वीकार करने का यह भी एक कारण है।

किंतु कुछ लेखकों की एक ऐसी भी श्रेणी है, जिसने 'तात्पर्य' नामक शब्द

---

1. अभिधावृत्तिमातृका, पृ० 17. लेखक का नाम दिए बिना इस श्लोक को मम्मट के 'शब्दव्यापार', पृ०8, 'कामधेनु' पृ० 133 तथा अन्य अनेक ग्रंथों में उद्धृत किया गया है। अभिनवगुप्त ('लोचन' पृ० 56) ने इस श्लोक को निर्दिष्ट करते हुए इन पाँच जातिभेदों पर चर्चा की है। मुकुल भट्ट के ग्रंथ में गद्यमय वृत्तिसहित 15 कारिकाएँ हैं। शब्द तथा उसके अर्थ-व्यापार का सिद्धांत क्या हो, यह इस ग्रंथ का विवेचन-विषय है। इसमें लक्षणा को अभिधा के अंतर्गत ही माना गया है, क्योंकि इसके कथनानुसार अभिधा शक्ति के दो रूप होते हैं : प्रत्यक्ष तथा परोक्ष और इन दोनों से ही शब्द के अर्थ का बोध होता है। मुकुल ने केवल अभिधा पर ही विचार किया है, किंतु मम्मट ने अपने 'शब्दव्यापार-परिचय' में शब्द की तीन विभिन्न शक्तियों की स्थापना की है, तीसरी शक्ति 'ध्वनि' है।

की एक अन्य शक्ति के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। वाक्य के संपूर्ण अर्थ के रूप में, वाक्यगत शब्दों के परस्पर अन्वय की प्रतीति तात्पर्य के कारण ही होती है। तात्पर्य से अनेक शब्दों के परस्पर संबद्ध अर्थ का बोध होता है, इसलिए यह एक ही शब्द के अर्थ की बोधक अभिधा तथा लक्षणा से भिन्न होता है। तात्पर्यार्थ की प्रतीति अथवा अभिव्यक्ति शब्द से नहीं होती, अपितु संपूर्ण वाक्य से होती है, इसलिए यह पृथक्-पृथक् शब्दों से वाच्य अथवा लक्षित अर्थ से भिन्न होता है। इस मत के अनुसार, शब्दों में पदार्थों को लक्षित करने की शक्ति तो होती है, किंतु उनसे पदार्थों के परस्पर संबंध अर्थात् अन्वय का बोध नहीं होता। अन्वय का बोध शब्दों के अर्थ से नहीं होता, अपितु 'योग्यता', 'सन्निधि' तथा 'आकांक्षा' पर आश्रित परस्पर संबंध से होता है। इस प्रकार अन्वय के बोध से 'तात्पर्य' नामक विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। मम्मट ने इन अभिहितान्वयवादियों के मत की व्याख्या इस प्रकार की है (ii. 1, वृत्ति)[1]—"आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिवश, पदार्थों के वक्ष्यमाण स्वरूप-समन्वय से तात्पर्य नामक अर्थ की प्रतीति होती है। इस अर्थ का अपना विशिष्ट रूप होता है, जो अपदार्थ होने पर भी वाक्यार्थ होता है। अभिहितान्वयवादियों का यही मत है।" मीमांसकों के एक अन्य मत, अन्विताभिधानवादियों ने इस सिद्धांत का खंडन किया है। उनके मतानुसार 'तात्पर्य' सदृश एक अन्य शक्ति का प्रतिपादन अनावश्यक है। उनका यह कथन है कि शब्द वस्तुओं को ही लक्षित नहीं करते, अपितु उनके अन्वय को भी लक्षित करते हैं। अथवा, दूसरे शब्दों में, शब्द अपने अर्थ को सामान्यतः लक्षित नहीं करते, समन्वय रूप में ही करते हैं। उदाहरणार्थ, व्यावहारिक जगत् में, हमें अर्थ का बोध पहले वाक्य से ही होता है। शब्दों से अर्थ का बोध निरपेक्ष (पूर्ण) रूप में नहीं होता, अपितु सापेक्ष रूप में ही होता है, अर्थात्, उनके समन्वय अथवा परस्पर संबंध से ही होता है। यथोचित परिवर्तन-सहित यह सिद्धांत बार्कले के 'अमूर्त अर्थ' के निषेध का स्मारक है।

ध्वनि-सिद्धांत के प्रवर्तकों ने इस प्रकार की कोई सूक्ष्म मीमांसा नहीं की है, किंतु अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने इस मत को स्वीकार किया है। यद्यपि मम्मट के समय से अधिकतर आचार्यों ने शब्द-शक्ति के प्रारंभिक विश्लेषण से ही

1. आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादीनां मतम्।

ग्रंथारंभ किया है (मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में तथा पृथक् रूप से अपने 'शब्दव्यापारपरिचय' में इन समस्याओं का विवेचन किया है)। अप्पय्य के 'वृत्ति-वार्तिक' नामक ग्रंथ के समान कुछ परवर्ती ग्रंथों में विशेष रूप से इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। आनंदवर्धन के समय से सभी आचार्यों ने एक नियम के समान 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' को स्वीकार किया है, किंतु पृथक् शक्ति के रूप में वे 'तात्पर्य' के विषय में एकमत नहीं हैं। उन्होंने तात्पर्य को 'व्यंजना वृत्ति' में ही समाहित माना है। ध्वनि-मत में इसे तीसरी तथा सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में स्थापित किया गया है। काव्य में ध्वनि का सिद्धांत इसी शक्ति पर आधारित है। सामान्यतः 'व्यंजना' को शब्द की वह शक्ति अथवा वह अर्थ कहा गया है, जो अन्य दो शक्तियों अर्थात् 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' से व्यक्त नहीं हो पाता। अभिधा तथा लक्षणा शक्तियों के कारण शब्दों से विचार अथवा कल्पना का बोध होता है। वाक्य में शब्दों के विन्यास से जिस शक्ति द्वारा वाक्य के पूर्ण अर्थ का बोध होता है, उसे 'तात्पर्य' कहा गया है। इसके अतिरिक्त, एक अन्य शक्ति प्रतिपादित की गई, जिसके द्वारा एक विशिष्ट अर्थ, अर्थात् 'व्यंग्यार्थ' का बोध होता है। यह 'व्यंग्यार्थ' साधारण अर्थ के कारण होते हुए भी उससे भिन्न होता है।[1] सभी उत्तम काव्यों अर्थात् ध्वनि-काव्यों[2] में इस प्रकार के अर्थ का होना आवश्यक माना गया है। इस अर्थ की प्रतीति इस मत द्वारा प्रतिपादित 'व्यंजनावृत्ति' के कारण ही होती है।

'व्यंजना' का अलग से प्रतिपादन करना आवश्यक है, अथवा उसे 'अभिधा' अथवा 'लक्षणा' शक्तियों तथा 'अनुमान'-सदृश शास्त्रीय प्रमाणों में ही समाहित मान लिया जाए, इस प्रश्न को लेकर तीव्र विवाद हुआ है। जयरथ ने एक

---

1. इन्हीं तीन शक्तियों के कारण शब्द (अथवा उसके अर्थ) को क्रमशः वाचक, लक्षक तथा व्यंजक कहा जाता है और फलस्वरूप अर्थ को भी क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ कहा जाता है।
2. 'ध्वनि' शब्द को प्रायः 'व्यंग्यार्थ' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है (तुलना कीजिए, हेमचंद्र पृ० 26)। कभी-कभी गलती से इसे 'व्यंजना' के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है। वास्तव में 'व्यंजना' तो वह प्रक्रम है, जिससे 'व्यंग्यार्थ' की निष्पत्ति होती है। 'ध्वनि-काव्य' को वह नाम इस लिए दिया गया है, क्योंकि वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ के आधिक्य के कारण इस काव्य में श्रेष्ठ व्यंग्यार्थ ही ध्वनित होता है। विश्वनाथ ने (पृ० 198) व्युत्पत्ति की दृष्टि ये इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यंग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्निगदितः काव्यम्।

श्लोक उद्धृत किया है (पृ० 9), जिसमें व्यंजना की बारह प्रकार से भिन्न-भिन्न व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है, अथवा व्याख्या की गई है, किंतु मोटे तौर से आनंदवर्धन तथा उनके मतानुयायियों का अनुसरण करते हुए वहाँ मुख्य-मुख्य प्रस्तावित व्याख्याएँ ही द्रष्टव्य हैं। 'ध्वन्यालोक' के प्रथम श्लोक में इन परस्पर विरोधी मतों के तीन वर्ग किए गए हैं। पहला वर्ग अभाववादियों का है। उनके अनुसार काव्य में व्यंग्यार्थ होता ही नहीं। दूसरे विरोधी मत का यह कथन है कि यह वाणी का विषय ही नहीं है (केन्चिद् वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयम्), यह केवल सहृदय-हृदय-संवेद्य है (सहृदयहृदयसंवेद्यं,—आनंद, पृ० 10)। एक तीसरा मत है जिसमें अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य-सदृश शास्त्रीय शक्तियों अथवा 'अनुमान'-सदृश प्रमाणों से इसकी उत्पत्ति बताई गई है। इन तीनों मतों में दो विभिन्न बातों का कथन है—एक में तो ध्वनि का सर्वथा अभाव बताया गया है तथा 'व्यंजना' को अनावश्यक कहा गया है, दूसरे में ध्वनि को स्वीकार तो किया गया है, किंतु 'व्यंजना' को अनावश्यक बताया गया है, क्योंकि सामान्य शास्त्रीय शब्द-शक्तियों से ही पर्याप्त रूप में 'व्यंजना' का बोध हो जाता है।

अभाववादियों का खंडन करते हुए एक पुराना तर्क दिया गया है कि जो अवगम्य नहीं है अर्थात् जिसका बोध नहीं हो सकता, उसका अभाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, अर्थात् उसका निषेध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की विशुद्ध तार्किक आपत्तियों को यदि अलग रखा जाए, तो 'व्यंग्यार्थ' के प्रतिपादन में यह कहा गया है कि पहले तो, वस्तुतः सत्य होने के कारण, सौंदर्यमूलक समीक्षा तथा अनुभव के आधार पर व्यंग्यार्थ के अस्तित्व को निश्चित रूप में सिद्ध किया जा सकता है; दूसरे, काव्य के कुछ ऐसे अंग (यथा 'रस') भी हैं, जिनका बोध अभिधा, लक्षणा, अनुमान-सदृश प्रमाणों से भलीभाँति सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके पश्चात् ऐसे मतों की चर्चा की गई है, जिनमें 'व्यंग्यार्थ' की कल्पना को स्वीकार तो किया गया है, किंतु इस प्रकार की एक पृथक् तथा अशास्त्रीय वृत्ति, अर्थात् 'व्यंजना', को अनावश्यक कहा गया है, क्योंकि उसे शब्द तथा अर्थ की अन्य वृत्तियों में ही समाहित किया गया है। उदाहरणार्थ, कुछ मीमांसकों का कथन है कि अभिधावृत्ति से ही तथाकथित लक्ष्यार्थ का बोध हो सकता है। इस विषय में दीर्घव्यापारवादियों[1] का कथन है कि जिस प्रकार एक बलवान्

1. कहीं-कहीं इस मत को लोल्लट का मत कहा गया है, किंतु इस प्रश्न पर खंड 1, पृ० 35-6 का अवलोकन करें।

व्यक्ति द्वारा छोड़ा गया एक ही तीर वेग रूपी एक ही प्रहार से शत्रु के कवच को बींधकर उसके शरीर को भी बींध जाता है और उसके प्राण हर लेता है, उसी प्रकार सुकवि द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द, केवल मात्र अभिधा शक्ति द्वारा शब्द के अर्थ तथा उसके अन्वय का बोध करवाता है, जिससे व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। इस रुचिकर वर्णन का सारांश यह है कि अभिधा की शक्ति बहुत व्यापक होती है। 'संकेतित अर्थ' का बोध करवाना ही उसका एकमात्र प्रयोजन है, यह ठीक नहीं; शब्द के श्रवण के पश्चात् वह किसी भी अर्थ की प्रतीति करवाने में समर्थ है। इसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि अभिधा में 'वस्तु', 'अलंकार' अथवा 'रस' का बोध करवाने की क्षमता नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय मत के अनुसार, वाच्यार्थ का बोध करवाने के पश्चात्, अभिधा का कार्य समाप्त हो जाता है, और रस इत्यादि तो संकेतमात्र के विषय नहीं हैं। रस के अंगों, अर्थात् विभावों का, जिनसे रस की निष्पत्ति होती है, अभिधान स्वयं रस का अभिधान नहीं है, क्योंकि यह स्वीकार किया गया है कि रस की प्रतीति अभिधान मात्र से नहीं होती, अपितु, स्वगत आनंद की अनुभूति से होती है, जिसका विकास केवल लक्षित ही किया जा सकता है। इन सब तथ्यों का समाधान तभी हो सकता है, जब कि हम 'दीर्घव्यापारवादियों' के समान अभिधा शक्ति को सर्वव्याप्त मान लें, किंतु इसके लिए साक्ष्य का अभाव है। अपितु, यदि अभिधा की शक्ति इतनी व्याप्त मान लें तो लक्षणा शक्ति की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि जिस अर्थ का बोध लक्षणा से होता है, वह अभिधा से भी हो सकता था।

अतएव, अभिधार्थ को संकेतबोधक ही मान सकते हैं। उसकी अनेकरूपता नहीं हो सकती, क्योंकि विशिष्ट संकेतित अर्थ का बोध करवाने के पश्चात् उसका कार्य समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत, अक्सर, वक्ता इत्यादि के भेद के कारण लक्ष्यार्थ में अनेकरूपता आ जाती है। अभिधार्थ तथा लक्ष्यार्थ की परस्पर भिन्नता इस प्रकार बताई गई है—(1) रूप की दृष्टि से, कभी-कभी लक्ष्यार्थ, अभिधार्थ का निषेध अथवा विधि रूप हो सकता है, (2) स्थान की दृष्टि से, अभिधार्थ केवल शब्दाश्रित होता है, किंतु लक्ष्यार्थ, शब्दों, उनके विन्यास अथवा स्थान, स्वयं शब्दों के वाच्यार्थ, उपसर्गों अथवा प्रत्ययों तथा वर्ण-विन्यास के आश्रित होता है, (3) प्रभाव की दृष्टि से, अभिधार्थ बोधकमात्र ही होता है, किंतु लक्ष्यार्थ विस्मयोत्पादक होता है, (4) वक्ता, श्रोता अथवा ज्ञाता-भेद के कारण भेद। जैसा कि कुछ नैयायिकों का कथन है, यह कहना

कि 'तात्पर्य' से लक्ष्यार्थ का बोध होता है, अपर्याप्त बताया गया है, क्योंकि वाक्य में समन्वयाश्रित अर्थ का बोध करवा देने के पश्चात् तात्पर्य-शक्ति का कार्य समाप्त हो जाता है। उससे 'व्यंग्यार्थ' का बोध नहीं होता। व्यंग्यार्थ की निष्पत्ति तो वाक्यार्थ के बोध के पश्चात् ही होती है।

केवल लक्षणा-वृत्ति से सूक्ष्म व्यंग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता। तथापि, जो लोग लक्ष्यार्थ को ही व्यंग्यार्थ कहते हैं, उनसे यह प्रश्न किया गया है ('लोचन', पृ० 51) कि व्यंजना तथा लक्षणा के अभेद कथन से उनका अभिप्राय क्या है ? (1) ये दोनों 'शक्तियाँ' (वृत्तियाँ) तादात्म्या अथवा तादूरूप्या हैं ? (2) क्या लक्षणा, व्यंजना की निरंतर व्यावर्तकधर्मा है, अथवा (3) लक्षणा, विशेष-विशेष रूपों में व्यंजना की 'उपलक्षणा' अथवा तटस्थ लक्षणा है ? ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन ने इस विषय पर सामान्य रूप से चर्चा की है (पृ० 50-9), किंतु अभिनवगुप्त ने इसका विवेचन कुछ विस्तार से किया है।

प्रथम मत, अर्थात् ध्वनि तथा 'भक्ति' (अर्थात् 'लक्षणा') के अभेद के विषय में ध्वनिकार का कथन है कि व्यंजना, लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि इन दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं (i. 17)। वाच्यार्थ के बाधित होने पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है और यह उपचार-मात्र ही होता है (उपचारमात्रं तु भक्तिः, आ॰ द, पृ० 61), अथवा, जैसा कि अभिनवगुप्त का कथन है, लक्ष्यार्थ गुण-वृत्ति पर आश्रित होता है अर्थात् यह शब्द के गौण प्रयोग पर निर्भर करता है। इसके विपरीत, व्यंग्यार्थ, विशिष्टधर्मी होते हुए भी, वाच्यार्थ को पूर्णतया बाधित नहीं करता। परवर्ती आचार्यों[1] ने इसकी और अधिक व्याख्या करते हुए कहा है कि व्यंग्यार्थ, केवल रूढ़ गुण-वृत्ति अथवा विशिष्ट प्रयोजन पर आश्रित नहीं होता। यदि यह कहा जाए कि 'गंगा पर घोष' (गंगायां घोषः) जैसे वाक्य में स्थान की शीतलता तथा पवित्रता का अभिप्रेत प्रयोजन, व्यंग्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ है, तब वास्तविक लक्ष्यार्थ 'तट', 'गंगा' शब्द का मुख्यार्थ हो जाएगा, (क्योंकि 'तट' का अभिप्रेतार्थ तथा गौणार्थ, दोनों ही लक्ष्यार्थ नहीं हो सकते) और 'तट' के अर्थ में बाधा उपस्थित हो जाएगी, क्योंकि मुख्यार्थ अथवा अभिधार्थ के बाधित हुए बिना लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अतएव, पहले प्रयोजन को लक्षित करने के लिए हमें एक और लक्षित प्रयोजन को स्वीकार करना पड़ेगा (क्योंकि प्रयोजन को माने बिना

1. यथा विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण', पृ० 247-480।

लक्षणा का अस्तित्व ही नहीं हो सकता) और दूसरे लक्षितार्थ के लिए तीसरा प्रयोजन स्वीकार करना पड़ेगा, और इसी प्रकार यावदनंत प्रयोजन स्वीकार करने पड़ेंगे। वास्तव में, जैसा कि पहले ही कहा गया है, प्रयोजन तो अवाच्य ही रहता है। यदि यह अवाच्य रहता है, तब इसका बोध कैसे होता है? इसके लिए मानना पड़ेगा कि प्रयोजन 'व्यंजित' होता है। यह भी बताया जा चुका है कि व्यंजना, वक्ता, श्रोता इत्यादि परिस्थिति-भेद पर आश्रित होती है। स्थाना-श्रित भेद भी होता है। लक्ष्यार्थ अथवा लक्षणा केवल शब्दाश्रित ही होती है, किंतु व्यंजना, शब्द, वर्ण, शब्दार्थ तथा शैली पर आश्रित होती है। इसके अतिरिक्त मम्मट का कथन है कि व्यंजना को लक्षणा-सहित अभिधा का सहधर्मी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यंजना का भाव तो बिना किसी अभिधा के, वर्णमात्र से ही, होता देखा गया है।

लक्षणा, व्यंजना की व्यावर्तक-धर्मी है, इस कथन पर आश्रित दूसरे मत में ध्वनिकार ने अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष सिद्ध किया है। यह एक मीमांसा-त्मक आपत्ति है तथा ध्वनि के समर्थकों द्वारा प्रतिपादित व्यंजना के निरूपण पर आधारित है, क्योंकि आनंदवर्धन तथा उनके टीकाकार, दोनों ने यह सिद्ध किया है कि कभी-कभी व्यंजना की अपेक्षा लक्षणा की शक्ति अथवा क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। उदाहरणार्थ लक्षणा के प्रयोजन में वैचित्र्य न होने पर 'व्यंजना' को स्वीकार नहीं किया जाता, इसके विपरीत, 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' के क्षेत्र में लक्षणा के लिए स्थान है, क्योंकि यहाँ व्यंजना प्रत्यक्षतः लक्षणाश्रित होती है।

व्यंजना-वृत्ति के प्राचीनतम तथा तीव्रतम आलोचकों में 'अनुमान'-वादियों का नाम भी है। स्वयं आनंदवर्धन ने इनके विचार का कुछ विस्तार से खंडन किया है। परवर्ती साहित्य में महिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' अनुमान-वादियों का एक प्रतिनिधि ग्रंथ है। अनुमान से ही अभिधार्थ का बोध हो सकता है, यही सिद्ध करना इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय है। अधिकांश में इस प्रकार के विवाद मीमांसामूलक हैं। वस्तुतः काव्यविद्या से इनका कोई संबंध नहीं है। महिमभट्ट के सिद्धांत की चर्चा यथास्थान की जाएगी, यहाँ इस सिद्धांत की आनंदवर्धनकालीन सामान्य रूपरेखा देना तथा इसके खंडनार्थ दिए गए तर्कों पर विचार करना ही पर्याप्त रहेगा।

आनंदवर्धन द्वारा इस मत के खंडन (पृ० 201 इत्यादि) से प्रतीत होता है कि इस मत का प्रतिपादित सिद्धांत यह था कि अवाच्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ को

प्रतीति तर्कसंगत निष्कर्ष के अभिप्राय की प्रतीति से भिन्न नहीं होती और व्यंग्य-व्यंजक भाव लिंग-लिंगी भाव ही होता है (व्यंग्य-प्रतीतिर्लिंगप्रतीतिरेवेति लिंग-लिंगि-भाव एव तेषां, व्यंग्यव्यंजकभावो नापरः कश्चित्)। इस मत को मानने का एक कारण यह भी बताया गया है कि स्वयं ध्वनि-मत में व्यंजना को वक्ता के अभिप्राय के आश्रित माना गया है और वह अभिप्राय सदैव न्यायसंगत है। तथापि, आनंदवर्धन का कथन है कि इससे मेरे सिद्धांत में कुछ अंतर नहीं पड़ता। उनके कथनानुसार शब्दों के दो विभिन्न रूप होते हैं, 'अनुमेय' तथा 'प्रतिपाद्य'। अनुमेय, विवक्षामूलक होता है। इसमें शब्द करने अथवा शब्द से किसी अर्थ को व्यक्त करने की इच्छा रहती है। शब्द करने की इच्छा सभी प्राणियों का समान धर्म है, इसलिए वह वाणी का विषय नहीं है। शब्द का 'प्रतिपाद्य' रूप इससे भिन्न है। प्रतिपाद्य रूप स्वयं अर्थरूप होता है, जो कि वक्ता की अर्थ-प्रतिपादन की इच्छा का विषय होता है (प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थ-प्रतिपादनसमीहाविषयीकृतः)। प्रतिपाद्य, 'वाच्य' भी हो सकता है, 'व्यंग्य' भी। कभी तो वक्ता अभिधा से ही अपने विचार का प्रतिपादन करना चाहता है (विवक्षा) और कभी वह अपने विचार का प्रतिपादन इस प्रकार करना चाहता है कि उसका बोध प्रत्यक्ष रूप में शब्दों से नहीं होता। आनंदवर्धन के कथनानुसार इस अवाच्यार्थ का बोध अनुमान के रूप में नहीं हो सकता, अपितु किसी अन्य कृत्रिम अथवा स्वाभाविक संबंध से ही हो सकता है। लिंग के रूप में शब्दों से यह बोध हो जाता है कि अवाच्यार्थ ही अभिप्रेतार्थ है, किंतु वे स्वयं अवाच्यार्थ के बोधक नहीं हो सकते (विवक्षा-विषयत्वं हि शब्दैर्लिंगतया प्रतीयते, न तु स्वरूपम्)। यदि विपरीत पक्ष का समर्थन किया जाए, तब प्रत्येक अर्थ के तर्क-साध्य हो सकने के कारण अनुमान-साध्य निष्कर्ष की तरह अर्थ की सत्यता अथवा मिथ्यात्व में कोई विवाद नहीं रहेगा (यदि हि लिंगतया शब्दानां व्यवहारः स्यात्, तच्छब्दार्थे सम्यङ्मिथ्यात्वादि-विवादा न प्रवर्तेरन्)। वक्ता के अभिप्रेतार्थ के रूप में ही अवाच्यार्थ, सामान्य अनुमान हो सकता है, किंतु स्वयं अभिप्राय का वास्तविक अर्थ, अवाच्य होने पर, व्यंजना-जैसी शक्ति के कारण ही प्रतिपादित हो सकता है। यहाँ यह स्वाभाविक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति तथा अनुमान का विषय नहीं है।

इस प्रकार के विरोधी मतों की चर्चा करने तथा काव्य में व्यंग्यार्थ तथा व्यंजना शक्ति का प्रतिष्ठापन करने के पश्चात् इस मत के विशिष्ट सिद्धांतों का विवेचन किया गया है। इसे व्यंजना, ध्वनन, [illegible] अथवा प्रत्यायन भी

कहा गया है। व्यंग्यार्थ को 'ध्वनि' नाम दिया गया है और ध्वनि के आधिक्य को काव्य की आत्मा कहा गया है।[1] ध्वनि-आश्रित काव्य के तीन जाति-भेद कहे गए हैं। इस प्रकार के श्रेष्ठ काव्य को विशिष्ट रूप से 'ध्वनि-काव्य' नाम दिया गया है। वाच्यार्थ का गौण होना तथा व्यंग्यार्थ का प्राधान्य ऐसे काव्य का लक्षण है। ध्वनिकार ने इसकी व्याख्या इन शब्दों में की है (i. 13)—जहाँ (वाच्य) शब्द अथवा अर्थ गुणीभूत होकर (अवाच्य अथवा प्रतीयमान) अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान लोग ध्वनि (काव्य) कहते हैं।[1] ऐसा काव्य श्रेष्ठ ध्वनि-आश्रित काव्य होता है, इसीलिए इसे 'ध्वनि-काव्य' कहा गया है।[2] काव्य का दूसरा जातिभेद, जिसमें ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ प्रधान न होकर गौण होता है, 'गुणीभूतव्यंग्यकाव्य' कहा गया है।[3] गुणीभूत होने का अर्थ यह है कि व्यंग्यार्थ की प्रधानता वाच्यार्थ के समान अथवा उससे कम होती है। स्वयं 'ध्वन्यालोक' से प्राप्त संकेत के अनुसार व्यंग्यार्थ की दृष्टि से इसके आठ सूक्ष्म भेद बताए गए हैं, जो तर्कसंगत नहीं हैं—(1) गौण,

---

1. किंतु अध्याय 1 के श्लोक 2, जिसमें इस मत का प्रतिपादन किया गया है, का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार है 'सहृदयों द्वारा श्लाघ्य जो अर्थ काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है, उसके 'वाच्य' तथा 'प्रतीयमान', दो भेद बताए गए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि 'अर्थ' स्वयं काव्य की आत्मा है, तथा इसमें इसके अन्य भेदों के साथ 'वाच्य' भी सम्मिलित है। अतएव, ध्वनिकार का प्रत्यक्ष रूप में यह कथन है कि वाच्यार्थ भी काव्य की आत्मा है, यद्यपि, जैसे कि विश्वनाथ ने इस पर आपत्ति की है, यह उनके ग्रंथ के पहले ही श्लोक में प्रतिपादित कथन के विरुद्ध है, जिसमें यह कहा गया है कि प्राचीन आचार्यों की परंपरा के अनुसार ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। अभिनवगुप्त ने परस्पर विरोधी इन दो उक्तियों का समाधान करने के निमित्त कहा है कि i.2 में ध्वनिकार का आशय वास्तव में, 'वाच्य' तथा 'प्रतीयमान' अर्थ का भेद-निरूपण करना है; दोनों ही काव्य की आत्मा हैं, यह अभिप्राय नहीं है। यह आपत्ति सचमुच ही आवश्यकता से अधिक सूक्ष्म है। यह सिद्ध करना नितांत सरल है कि सिद्धांत की मीमांसा में सर्वत्र ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना गया है।

1. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
   व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
   यहाँ 'तमर्थं' से अभिप्राय एक पहले श्लोक, अर्थात् i. 4 में दिए गए 'अथ' शब्द की व्याख्या से है।

2. ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति के लिए पृ० 137 पादटिप्पणी 2 देखिए।

3. ध्वन्यालोक, 3-35।

(2) उच्चारण अथवा संकेत-आश्रित, (3) वाच्यार्थपूर्ति का गुणीभूत, (4) संदिग्ध प्राधान्य, (5) समान प्राधान्य, (6) अस्पष्ट, (7) अगुप्त, अथवा (8) चारुता-रहित। ऐसा काव्य, जिसमें व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव होता है, काव्य का तृतीय तथा निकृष्टतम प्रकार है। केवल 'शब्दचित्र' अथवा 'अर्थ-चित्र' होना इसका लक्षण है, अतएव इस प्रकार के काव्य को चित्र-काव्य कहा गया है।[1] चित्र काव्य के अंतर्गत इस प्रकार के सभी काव्य आ जाते हैं, जो शब्द-सौंदर्य अथवा चित्रमय वर्णन अथवा इस प्रकार के यंत्रवत् साधनों से कर्णप्रिय होने के कारण श्लाघ्य माने जाते हैं। काव्य के इसी भेद के अंतर्गत ऐसे अलंकार-निबंध भी आते हैं, जिनमें व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव रहता है और जो केवल 'वैचित्र्य' के कारण पसंद किए जाते हैं। आनंदवर्धन ने ऐसे निबंधों को 'वाग्विकल्प' कहा है। आनंदवर्धन ने स्पष्ट कर दिया है कि 'चित्रकाव्य' को काव्य कहना उचित नहीं है, यह तो काव्य की अनुकृति अथवा नकल है (काव्यानुकारः), क्योंकि वास्तव में ध्वनि के बिना काव्य हो ही नहीं सकता। तथापि उन्होंने इस प्रकार के निबंधों को काव्य के वर्ग में स्वीकार कर लिया है, क्योंकि वास्तव में निरंकुश कवियों ने इस प्रकार की निबंध रचना की है, जो व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि के विकास के प्रयोजन से रहित है, उसमें शब्द तथा अर्थमूलक चारुता ही एकमात्र उद्देश्य रहा है।

काव्य के तीन भेदों का स्वरूप-निरूपण बड़ी सूक्ष्म रीति से किया गया है। प्रत्येक भेद को सूत्रबद्ध करना तथा उसका सूक्ष्म स्वरूप-निरूपण करना ही इस विवेचन का एकमात्र उद्देश्य प्रतीत होता है, किंतु इसके साथ-ही-साथ, शास्त्रीय सिद्धांतों के अनुसार सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण से सभी तथ्यों का यथोचित विवेचन करने तथा काव्य में ध्वनि के मुख्य सिद्धांत के अनुरूप सभी विभिन्न मतों के तत्संबंधी विचारों का संश्लेषण करने का प्रयत्न भी दृष्टिगोचर होता है। अत्यधिक सैद्धांतिक तथ्य-अवहेलना अथवा तथ्यविरुद्ध विवेचन इत्यादि के

1. आनंदवर्धन ने चित्रकाव्य का इस प्रकार वर्णन किया है—'रस-भावादि-तात्पर्य-रहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवल-वाच्यवाचक-वैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदवभासते तच्चित्रम्' (पृ० 220)। अभिनवगुप्त ने विभिन्न रूपों में इस शब्द की व्युत्पत्ति का कथन किया है—'विस्मयकृद्वृत्तादिवशात्——काव्यानुकारित्वाद् वा चित्रं, आलेख्यमात्रत्वाद् वा, कलामात्रत्वाद् वा' (पृ० 34)। आनंदवर्धन के मत के प्रति आदर सूचित करते हुए मम्मट ने चित्र को काव्य का तृतीय तथा निकृष्टतम भेद बताया है, किंतु विश्वनाथ ने चित्र को काव्य मानने से ही इन्कार किया है।

दोषारोपण के प्रति यह मत सर्वत्र सतर्क प्रतीत होता है। यही कारण है कि इस मत के आचार्यों ने अपने सिद्धांत को व्यापक रूप दिया, ताकि उसमें सभी परंपरागत विचारों को यथोचित स्थान मिल सके। यहाँ ध्वनि-सिद्धांत का सूक्ष्म स्वरूप-निरूपण अनपेक्ष्य है। ध्वन्यात्मक काव्य के पाँच हजार तीन सौ पचपन उपभेदों[1] का विवरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं। इस विस्तृत उपभेद-विवेचन का संभव उद्देश्य पृथक्-पृथक् जातिभेद-निरूपण नहीं है, अपितु विभिन्न गुण-धर्म अथवा स्थानाश्रित रूप-विवेचन ही है। ध्वनि-मत में काव्य विद्या के पूर्वसंचित सिद्धांतों, यथा रस, रीति, गुण, दोष तथा अलंकार की, ध्वनि के दृष्टिकोण से वर्गभेद अथवा जातिभेद के आधार पर किस प्रकार व्याख्या की गई है और किस प्रकार उन्हें ध्वनि के व्याप्त सिद्धांत में समाहित कर लिया गया है, इस पर विचार किया जाएगा।

सत्काव्य, अर्थात् ध्वनि काव्य के दो बृहद् वर्ग बताए गए हैं, 'अविवक्षित वाच्य' तथा 'विवक्षितान्यपरवाच्य'। ये दोनों नाम भोंड़े[2] होते हुए भी दोनों वर्गों के लक्षणों के सूचक हैं। 'अविवक्षित-वाच्य' में वाच्यार्थ अभिप्रेत नहीं होता; 'विवक्षितान्यपरवाच्य' में वाच्यार्थ, अभिप्रेतार्थ तो निश्चित रूप में होता है, किंतु वास्तव में वह वाच्य से भिन्न, अथवा अवाच्यार्थ होता है। अविवक्षित वाच्य, लक्षणामूलक होता है, जिसे कवि, अवाच्य का बोध करवाने के प्रयोजन से ही प्रयुक्त करता है। इस प्रकार के प्रयोग में शब्द तथा वाक्य अभिधार्थ के स्थान पर आरोपित अर्थ का बोध करवाते हैं। इस प्रकार का काव्यात्मक अर्थारोहण ही, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सामान्य आलंकारिक अभिव्यक्ति का आधार है। अलंकार तथा रीति-मत में इसे बहुत महत्व दिया गया है और इसका सूक्ष्म विवेचन किया गया है। दंडी ने 'समाधि-गुण' में तथा वामन ने

1. यह संख्या विश्वनाथ ने दी है। विद्यानाथ ने अपने 'प्रतापरुद्रीय' नामक ग्रंथ में ध्वनि के शुद्ध उपभेदों की संख्या 1326 बताई है, मिश्र उपभेदों के साथ कुल मिलाकर उन्होंने 5340 की संख्या का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने ध्वनि के संभव उपभेदों की संख्या 7420 आंकी है। उनका कहना है कि यदि अलंकारों के असंख्य भेदों को स्वीकार कर लिया जाए तो ध्वनि के असंख्य उपभेद हो सकते हैं।

2. महिमभट्ट ने इन दोनों शब्दों की आलोचना की है। उनका कथन है कि पहला शब्द 'भक्ति' अथवा 'लक्षणा' का ही सूचक है और दूसरा शब्द विरोधार्थक है (अर्थात यदि वस्तु 'विवक्षित' अथवा 'प्रधान' है तो वह 'अन्यपर' नहीं हो सकता)।

'वक्रोक्ति' नामक विशिष्ट अलंकार के अंतर्गत मानते हुए इसका निरूपण किया है। अतएव, अर्थारोपण की अवहेलना नहीं की जा सकती थी। ध्वनि के आचार्यों ने सत्काव्य के एक मुख्य भेद में इसे मान्यता प्रदान की और अपने नवीन सिद्धांत में इसे यथोचित तथा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

ध्वनिकाव्य का दूसरा भेद, अर्थात् 'विवक्षितान्यपरवाच्य', जिसमें वाच्य अभिप्रेत तो होता है, किंतु वह अवाच्य में परिवर्तित हो जाता है, अभिधा-मूलक होता है। इसमें काव्य का अधिक महत्त्वपूर्ण अंग, रस भी समाहित होता है। रस-मत में नाट्याश्रित रस की मीमांसा पहले ही हो चुकी थी। काव्य के इस भेद के दो संभव उपभेदों का उल्लेख किया गया है—(1) 'असंलक्ष्यक्रम', अर्थात् जिसमें व्यंग्यार्थ-क्रम असंलक्ष्य होता है, अथवा जहाँ वाच्य अभिधार्थ से व्यंग्यार्थ का असंलक्ष्य रूप में बोध होता है, और (2) 'संलक्ष्य क्रम', जहाँ व्यंग्यार्थ बोध का क्रम संलक्ष्य होता है। रसात्मक तथा भावात्मक ध्वनि 'असंलक्ष्यक्रम' वर्ग के अंतर्गत आती है, क्योंकि यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ये भावात्मक अवस्थाएँ केवल इसी प्रकार व्यक्त की जा सकती हैं। 'संलक्ष्यक्रम' वर्ग के अंतर्गत वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि है, जो क्रमशः शब्द अथवा अर्थ अथवा दोनों के आश्रित होती है। इस प्रकार, शब्द अथवा उसके अर्थ अथवा शब्द तथा अर्थ दोनों की ध्वनि शक्ति के द्वारा अवाच्य का बोध होता है। अवाच्य, कोई वस्तु अथवा पदार्थ अथवा एक कल्पनामूलक भाव हो सकता है, जिसे एक काव्यात्मक अलंकार का रूप दिया जा सकता है, किंतु अधिकांश स्थलों पर—काव्य में इनका प्रधान महत्त्व है। प्रत्यक्ष रूप में अवाच्य रस अथवा भाव ऐसा होता है, जिसे एक सुंदर शब्द अथवा उसके अथ से ध्वनित ही किया जा सकता है। हम यह पहले ही बता चुके हैं[1] कि कवि, रस के निष्पादक तीन कारकों अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव का अधिकाधिक प्रत्यक्ष रूप में बोध करवा सकता है अथवा उनकी अभिव्यक्ति कर सकता है; वह रस की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, क्योंकि रस तो अवाच्य होता है। अधिक-से-अधिक, हम रस को नाम दे सकते हैं, उसे रति, शोक अथवा क्रोध नाम से लक्षित कर सकते हैं, किंतु काव्य में रस के अभियान मात्र से पाठक द्वारा रस की अनुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि रस की निष्पत्ति तो एक स्वगत मानसिक अवस्था होती है। अतएव, रस के इन कारकों के अभिधान अथवा वर्णन से कवि रस को ध्वनित ही करता है। दूसरे शब्दों में वह रस के प्रतिबिंब का विकास करता है, जिसे

1. ऊपर देखिए, अध्याय 4, पृ० 119.

पाठक अपने ही मानस की एक विशिष्ट अवस्था के रूप में अनुभव करता है।[1] अतएव, विभाव इत्यादि वाच्य कारक, रस के व्यंजक ही होते हैं और रस व्यंग्य होता है। इसमें संदेह नहीं कि व्यंग्य का निष्पादन 'वाच्यार्थपेक्ष' होता है तथा वाच्यार्थ, व्यंजित करनेवाले कारकों का अभिधार्थ होता है, किंतु वाच्यार्थ के कार्य के रूप में व्यंग्यार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। वह तो वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न होता है। अभिधा को 'असंलक्ष्यप्रक्रम' कहा गया है, क्योंकि विभिन्न कारकों द्वारा व्यंजित रस के बोध में एक प्रक्रम होता है, किंतु रसानुभूति की शीघ्रता के कारण इस प्रक्रम का बोध नहीं हो पाता। यह प्रक्रम, जैसा कि एक लेखक ने सुंदर शब्दों में व्यक्त किया है, एक दूसरे के ऊपर रखे गए सौ कमल-पत्रों के युगपद् वेधन के समान होता है। काव्यात्मक रस अथवा भाव का आस्वादन करते समय हम उसमें इतने तल्लीन होते हैं कि हमें उसके व्यंजक प्रक्रम का बोध नहीं हो पाता। यह सूक्ष्म ध्वनि 'असंलक्ष्यप्रक्रम' ही है।

सत्काव्य अर्थात् ध्वनिकाव्य, जिसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, के अतिरिक्त एक द्वितीय श्रेणी का भी काव्य है, जिसे 'गुणीभूतव्यंग्य काव्य' कहा गया है। इसमें वाच्यार्थ को पुष्ट अथवा अलंकृत करने के हेतु अवाच्यार्थ गौण रहता है। इसमें अलंकार तथा रीति-मत के पूर्ववर्ती सिद्धांतों का समावेश किया जा सकता था। इन मतों में व्यंग्यार्थ को अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता दी गई थी, किंतु व्यंग्यार्थ का बोध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में कुछ वाच्य काव्यात्मक अलंकारों के आश्रित ही स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिए 'समासोक्ति' के अंतर्गत व्यंजित वस्तु के बोध को स्वीकार किया गया है, 'दीपक' के एक अन्य व्यंजित अलंकार तथा 'रसवत्' में व्यंजित रस को मान्यता दी गई है। किंतु इन सब स्थलों पर वाच्यार्थ का ही प्राधान्य अभिप्रेत है। विशिष्ट अलंकार की शोभावृद्धि उसी से होती है। व्यंग्यार्थ उसकी पुष्टि अथवा शोभावृद्धि के लिए ही होता है। उदाहरण के लिए, बहुविवेचित 'रसवत्' अलंकार में, जिसे प्राचीन काव्यविद्या में मान्यता दी गई थी और जिसके द्वारा प्राचीन सिद्धांतों में रस

1. अभिनव की व्याख्या के अनुसार (ऊपर देखिए, अध्याय 4, पृ० 121 इत्यादि) कलापूर्ण निबंधों के सामाजिक अथवा साधारणीकृत होने के कारण, पाठक अभिनीत अथवा वर्णित भावों की अनुभूति कर पाता है; मानवीय भावों के सामान्य होने के कारण पाठक इन सामाजिक भावों का स्वगत भावों के रूप में ही अनुभव करता है, क्योंकि वासनाओं अथवा संस्कारों के रूप में ये भाव उसके मानस में पहले से ही विद्यमान रहते हैं।

का समावेश हो सका था, रसों तथा भावों का उद्दीपन रस तथा भाव की निष्पत्ति के निमित्त नहीं होता, अपितु वाच्य की शोभावृद्धि के लिए ही माना गया है। किंतु इससे रस के मूलभूत महत्त्व को उचित स्थान प्राप्त न हो सका। इस विषय का पुर्निरीक्षण अवश्यंभावी था। ध्वनि के आचार्यों ने ऐसे काव्य को, जिसमें रस प्रत्यक्ष रूप में व्यंजित न होकर गौण रूप में ही रहता है, अस्वीकार नहीं किया, अपितु उसे समीचीन ही बताया और अपने काव्यविषयक वर्गीकरण में उसे दूसरा स्थान दिया। इस प्रकार का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थल, जिसका पूर्ववर्ती आचार्यों ने विवेचन किया है, वह है, जहाँ किसी वस्तु के अवाच्य होने पर भी उसका बोध होता है। अनेक ऐसे काव्यात्मक अलंकारों में ऐसा होता है, जो अपनी चारुता के लिए अपने ही सदृश किसी अन्य अलंकार पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए, वामन के मतानुसार, उपमा अलंकार सभी अलंकारों में समाहित होता है। भामह का कथन है (यहाँ आचार्य दंडी भी अधिकांश रूप में उनसे सहमत हैं), चारुता के लिए सभी अलंकारों में 'अतिशयोक्ति' का भाव आवश्यक है। उनके कथनानुसार, वक्रोक्ति में (अलंकार के अर्थ में) अतिशयोक्ति का भाव होना आवश्यक है। उद्भट ने प्रत्यक्ष रूप में कुछ अलंकारों में विद्यमान श्लेष का ऐसा ही लक्षण बताया है। क्योंकि उपमा, अतिशयोक्ति तथा श्लेष[1] भिन्न-भिन्न अलंकार हैं, अतएव अवाच्य अथवा व्यंग्य के रूप में अन्य अलंकारों में भी उनका भाव हो सकता है। क्योकि यहाँ वाच्य अलंकार की ही प्रधानता होती है और अवाच्य केवल उसकी शोभावृद्धि के लिए होता है, इसलिए ध्वनि के आचार्यों के मतानुसार, ध्वनि के इन रूपों को काव्य के द्वितीय वर्ग में रखना समीचीन है। तृतीय वर्ग में ध्वनि-काव्य के ऐसे रूप हैं, जहाँ व्यंग्यार्थ का सर्वथा अभाव रहता है तथा चारुता केवल प्रत्यक्ष अभिधार्थ के किसी विशिष्ट रूप पर ही आश्रित होती है। उदाहरण के लिए, ऐसे काव्यालकार, जिनमें अभिव्यक्ति-वैचित्र्य ही एकमात्र वैशिष्ट्य होता है।

इस प्रकार ध्वनि अथवा अवाच्य के तीन विभिन्न रूप हैं—(1) वस्तु-ध्वनि, (2) अलंकार-ध्वनि, तथा (3) रस ध्वनि। जहाँ विशिष्ट वस्तु अथवा अर्थ (वस्तु-आश्रित) व्यंजित होता है, वहाँ वस्तु-ध्वनि होती है। जहाँ कल्पना-मूलक (वस्तु-भिन्न) व्यंजित अर्थ, शब्दों से व्यक्त किए जाने पर काव्यात्मक

1. तथापि ऐसा कहा गया है कि उद्भट के मतानुसार अन्य अलंकारों में श्लेष का भाव, अपने प्राधान्य के कारण स्वयं उस अलंकार की प्रतिपत्ति को नष्ट कर देता है।

अलंकार का रूप ले ले, वहाँ अलंकार-ध्वनि होती है। तथा जहाँ कोई रस अथवा भाव प्रधान होता है तथा प्रत्यक्ष रूप में अवाच्य होने के कारण उसे व्यंजित ही किया जा सकता है, वहाँ रस-ध्वनि होती है। अतएव, ध्वनि-सिद्धांत के अनुसार काव्य के तीन प्रकार हैं, वस्तु (अथवा अर्थ) प्रतिपादक, कल्पना-अथवा अलंकार-प्रतिपादक तथा रस-प्रतिपादक। अभिनवगुप्त का कथन है [1] कि कारिकाओं में प्रत्यक्ष रूप में इस सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया गया है, किंतु जैसा कि आनंदवर्धन ने अपनी वृत्ति में इसका विवेचन किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है।[2]

यह स्पष्ट है कि ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन दोनों ने रस-ध्वनि को विशेष महत्व दिया है। यद्यपि चित्रकाव्य, अथवा निम्नतम कोटि का काव्य रस-ध्वनि से सर्वथा विहीन है, तथापि काव्य के मूल्यांकन में रस-ध्वनि को सबसे महत्त्वपूर्ण निकष माना गया। निस्संदेह, संपूर्ण सिद्धांत के अंतर्गत अलंकार-ध्वनि तथा वस्तु-ध्वनि को भी, जिसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता दी और कवियों ने जिसका प्रयोग किया है, स्थान मिलना उचित ही है; किंतु मुख्य समस्या (जिसका सूक्ष्म विवेचन किया गया है) यह है कि निबंध रस की अभिव्यक्ति में किस प्रकार सहायक हो सकता है, क्योंकि (जैसा कि बारंबार कहा गया है), शब्द तथा अर्थाश्रित निबंध की रचना में रस-ध्वनि ही कवि का पथ-प्रदर्शक सिद्धांत होना चाहिए, अलंकार अथवा वर्णन मात्र नहीं। पृ० 148 [3]। दूसरे शब्दों में रस एक ऐसा आकर्षक केंद्र है, जिसकी ओर काव्य के प्रत्येक अंग—रीति, गुण, दोष तथा अलंकार—का घूमना आवश्यक है। काव्य में भाव को अधिक महत्त्व दिए जाने के कारण रस-ध्वनि को अन्य प्रकार की सभी ध्वनियों से श्रेष्ठ माना गया। इसमें संदेह नहीं कि दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में ऐसा कहा गया है कि अवाच्य, प्रत्यक्ष रूप में अपने तीनों ही रूपों में, अंगी होता है और उसी के आश्रित होने पर गुणों तथा

1. "यस्तु व्याचष्टे—'व्यंग्यानां वस्त्वलंकाररसाणां मुखेन' इति, स एवं प्रष्टव्यः—'एतत्तावत् त्रिभेदत्वं न कारिकाकारेण कृतं, वृत्तिकारेण तु दर्शितम्'" लोचन पृ० 123.

2. यथा—"स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकारा-रसादयश्चेति अनेकप्रकारप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते," पृ० 15.

3. अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबंधनम्, पृ० 181, परिपाकवतां कवीनां रसादि-तात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते, पृ० 221.

अलंकारों का महत्त्व सापेक्ष होता है। किंतु आनंदवर्धन ने इन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंगों की व्याख्या रसादि के विशेष संदर्भ में ही की है (रसादिलक्षणं)[1] और ध्वनिकार ने स्वयं एक अन्य स्थान पर शब्द, वर्ण, वाक्य-संघटना तथा रीति के गुण-दोष का विवेचन किया है। इसी विषय को लेकर 'औचित्य' सिद्धांत का विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त, ध्वनिकार ने यह भी कहा है कि 'गुणीभूत-व्यंग्य' प्रकार के काव्य में यदि रस-विकास की प्रवृत्ति हो तो यह भी ध्वनि-काव्य हो सकता है (iii. 41)। अपने रस-विषयक उत्साह के कारण आनंदवर्धन ने अनेक स्थलों पर यहाँ तक कह दिया है कि वास्तव में नाट्य के अतिरिक्त काव्य की आत्मा भी रस ही है।[2]

रस-सिद्धांत में से इस प्रकार के उद्धरण से—स्वयं आनंदवर्धन के कथनानुसार, भरत इत्यादि द्वारा नाट्य में रस का पहले से ही प्रतिष्ठापन किया जा चुका था—ध्वनि-सिद्धांत को मूल रूप में महत्त्वपूर्ण सौंदर्यात्मक वस्तु की प्राप्ति हुई। नाट्य-कला में तो इसे पहले से ही मान्यता प्राप्त हो चुकी थी, किंतु काव्य-कला में अभी पूर्ण रूप में इसका प्रतिष्ठापन नहीं हुआ था। इस अर्थ में ध्वनि-सिद्धांत को रस-सिद्धांत का विस्तारित रूप कहा गया है। किंतु वास्तव में यह एक विस्तारित रूप न होकर एक पुनर्व्यवस्थापन ही था। ध्वनि के आचार्यों ने यद्यपि रस को बहुत महत्त्व दिया है, तथापि उन्होंने इसे काव्य में अवाच्य का केवल 'एक' अंग माना है। कम-से-कम सैद्धांतिक एकरूपता के दृष्टिकोण से न तो ध्वनिकार और न ही आनंदवर्धन स्पष्ट रूप में ऐसा कह सके कि रस ही काव्य का एकमात्र प्रयोजन है, क्योंकि कहीं-कहीं अवाच्यार्थ, वस्तु अथवा अलंकार भी हो सकता है, यद्यपि यह सिद्ध किया जा सकता है कि उनकी विचारधारा की प्रवृत्ति इसी दिशा को लक्षित करती है और संभवतः परवर्ती आचार्यों ने उसी से प्रभावित होकर यह निर्धारित किया कि रस ही काव्य की एकमात्र आत्मा अथवा तत्व है। ध्वनि-सिद्धांत के

---

1. 'रसादि' शब्द का अर्थ, अंगी के रूप में रस, भाव इत्यादि होना चाहिए, किंतु प्रत्येक स्थान पर 'आदि' शब्द 'व्यंग्यार्थ' के अन्य दो रूपों, अर्थात् 'वस्तु' तथा 'अलंकार' का ही वाचक माना जाना चाहिए। वस्तु तथा अलंकार भी रस के समान अंगी हैं, संदर्भ में इस प्रकार की व्याख्या अभिप्रेत है, यह संदेहास्पद है।
2. रसादयो हि द्वयोरपि तयोः (काव्यनाट्ययोः) जीवभूतः, पृ० 182; ऊपर पृ० 149 की पादटिप्पणी 3 के उद्धरणों का भी अवलोकन कीजिए।

प्रवर्तकों ने, प्रत्यक्ष रूप में नहीं तो परोक्ष रूप में, रस को जो महत्त्व दिया, उसे अभिनवगुप्त ने अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है। उन्होंने सैद्धांतिक मीमांसा को अधिक महत्त्व नहीं दिया। इस विषय पर आगे चर्चा की जाएगी। यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि स्वयं अभिनवगुप्त ने अनेक स्थलों पर स्पष्टतया रस को वास्तव में काव्य की आत्मा कहा है और, यह मानते हुए कि अवाच्य, वस्तु अथवा अलंकार के रूप में भी हो सकता है, उन्होंने यह कहा है कि ध्वनि के इन दो रूपों का पर्यवसान रस-ध्वनि में ही होता है।[1] यह आगे बताया जाएगा कि संभवतः इसी मत से प्रभावित होकर विश्वनाथ ने अपने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि केवल रस ही काव्य की एकमात्र आत्मा है, किंतु जिन कारणों से ध्वन्यालोक के रचयिताओं ने स्पष्ट रूप में ऐसा कहना उचित नहीं समझा, उनका, जैसा कि जगन्नाथ द्वारा विश्वनाथ के मत की आलोचना से प्रतीत होता है, सरलता से निराकरण नहीं किया जा सकता। इस सिद्धांत के विकास को और अधिक मान्यता नहीं दी गई।

संभवतः ध्वनिकार का विचार यह था कि काव्य की कल्पना इतनी व्यापक होनी चाहिए कि उसमें काव्य के उन रूपों को भी स्थान मिले, जिनमें रस का विकास नहीं होता अथवा आंशिक रूप में ही विकास होता है, यद्यपि वास्तव में रस का पक्षपाती होने के कारण उनके विचार इससे कुछ भिन्न मत को भी लक्षित करते हैं। विश्वनाथ-जैसे आचार्यों ने उसी के आधार पर आवश्यक तर्कसंगत निष्कर्ष निकाला है। फिर भी, यह मानना पड़ेगा कि तथ्यों के साथ न्याय करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है। इन आचार्यों ने अपनी धारणा के अनुसार काव्य के आदर्शों तथा काव्य के वास्तविक तथ्यों का प्रतिष्ठापन किया है। काव्य के कुछ रूपों में 'वस्तु' अथवा 'अलंकार' का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वे इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सकते थे, यद्यपि वे इस बात को समझते थे कि अधिकांशतः रस ही एक महत्त्वपूर्ण मापदंड है। उनके अनुभवाश्रित विश्लेषण का एक उदाहरण यह है कि उन्होंने काव्यात्मक भाषा के सूक्ष्म विश्लेषण के फलस्वरूप सभी संभव रूपों तथा स्थलों को ध्यान में रखते हुए अवाच्य के पाँच सहस्र से

1. "रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्यते," पृ० 27. काव्य की आत्मा के विषय में ध्वनिकार के कथन की व्याख्या में आनंदवर्धन के 'उचित' शब्द पर टिप्पणी में उन्होंने लगभग ऐसा ही विचार व्यक्त किया है—"उचित-शब्देन रसविषयमेव औचित्यं भवतीति दर्शयन्रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति," पृ० 13.

अधिक विभिन्न रूपों का विवेचन किया है। तथ्यों के प्रति इस प्रकार की निष्ठा के कारण ही उन्होंने पूर्ववर्ती चिंतन के सौंदर्यात्मक विचारों की अवहेलना की। यद्यपि इन विचारों से संपूर्ण समस्या का समाधान नहीं हो सकता था, तथापि रस, रीति, गुण, दोष तथा अलंकार विषयक विषयों का परीक्षण आवश्यक था। नवीन सिद्धांत को व्यापक रूप में प्रतिष्ठित करने से पहले उसमें उनका स्थान निर्धारित करना अपेक्षित था। इसमें संदेह नहीं कि सजातीय नाट्यकला के समान काव्य-कला में भी रस के प्राचीन तत्त्व को पूर्णतया महत्त्वपूर्ण स्थान दिए जाने से इस मत को यशःप्राप्ति हुई, किंतु साथ-ही-साथ अपने व्यापक सिद्धांत में इस मत के काव्य के अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों को भी एकरूपता देने का प्रयत्न किया गया।

रीति की आवश्यकता रस-ध्वनि सापेक्ष है। इसी प्रयोजन के हेतु इसे सापेक्ष मान्यता दी गई है। तो भी, ध्वनि के आचार्यों ने रीति के अनुपयोगी भेद-निरूपण को अनावश्यक कहा है (iii. 52, वृत्ति),[1] आनंदवर्धन ने रीति का स्वरूप-निरूपण नहीं किया है, किंतु अभिनव के कथनानुसार, रीति, गुणों के अंतर्गत ही पर्यवसायित है (रीतेर्हि गुणेष्वेव पर्यवसायिता)।[2] निबंध के रस

---

1. प्रकाशित पाठ में इस श्लोक की संख्या अशुद्ध है। यह संख्या (iii. 4) होनी चाहिए। चौथे सं० (1935) में संख्या ठीक दी गई है।

2. अभिनव का कथन है (पृ० 231)—यदाह—'विशेषोगुणात्मा' (वामन i. 2-3) गुणाश्च रस-पर्यवसायिन एवेति ह्युक्तं प्राग् गुणनिरूपणे 'शृंगार एव मधुरः' (ध्वन्या, ii. 8, पृ० 79) इत्यत्रेति। वामन ने कहा है कि रीति केवल 'विशिष्ट-पद-रचना' है और गुणों के कारण ही पद-रचना की विशिष्टता होती है। गुणों के स्वरूप के अनुरूप रीति का स्वरूप होता है। ध्वनिकार ने ii. 8 इत्यादि में तीन गुणों, अर्थात्, माधुर्य (शृंगार में), ओज (रौद्र में) तथा प्रसाद (सभी रसों में) से रस की निष्पत्ति का विवेचन किया है। गुण विषयक उनका कथन रीति पर भी लागू होता है। उसे पृथक् नहीं लेना चाहिए। मोटे तौर से, उनके तीन गुण, वामन की तीन रीतियों के अनुरूप हैं। आनंदवर्धन ने गुणों को 'संघटना-धर्मत्व' कहा है (पृ० 5), किंतु संभवतः इससे तो उद्भट का मत ही व्यक्त होता है। अभिनवगुप्त के कथनानुसार (पृ० 134) उन्होंने गुणों को 'संघटनाधर्माः' कहा है। मम्मट के समान संभवतः उनका भी यही मत है कि विशिष्ट वर्णविन्यास अथवा शब्दविन्यास से विशिष्ट रस का विकास होता है (देखिए ii. ४) इत्यादि)। निस्संदेह iii. 5 इत्यादि में ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन दोनों ने गुणों के संदर्भ में 'संघटना' का उल्लेख किया है, किंतु उन्होंने संघटना को समास की दीर्घता अथवा लघुता के आश्रित कहा है (जो रुद्रट द्वारा बताए गए रीति के लक्षण के अनुरूप है)। संघटना की उपयुक्तता अंततो-

विकास में सहायक होना ही गुणों का एकमात्र कार्य है, और इस दृष्टिकोण से, जैसा कि संप्रति बताया जाएगा, गुणों का सूक्ष्म भेद-विवेचन अत्यावश्यक है। आनंदवर्धन ने केवल तीन गुणों को स्वीकार किया था, जो मोटे तौर से वामन की तीन रीतियों के अनुरूप हैं।[1] गुणों तथा अलंकारों (क्योंकि अलंकार भी काव्य के शोभाकारक होते हैं) के परस्पर भेद को अधिक स्पष्ट कर देने से गुणों का रस से परस्पर संबंध और भी स्पष्ट कर दिया गया है। अध्याय 2 के श्लोक 7 पर अपनी वृत्ति में आनंदवर्धन की उक्ति की व्याख्या करते हुए परवर्ती आचार्यों ने कहा है कि गुण, रस के अविभाज्य (अभिन्न) लक्षण हैं।[2] रस के बिना गुणों का अस्तित्व नहीं हो सकता। गुणों के 'रसधर्मत्व', 'रसाव्यभिचारिस्थितित्व' तथा 'रसोपकारकत्व' लक्षण कहे गए हैं। यदि कहीं गुणों को शब्द तथा अर्थाश्रित कहा गया है तो यह 'उपचार' मात्र ही है, और 'शब्द-गुण' तथा 'अर्थ-गुण' का प्राचीन भेद-निरूपण इसी अर्थ में स्वीकार करना चाहिए। इसके विपरीत, अलंकार निश्चित रूप में शब्द तथा अर्थाश्रित ही होते हैं और उनके माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में रस की श्रीवृद्धि करते हैं। मम्मट ने उनका स्वरूप-निरूपण इस प्रकार किया है—अनुप्रास, उपमा इत्यादि वे अलंकार हैं, जो अंगों (अर्थात् शब्द तथा अर्थ) के माध्यम से कभी-कभी इस प्रकार उपकार करते हैं, जिस प्रकार हार इत्यादि (मनुष्य की आत्मा

गत्वा रस की निष्पत्ति, वक्ता तथा विषय पर आश्रित है। यह समस्या, रस-नियम तथा वाच्य अथवा विषय-नियम तथा वक्ता-नियम से विशेष रूप में संबद्ध होने के कारण तथा जहाँ तक शब्द-वर्ण तथा वाक्य-विन्यास का संबंध है, औचित्य सिद्धांत के रूप में परिणत हो जाती है। आनंदवर्धन ने स्पष्ट रूप में कहा है (पृ० 135) कि गुण संघटना-स्वरूप नहीं हैं (न गुणाः संघटना स्वरूपाः) और न ही वे संघटनाश्रित हैं (न च संघटनाश्रया गुणाः), इसके विपरीत संघटना गुणाश्रित होती है। देखिए, सुशील कुमार डे का 'सम प्राब्लम्ज़', पृ० 91-94।

1. उद्भट ने अपनी 'वृत्तियों' के भी इसी प्रकार के कार्य निर्धारित किए हैं। देखिए, पृ० 142 तथा पृ० 5-6 पर अभिनव की टिप्पणी।

2. आनंदवर्धन का कथन है (ii. 7 वृत्ति)—'गुण', रसादि के रूप में 'अंगी' के अर्थ के आश्रित होते हैं। ये भी वाच्य शब्द तथा अर्थ के रूप में 'अंग' पर आश्रित होने से अलंकार माने गए हैं। गुण, वीरता इत्यादि गुणों के समान हैं तथा अलंकार वलय-जैसे आभूषणों के समान है। गुण का रस से संबंध सूचित करने के लिए मम्मट ने 'अचल-स्थिति' (गोविंद ने इसको 'अपृथक्स्थिति' व्याख्या की है) शब्द का प्रयोग किया है।

का उपकार करते हैं)।[1] वृत्ति में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है[2]— 'अलंकार वे हैं, जो अंगों, अर्थात् वाचक तथा वाच्य के अतिशय के माध्यम से मुख्य रस की इस प्रकार सहायता करते हैं, जैसे हार इत्यादि शरीर के कंठ इत्यादि अंगों को अलंकृत करके आत्मा को सुशोभित करते हैं। जहाँ रस का अभाव होता है, वहाँ इनसे केवल उक्ति-वैचित्र्य का निष्पादन होता है। कहीं-कहीं रस के विद्यमान होने पर भी वे उसका उपकार (विकास) नहीं करते।' अतएव, वाच्य शब्द तथा अर्थ के शोभाकारक होने के कारण तथा केवल गौण रूप में रस की श्रीवृद्धि करने के कारण अलंकारों का रस से अप्रत्यक्ष संबंध है। केवल उक्तिवैचित्र्य के रूप में रस के बिना भी उनका अस्तित्व हो सकता है, और रस का भाव होने पर भी अलंकारों का होना नितांत आवश्यक नहीं है।[3]

अलंकार किन-किन अवस्थाओं में रस का सहायक हो सकता है, इस प्रश्न पर ध्वनिकार ने ii. 19-20 में चर्चा की है और इस प्रकार की चार संभव अवस्थाओं का उल्लेख किया है, (i) जहाँ कवि का प्रयोजन, इसे अंगी न मानकर रस का गौण अंग मानना होता है (तत्परत्वेन, नांगित्वेन), (2) जहाँ काल के अनुसार कवि इसका ग्रहण अथवा त्याग करता है (काले ग्रह-त्यागयोः) (3) जब कवि इसका अंत तक निर्वाह नहीं करना चाहता, (नाति निर्वाहे) तथा (4) निर्वाह होने पर भी यह गौण ही रह जाता है (निर्वाहेऽप्यंगत्वे)।[4]

---

1. उपकुर्वंति तं संतं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।

2. ये वाच्यवाचकलक्षणांगातिशयमुखेन मुख्यं रसं संभविनमुपकुर्वंति ते कंठाद्यांगानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालंकाराः। यत्र नास्ति रसो तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः, क्वचित्तु संतमपि नोपकुर्वंति।

3. इसकी व्याख्या इस टीका से की गई है—'गुणा रसं विना नावतिष्ठंते, गुणा रसमवश्यमुपकुर्वंति अलंकारास्त्ववश्यं नोपकुर्वंति, गुणा रसधर्मा अतः साक्षाद् रसे तिष्ठंति, अलंकारास्तु न रसे साक्षाद् तिष्ठंति किंत्वंगद्वारेण।

4. अतएव, मम्मट के बहु-आलोचित काव्य-लक्षण-निरूपण में अलंकार को आनुषंगिक कहा गया है, अंगी नहीं। 'यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से 'अनलंकृती पुनः क्वापि' पर विश्वनाथ तथा जगन्नाथ द्वारा की गई आपत्ति समीचीन है, फिर भी चर्चाधीन विषय पर जगन्नाथ के विचार मम्मट से अधिक भिन्न नहीं हैं। मम्मट के लक्षण-निरूपण में 'वाक्यार्थीभूत रस' अथवा रस-

इस प्रकार अलंकार को अपेक्षाकृत गौण स्थान दिया जाना इसके महत्व की ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति का सूचक नहीं है, क्योंकि आनंदवर्धन ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि काव्यवृत्ति तो इसी के आश्रित है (काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्)। किंतु काव्य में केवल अंगी, जो अधिकांशतः रस का रूप होता है, के संदर्भ में ही अलंकार को मान्यता दी गई है। अन्य प्रकार के अलंकार, जिनसे रस की ध्वनि नहीं होती और इसीलिए काव्योचित नहीं हैं, आनंदवर्धन के मतानुसार, 'वाग्विकल्प' मात्र हैं, उन्हें चित्रकाव्य के अंतर्गत ही मानना चाहिए, और चित्रकाव्य काव्य नहीं है, अपितु काव्य की अनुकृति है, नकल है। 'ध्वन्यालोक' के रचयिताओं ने चित्रकाव्यों की उपेक्षा की है, क्योंकि उनके सिद्धांत में इसके लिए कोई स्थान नहीं था। किंतु कभी-कभी रस अथवा अवाच्य का विकास अथवा निष्पादन करने की अपेक्षा, अलंकार के रूप में केवल उक्तिवैचित्र्य को जन्म देना ही कवि का प्रयोजन होता है। आचार्य रुय्यक के समान ध्वनि के मतानुयायियों ने ध्वनिकार के अलंकार-विषयक विवेचन में इस कमी का अनुभव किया और काव्य के लिए इस प्रकार के अलंकारों के महत्व को स्वीकार करते हुए कुंतक के अनुसार उनका विश्लेषण किया तथा इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया। इस विषय पर आगे चर्चा की जायगी।

गुण-लक्षण-निरूपण के संबंध में उपर्युक्त कथन के कारण गुणों का यावदनंत रूप-भेद-निरूपण अनावश्यक हो गया। इस विषय में मम्मट तथा उनके मतानुयायियों ने 'ध्वन्यालोक' को प्रमाण मानते हुए, भरत के समय से मान्यताप्राप्त दस गुणों में से केवल तीन गुणों अर्थात् माधुर्य, ओज तथा प्रसाद को स्वीकार किया है। उन्होंने सूक्ष्म रूप में सिद्ध किया है कि ये दस गुण उपर्युक्त तीन गुणों में ही समाहित हैं अथवा दोषों के अभाव-मात्र को ही लक्षित करते हैं। उनमें से कुछ गुण तो निश्चित रूप में दोष ही हैं। वास्तव में इन तीनों गुणों के लक्षण इतने व्याप्त बताए गए हैं कि उनके अंतर्गत भरत, दंडी तथा वामन के दस में से अधिकांश गुण आ जाते हैं। उदाहरण के लिए मुख्यतः शृंगार, करुण तथा शांत के अंतर्गत माधुर्य गुण को सामान्यतः आह्लाद तथा द्रुति-कारण कहा गया है। वीर, रौद्र तथा बीभत्स में ओज गुण

भिन्न 'व्यंग्यार्थ' (अप्रत्यक्ष रूप में उसमें विद्यमान हैं) का कहीं उल्लेख नहीं है, किंतु गुणों तथा दोषों का स्पष्ट उल्लेख है। लक्षण-निरूपण की ये विभिन्नताएँ पूर्ववर्ती मतों के ऐतिहासिक विकास के कारण हैं, इनसे मौलिक लक्षण-निरूपण के प्रति कोई प्रयत्न सूचित नहीं होता। आगे देखिए, अध्याय 7।

को विस्तार-कारण कहा गया है। सभी रसों में विद्यमान प्रसाद गुण को काठ में अग्नि के समान, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान व्याप्ति-कारण कहा गया है। क्योंकि ये गुण निबंध के प्रधान रस से संबंधित हैं और विशिष्ट रस के ही उपयुक्त होते हैं, इसलिए गुणों का उपर्युक्त भेद-निरूपण, (विशिष्ट रस के विकास के हेतु) पाठक के मानस को प्रभावित करने की क्षमता के कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही किया गया है। यहाँ शब्द तथा अर्थ की संघटना पर आश्रित प्राचीन भेद-निरूपण अनपेक्ष्य है। इन तीन गुणों के व्याप्त लक्षण-निरूपण से यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों के श्लेष, समाधि तथा औदार्य को ओज में तथा अर्थ-व्यक्ति को समाधि में समाहित किया जा सकता है। 'सौकुमार्य' तथा 'कांति' निश्चित रूप में क्रमशः 'पारुष्य' तथा 'ग्राम्यत्व' दोषों के विपर्यय हैं तथा शैली की 'समता' कहीं-कहीं निश्चित रूप में दोष हो सकती है।

गुणों के विषय में उक्त मत के अनुरूप ही काव्य-दोषों को रस तथा वाच्यार्थ के उपकर्षक ही माना गया है। अतएव, रस के संदर्भ में दोषों का गुणों के समान एक निश्चित महत्व है, यद्यपि यह स्वीकार किया गया है कि कुछ दोष 'गुणाभाव' तथा कुछ गुण 'दोषाभाव' की अवस्था को पहुँच जाते हैं। उदाहरणार्थ, 'पुनरुक्त' सामान्यतः एक दोष है, किंतु यदि इससे ध्वनित रस की चारुता का बोध हो तो यह गुण भी हो सकता है। नित्य तथा अनित्य दोष का भेद-निरूपण इसलिए किया गया है, क्योंकि इससे हम निबंध के लिए प्रत्येक अवस्था में अपकर्षक होनेवाली विशिष्ट संघटना के निवारण का साधारणीकरण कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, ध्वनिकार का कथन है कि प्रधान रूप में शृंगार के ध्वनित होने पर 'श्रुतिकष्ट' जैसे दोष सर्वथा परिहार्य हैं, यद्यपि रौद्र-रस के संदर्भ में यह कोई दोष नहीं है।

वाच्य तथा अवाच्य अर्थ की मीमांसा के आधार पर काव्य के मूल्यांकन करने तथा वाच्य के बदले अवाच्य को ही निकष मानने की प्रवृत्ति से गुणों तथा दोषों एवं पूर्ववर्ती मीमांसकों द्वारा मान्यताप्राप्त, किंतु फिर भी विवादास्पद अलंकारों के स्वरूप का एक नए ढंग से विवेचन किया गया। वाच्य शब्द तथा अर्थ काव्य का वस्त्र मात्र है, किंतु प्राचीन आचार्य काव्य के इस बहिरंग अथवा आनुषंगिक रूप से ही प्रभावित थे। उन्होंने वाच्य शब्द तथा अर्थ को ही महत्त्व दिया। गुण तथा दोष (तथाकथित रीति-सहित) तथा अलंकार वाच्य के ही शब्द तथा अर्थाश्रित उक्ति-वैचित्र्य रूप हैं और उनका अस्तित्व इसी रूप

में स्वीकार किया गया है। अतएव, वे काव्य का प्रधान अंग नहीं हो सकते, क्योंकि अवाच्यार्थमूलक काव्य की आत्मा से उनका कोई संबंध नहीं है। साथ-ही-साथ उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। किंतु उन्हीं के माध्यम से अवाच्य की व्यंजना होती है। वाच्य शब्द तथा वाच्य अर्थ ही सूक्ष्म व्यंग्य अर्थ के व्यंजक होते हैं। अवाच्य का वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि अथवा रस-ध्वनि में भेद-निरूपण करते हुए आचार्यों ने प्रधान अवाच्य कारक के रूप में वस्तु, अलकार तथा रस को काव्य के नित्य धर्म कहा। बहिरंग अभिव्यक्ति का महत्त्व इस अवाच्य अर्थ को निर्दिष्ट करना मात्र है। इसके अतिरिक्त आचार्यों ने यह भी अनुभव किया कि कवि द्वारा प्रतिपादित रस ही काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। रस को इतना अधिक महत्त्व दिया जाने लगा कि अलंकार तथा वस्तु उपेक्षास्पद हो गए। रसात्मक अनुभूति के माध्यम के रूप में काव्य को एक गंभीर अर्थ दिया गया। ध्वनि के आचार्यों द्वारा काव्य में रस-ध्वनि को महत्त्व दिए जाने से ही ऐसा हुआ।

यह एक नवीन सिद्धांत की संक्षिप्त रूप-रेखा है। इसमें सभी ज्ञात तत्वों तथा मतों के आधार पर काव्य के एक व्याप्त सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें श्रेष्ठ काव्य के मूलभूत तथा अनिवार्य सिद्धांत अर्थात् ध्वनि की सूक्ष्म मीमांसा की गई है, जिसके माध्यम से पाठक विभिन्न मार्गों से होता हुआ स्पष्ट रूप में वाच्य से अवाच्य तक पहुँच सकता है। अवाच्य तक पहुँच कर ही पाठक काव्य के वास्तविक अर्थ को जान पाता है और काव्य के अंतर्निहित रस का, जो वास्तव में अवाच्य है, आस्वादन कर पाता है। शब्द अथवा अर्थ का अलंकरण तथा संघटनात्मक काव्य-गुण अथवा शैली इसी परा-काष्ठा में सहायक होते हैं। इस संदर्भ में, जैसा कि कुछ अर्वाचीन रहस्यवादी काव्यों से लक्षित होता है, ध्वनि को एक सहज संकेत अथवा परम मौन अथवा एक ऐसी विशिष्ट विचार-शृंखला कहना गलत है, जिसके अनुसार अवाच्य में ही सभी वस्तुओं का भाव मानकर उन्हें अनिर्वचनीय कहा गया है। अवाच्य का बाच्य से घनिष्ठ संबंध है। वाच्य के बिना अवाच्य का भाव ही नहीं हो सकता। गूढ़ होने के कारण सहृदय व्यक्ति ही इसकी सूक्ष्मता का अवगमन कर सकता है। व्याकरण तथा शब्दकोष के वेत्ता अवाच्य को नहीं समझ सकते। सहृदय तथा काव्य में प्रवृत्त तथा मर्मज्ञ ही अवाच्य को समझ सकते हैं। अवाच्य तो [illegible] है। गूढ़ शब्द तथा अर्थ के जटिल जाल को काटकर सौंदर्य-

त्मक सूक्ष्म अर्थ का—जिसमें सौंदर्य सुख वस्तु-विषयक सौंदर्य सुख में गुंफित होता है—आस्वादन करने में वही प्रवीण होता है।

ध्वनिमत में प्रतिपादित काव्यविद्या के उपर्युक्त सिद्धांत को आनंदवर्धन के पश्चाद्वर्ती सभी प्रसिद्ध आचार्यों ने शास्त्रीय रूप में स्वीकार किया है, यद्यपि इसके सिद्धांत पक्ष में कुछ त्रुटियाँ हो सकती हैं। यत्र-तत्र एकाध आचार्य ने इस मत के खंडन करने का साहस किया है, किंतु उसे शास्त्र-विरुद्ध कहकर उपेक्षा तथा विस्मृति के गर्त में ढकेल दिया गया है। ध्वनि के पश्चात् वक्रोक्ति-जीवितकार तथा व्यक्तिविवेककार के सिद्धांतों का प्रतिपादन बड़ी कुशलता से किया गया, किंतु वे ध्वनि को अपदस्थ न कर सके और पुष्ट समर्थकों के अभाव के कारण स्वयमेव ह्रासोम्मुख होकर समाप्त हो गए। परवर्ती आचार्यों ने केवल खंडन करने के लिए ही इनकी चर्चा की है। जैसा कि अभिनवगुप्त इत्यादि के द्वारा उनके लुप्त ग्रंथ में से दिए गए विस्तृत उद्धरणों से सूचित होता है, संभवत: भट्टनायक का विरोध अधिक प्रभावशाली था, किंतु उन्हें भी अधिक सफलता नहीं मिली। इसमें संदेह नहीं कि इन सब आचार्यों ने व्यंग्यार्थ की कल्पना को स्वीकार किया है, किंतु जब उन्होंने एक और ही ढंग से उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया तो उन्हें सुननेवाला कोई नहीं मिला। विश्वनाथ ने इस सिद्धांत को एकांतिक रूप देने का प्रयत्न किया, किंतु उन्हें भी सब का अनुमोदन प्राप्त नहीं हुआ। मम्मट के समान, सभी परवर्ती आचार्यों के परिश्रम का एकमात्र उद्देश्य ध्वनि के सिद्धांत का सूक्ष्म विवेचन करना तथा उसी के आधार पर काव्यविद्या को एक प्रामाणिक रूप देना था। उन्होंने सिद्धांत में कोई वास्तविक परिवर्तन करने की अपेक्षा उसी की सूक्ष्म मीमांसा करने में अपनी कुशाग्र बुद्धि का व्यय किया। काव्यविद्या के विषय पर संस्कृत में 'ध्वन्यालोक' के समान प्रभावशाली अन्य कोई ग्रंथ नहीं है। पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रयोगात्मक चिंतन को प्रकाश में लाने का श्रेय 'ध्वन्यालोक' को ही है। सिद्धांत की उत्कृष्ट व्याख्या के कारण इसने सभी पूर्ववर्ती ग्रंथों को मात कर दिया। अद्यावधि आचार्य-परंपरा इसी ग्रंथ से प्रभावित है।

अध्याय : छह

अभिनवगुप्त तथा प्रतिपक्षी सिद्धांत

(१)

अभिनवगुप्त

आनंदवर्धन के ग्रंथ पर अपनी सुप्रसिद्ध टीका के अंतर्गत ध्वनि-सिद्धांत की पांडित्यपूर्ण व्याख्या करने के कारग अभिनवगुप्त संस्कृत काव्यविद्या के एक ख्यातिप्राप्त आचार्य हैं। उनकी विदग्धता, उनकी प्रसिद्धि तथा अपने समय के चोटी के विद्वान् तथा दर्शन-विषयक लेखक होने के कारण उनके समर्थन से ध्वनि-सिद्धांत को बहुत बल मिला, जिसके फलस्वरूप परवर्ती काव्यविद्या के क्षेत्र में उनको ही एकमात्र सिद्धांत-प्रवर्तक के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। एक विषय को छोड़कर, जिसकी चर्चा संप्रति की जाएगी, उनका सिद्धांतपक्ष ध्वनि के प्रवर्तकों से भिन्न नहीं है। उनका स्थान उन सत्यनिष्ठ टीकाकारों के वर्ग में है, जो अपनी टीका में नवीन विचारों का समावेश करने की अपेक्षा सिद्धांत की व्याख्या करने में ही कृतप्रतिज्ञ होते हैं। अभिनवगुप्त ने भरत के 'नाट्य-शास्त्र' का भी गंभीर अध्ययन किया और उसके विश्वकोशीय पाठ पर एक विस्तृत तथा विशद टीका लिखी। जैसा कि पहले बताया गया है,[1] नाट्य में रुचि रखने के कारण उन्होंने नाट्य के अतिरिक्त काव्याश्रित रस की उत्पत्ति तथा रस की शक्ति से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों का भी गंभीर अध्ययन किया। मम्मट, हेमचंद्र इत्यादि आचार्यों ने स्पष्ट रूप में अभिनवगुप्त को रस-विषयक एक अत्यंत अर्वाचीन तथा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत के प्रतिपादन करने का श्रेय दिया है। इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि ध्वनि-आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'व्यक्ति' अथवा 'व्यंजना' का रस की अभिव्यक्ति पर भी प्रयोग किया जा सकता है और फलस्वरूप रस तथा ध्वनि का सहसंबंध स्थापित किया जा सकता है। उन्होंने रस का स्वरूप-निरूपण किया तथा काव्य-सिद्धांत में उसके स्थान का विवेचन किया। जिस विषय पर अनेक पूर्ववर्ती आचार्य माथा मारते रहे, उन्होंने उसकी सुंदर व्याख्या प्रस्तुत की।

---

1. देखिए अध्याय 4, पृ० 118.

काव्य में रस के महत्त्व का अनुभव करने के पश्चात् अभिनव ने ध्वनि-कार तथा आनंदवर्धन से भी एक पग आगे बढ़कर रस को काव्य के एकमात्र तत्त्व अथवा सौंदर्यात्मक सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठापित किया। सभी परवर्ती आचार्य उनके मत से बहुत प्रभावित रहे हैं। 'ध्वन्यालोक' के रचयिताओं ने प्राचीन नाटक तथा नाट्य-सिद्धांत के आधार पर काव्य तथा काव्य-सिद्धांत में रस का समावेश किया था, किंतु जैसे-जैसे काव्य में भाव (जिसे रस-सिद्धांत में बहुत महत्त्व दिया गया है) को अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा, वैसे-ही-वैसे काव्य के अनिवार्य सौंदर्यात्मक आधार के रूप में रस का भी महत्त्व बढ़ गया। हम कह चुके हैं[1] कि अभिनव से पहले ध्वनि-मत के आचार्यों ने रस को अवाच्य का केवल अंग ही कहा है, और अवाच्य के वस्तु तथा अलंकाराश्रित अनेक रूप हो सकते हैं। निस्संदेह उनके सिद्धांत में काव्यात्मक रस-ध्वनि को बहुत महत्त्व दिया गया है, किंतु ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन दोनों ने ध्वनि के अन्य रूपों को भी स्वीकार करना उचित समझा। उन्होंने रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित नहीं किया। वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे। निस्संदेह, यह कहा जा सकता है कि उन्होंने रस का पक्ष-समर्थन किया है, जिसके फलस्वरूप रस का अंगी होना सिद्ध हो जाता है, किंतु अपने सिद्धांत में तारतम्य बनाए रखने के कारण वे एकांतिक रूप में इसका पक्ष समर्थन नहीं कर सकते थे, क्योंकि उनके काव्यविद्या के व्याप्त सिद्धांत में रसध्वनि अवाच्य के तीन रूपों में से केवल एक ही रूप है। उसका महत्त्व वस्तु तथा अलंकार-ध्वनि के समान ही है। उन्हें यह मानना पड़ा कि निबंध में आकर्षण का केंद्र जैसा उसके रस में हो सकता है, वैसा उसकी वस्तु तथा अलंकार में भी हो सकता है। अभिनवगुप्त ने इन सिद्धांत-पक्षीय तथ्यों को अधिक महत्त्व नहीं दिया। उनके पूर्ववर्ती आचार्य इसी कारण से अपने अभिप्राय को स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर सके थे। उनके उद्देश्य मानकर उन्होंने उनके सिद्धांत को एक तर्कसंगत तथा अंतिम रूप दिया और रस को काव्य का जीवन कहा (रसेनैव सर्वं जीवति काव्यं)। उनके मत में रस के बिना काव्य हो ही नहीं सकता (न हि तच्छून्यं, अर्थात् रस-शून्य, काव्यं किंचिदस्ति, पृ० 65)। तथापि उन्होंने यह कहकर सैद्धांतिक दोष को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वस्तु तथा अलंकार पर आश्रित ध्वनि के अन्य दो रूप, अंततोगत्वा रस-ध्वनि जो कि वस्तुतः काव्य की आत्मा है, में ही विलीन हो जाते हैं (रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकार-ध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्यते, पृ० 27)। निस्संदेह परवर्ती आचार्य इस

1. देखिए अध्याय 5, पृ० 150-51.

मत से बहुत प्रभावित हुए। यद्यपि मम्मट ने बड़ी सावधानी से ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के सजग दृष्टिकोण का अनुसरण किया है, तथापि विश्वनाथ ने (अभिनवगुप्त के मतानुसार) उनके सिद्धांत को उनसे भी आगे विकसित करते हुए उसे एक अंतिम रूप दिया है और इस आधार पर अपने काव्य-सिद्धांत का निर्माण किया है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्)। किंतु यह आगे बताया जाएगा कि जिन कारणों से ध्वनिकार तथा उनके टीकाकार ने इस विषय पर अपने विचारों को व्यक्त करना उचित नहीं समझा, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जगन्नाथ ने विश्वनाथ के मत की आलोचना करते हुए अधिकांशत: उनकी पुनरावृत्ति की है। सभी परवर्ती आचार्य इस बात पर सहमत हैं कि काव्य में सबसे महत्त्वपूर्ण विवेच्य विषय रस-ध्वनि ही है। यद्यपि उन्होंने अभिनव के समान स्पष्ट रूप में नहीं कहा है कि वस्तु-तथा अलंकार-ध्वनि रस-ध्वनि में विलीन हो जाती हैं, फिर भी वे निश्चित रूप में रस-ध्वनि के पक्ष में ही प्रतीत होते हैं।

आनंदवर्धन द्वारा प्रतिष्ठापित नवीन सिद्धांत के समर्थक अभिनवगुप्त का संक्षिप्त रूप में सामान्य सिद्धांत-पक्ष यही है। परवर्ती काव्य-मीमांसा में अंततोगत्वा इस सिद्धांत के विजयी होने का कारण सिद्धांत की अंतर्निहित श्रेष्ठता तथा आनंदवर्धन द्वारा इसके उत्तम रूप में प्रतिपादन के अतिरिक्त संभवत: यह भी है कि इसके पीछे अभिनव की व्याख्या तथा ख्याति भी थी। इस सिद्धांत के तत्कालीन अनुयायियों ने अभिनवगुप्त के एकांतिक पक्ष का अनुसरण करने की अपेक्षा आनंदवर्धन द्वारा अंतिम रूप में प्रतिपादित सिद्धांत का ही अनुसरण किया। आनंदवर्धन के समय में ध्वनि का सिद्धांत, जो स्वयं ही प्राचीन था, विजयी हुआ; किंतु आनंदवर्धन के समय में ही काव्य का न्यूनाधिक एक व्याप्त सिद्धांत भी विकसित हुआ, जिसमें पूर्ववर्ती चिंतन के विभिन्न रूपों तथा मान्यताप्राप्त विचारों की संचित निधि का समुचित रूप में समन्वय किया गया। एक अन्य काश्मीरी आचार्य मम्मट ने ध्वनि-(विशेषतया रस-ध्वनि) केंद्रित इस सिद्धांत को सुव्यवस्थित रूप देकर उसे एक संक्षिप्त पाठ्यग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया। परवर्ती समय में इस सिद्धांत को एकमात्र शास्त्रीय कोटि में पहुँचाने में संभवत: मम्मट का प्रभाव अभिनवगुप्त से किसी तरह कम नहीं है। यह सिद्धांत, जिसे सुविधा के लिए हमने ध्वनि-सिद्धांत के नाम से लक्षित किया है, सभी पूर्ववर्ती मतों तथा सिद्धांतों को अपने में समाहित कर लेने के कारण सर्वश्रेष्ठ हो गया तथा काव्यध्वनि-पश्चात् अनेक अनुयायी

आचार्यों ने इसकी बारीकियों का ही विवेचन किया। इस आचार्य-वर्ग के एक अत्यंत अर्वाचीन लेखक जगन्नाथ का कथन उचित ही है कि 'ध्वन्यालोक' के रचयिताओं ने काव्य के आगामी लेखकों के अनुसरणार्थ सरणी अर्थात् मार्ग का व्यवस्थापन कर दिया (ध्वनिकृतां आलंकारिकसरणि-व्यवस्थापकत्वात्, पृ० 425)।

किंतु इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि ध्वनि-सिद्धांत अथवा मत बिना किसी तीव्र विरोध के सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। ध्वनि के परवर्ती, आनंदवर्धन के मतानुयायियों की चर्चा करने से पहले कुछ ऐसे प्रतिपक्षी आचार्यों की चर्चा करना आवश्यक है, जिन्होंने किसी अन्य विचारधारा का अनुसरण करते हुए उसका ही विकास किया है अथवा जिन्होंने नवीन सिद्धांत को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है। अन्य मतों के समर्थकों, यथा, प्रतीहारेंदुराज (पृ० 79 इत्यादि), जिन्होंने उद्भट के ग्रंथ पर टीका की है, अथवा गोपेंद्र तिप्पभूपाल ने (पृ० 72), जिन्होंने वामन के ग्रंथ पर टीका की है, प्राचीन परंपरा को ही निभाते हुए नवीन सिद्धांत की आलोचना की है। प्रतीहारेंदुराज के गुरु मुकुल ने इस प्रकार कहा है—

'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति··· एतच्च विद्वद्भिः कुशाग्रीयया बुद्ध्या निरूपणीयं, न तु झगित्येवासूयितव्यमित्यलमिति प्रसंगेन' (पृ० 21)।

किंतु वास्तव मे कुछ चिंतनशील आचार्यों ने इससे भी तीव्र विरोध किया। उन्होंने प्राचीन विचारधारा के आधार पर ही ध्वनि-सिद्धांत की नवीन व्याख्या करने का प्रयत्न किया। इनमें से अधिकतर आचार्य अभिनवगुप्त के समय के आसपास ही हुए हैं। ध्वन्यालोक के रचयिताओं के पश्चात् होने के कारण वे ध्वनि के सामान्य सिद्धांत से परिचित थे अथवा उन्होंने उसे स्वीकार भी किया; तथापि उन्होंने उसकी अन्य प्रकार से व्याख्या करने का प्रयत्न किया। वे सब इस बात में सहमत हैं कि काव्याश्रित व्यंग्यार्थ की व्याख्या करने के लिए व्यंजनावृत्ति का प्रतिपादन करना अथवा उसे सिद्ध करना अनावश्यक है। उन्होंने प्राचीन परंपरा के आधार पर यह कहा है कि अनुमान इत्यादि शास्त्रीय प्रमाणों से वाच्यार्थ द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतिपत्ति हो सकती है। इनमें से कोई भी आचार्य ऐसा नहीं है, जिसे ध्वनिकार ने 'अभाववादी' अर्थात् ध्वनि के भाव को माननेवाला, के नाम से लक्षित किया है; किंतु इन आचार्यों ने पहले से ही मान्यताप्राप्त प्रमाणों को आधार मानते हुए ध्वनि की व्याख्या करने

का यत्न किया है। इन आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—भट्टनायक, जो संभवतः अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती थे; कुंतक, जो संभवतः अभिनवगुप्त के समकालीन थे तथा महिमभट्ट, जो अभिनवगुप्त के कनिष्ठ समकालीन थे अथवा उनके एकदम पश्चात् हुए थे। इस संदर्भ में अग्निपुराण के अंतर्गत काव्य-विद्या के आचार्य द्वारा प्रतिपादित मत तथा भोज के मत पर भी चर्चा करना सुविधाजनक रहेगा। यह मत अनेक रूपों में आनंदवर्धन के काश्मीरी मत से भिन्न है तथा ध्वनि-सिद्धांत से सर्वथा पृथक्, अछूता, है।

(२)

भट्टनायक

यह दुर्भाग्य की बात है कि भट्टनायक का 'हृदयदर्पण' लुप्त हो चुका है। अभिनवगुप्त इत्यादि के ग्रंथों में दिए गए उद्धरणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह ग्रंथ भरत के 'नाट्यशास्त्र' की टीका न होकर एक गद्य-पद्य-बद्ध (अर्थात् श्लोकबद्ध कारिका तथा गद्यबद्ध वृत्ति) मौलिक ग्रंथ है, जो महिमभट्ट के परवर्ती ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक' के समान शैली तथा उसी उद्देश्य से लिखा गया था। 'व्यक्तिविवेक' की तरह, काव्य के एक नए सिद्धांत का प्रतिपादन करने के लिए नहीं तो कम-से-कम ध्वन्यालोक का खंडन करने तथा ध्वनि, विशेषतया रस-ध्वनि, की भिन्न रूप से व्याख्या के उद्देश्य से ही इसकी रचना की गई थी। कालांतर में जब महिमभट्ट ने ध्वनि-सिद्धांत के खंडन करने का निश्चय किया तो उन्होंने अपने आक्षेप के आरंभ में बड़े गर्व से यह कहा लि मैंने 'दर्पण' (अनुमानतः 'हृदयदर्पण', जैसा कि उनके टीकाकार ने स्पष्ट किया है) का अवलोकन किए बिना ही अपने ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक' की रचना की है।[1] अतएव 'हृदयदर्पण' स्पष्ट रूप में 'ध्वनिध्वंस' के उद्देश्य से

1. महिमभट्ट का यह कथन कि मैंने अपने ग्रंथ की रचना करते समय 'चन्द्रिका' का भी, जो प्रत्यक्ष रूप में 'ध्वन्यालोक' पर एक प्रतिपक्षी टीका थी, अवलोकन नहीं किया, विचित्र बात है। संभवतः यह वही ग्रंथ है, जिसका अभिनवगुप्त ने अपने 'लोचन' में बारंबार उल्लेख करते हुए उसकी समालोचना की है और जो उनके कथनानुसार उनके एक पूर्वज द्वारा लिखा गया था। अभिनव के उल्लेखों तथा समालोचना से इस बात की भी पुष्टि होती है कि इस ग्रंथ में कई स्थानों पर 'ध्वन्यालोक' के पाठ की आलोचना की गई है। माणिक्यचंद्र तथा सोमेश्वर ने मम्मट के ग्रंथ पर अपनी टीकाओं में प्रत्यक्ष रूप में इसी 'चंद्रिका' का उल्लेख किया है। देखिए खंड 1, पृ० 94.

ही लिखा गया था। निस्संदेह, भट्टनायक, अभिनवगुप्त मम्मट इत्यादि द्वारा कथित चार आचार्यों में से हैं, जिन्होंने रस-विषयक भरत के मूल सूत्र की व्याख्या की है; किंतु केवल इसी आधार पर उन्हें 'नाट्यशास्त्र' का टीकाकार कहना युक्तियुक्त नहीं है।[1] इसके विपरीत, 'लोचन' में अभिनवगुप्त के उल्लेखों से यह पर्याप्त रूप में स्पष्ट हो जाता है कि 'व्यक्तिविवेक' के समान 'ध्वन्यालोक' के पाठ तथा सिद्धांत की विस्तार से आलोचना करना ही 'हृदय-दर्पण' का विशिष्ट उद्देश्य था। इसके अंतर्गत रसविषयक विवेचन संभवत: काव्य तथा काव्याभिव्यक्ति के विषय में भट्टनायक के सामान्य मत की चर्चा के प्रसंगवश ही किया गया था।

---

1. हम इस प्रश्न पर पहले ही खंड 1, पृ० 38-39 पर चर्चा कर चुके हैं। 'अभिनवभारती' के अध्याय 1 में एक स्थल है, जिसे हम पहले भी निर्दिष्ट कर चुके हैं, जिससे सूचित होता है कि 'हृदयदर्पण', 'नाट्यशास्त्र' पर एक टीका थी ('भंडारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० 390 पर 'प्राग्ध्वनि मत' विषय पर सोवानी का लेख तथा विपक्ष में 'जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1909 पृ० 350-52 देखें)। भरत के i. 1 में 'ब्रह्मणा यदुदाहृतं' की व्याख्या करते हुए वह स्थल इस प्रकार है—'भट्टनायकस्तु ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतं कृतनिदर्शनं''' तदनेन पारमार्थिकं प्रयोजनमुक्तमिति व्याख्यानं हृदयदर्पणे पर्यग्रहीत्।' इस स्थल का वास्तव में महत्त्व है, क्योंकि 'नाट्यशास्त्र' के i. 1 पर किसी ग्रंथ में दी गई टिप्पणी को समुचित मानना कठिन है, जबकि वह ग्रंथ अनुमानत: 'नाट्य-शास्त्र' की टीका नहीं है। किंतु अभिनव ने अपने 'लोचन' (पृ० 11, 12, 15, 19, 21, 27, 28, 29, 33, 63, 67 में भट्टनायक के ग्रंथ के जिन गद्यमय स्थलों तथा पद्यमय अंशों का उद्धरण तथा आलोचना की है, उक्त कथन उनके विरुद्ध प्रतीत होता है। भट्टनायक के ग्रंथ के इन स्थलों पर अधिकांशत: 'ध्वन्यालोक' की प्रत्यक्ष आलोचना की गई है। इन दोनों में से कोई भी बात संभव हो सकती है—(1) कि 'हृदयदर्पण' वास्तव में भरत के 'नाट्यशास्त्र' की एक टीका थी, जिसमें भट्टनायक ने आनुषंगिक रूप से 'ध्वन्यालोक' की भी आलोचना की थी। किंतु इससे इस ग्रंथ में विद्यमान श्लोकों का स्पष्टीकरण नहीं होता, जिन्हें अभिनवगुप्त तथा अन्य आचार्यों ने उनके मत की व्याख्या करते हुए उनके ग्रंथ से उद्धृत किया है, अथवा (2) कि गद्य-पद्य-बद्ध यह एक मौलिक रचना थी। इसमें भट्टनायक ने 'ध्वन्यालोक' के विपक्ष में अपने मत का प्रतिपादन किया था। इसमें रस सिद्धांत तथा भरत के पठन से संबंधित चर्चा का होना ऐसी बात नहीं है, जिसका स्पष्टीकरण न हो सकता हो। संभवत: भट्टनायक ने अपने सामान्य सिद्धांत के प्रसंग में उनका विवेचन किया हो। यह स्पष्टीकरण अधिक संभव है। हमने पहले खंड में भी इसी पर बल दिया है।

इस समस्या का निश्चित रूप से समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि अभिनव इत्यादि के ग्रंथों में उनके मत की केवल संक्षिप्त तथा आलोचनात्मक व्याख्या ही उपलब्ध है। काव्याश्रित रस की उत्पत्ति तथा शक्ति के विषय में भट्ट नायक के मत पर कुछ चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं।[1] यह बताया जा चुका है कि भट्टनायक ने 'रस-चर्वणा' को काव्य का जीवन अथवा आत्मा कहा है, किंतु रस के निष्पाद के रूप में वह व्यंजना की शक्ति को प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।[1] संभवतः काव्य की आत्मा के रूप में जिस प्रकार उन्होंने रस-ध्वनि को अंगीकार किया है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ को भी अंगीकार किया है (रस-ध्वनिस्तु तेनैवात्मतयांगीकृतः, 'लोचन', पृ० 15); किंतु इस विषय पर अभिनवगुप्त के आक्षेप से यह संभव प्रतीत होता है कि उन्होंने वस्तुध्वनि को स्वीकार नहीं किया (किंतु वस्तु-ध्वनि दूषयता रस-ध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनि-ध्वंसोऽयम् पृ० 20)। एक श्लोक में, जिसे अभिनव (पृ० 27), हेमचंद्र (पृ० 4), माणिक्यचंद्र (पृ० 4) तथा जयरथ (पृ० 9) ने भट्टनायक-रचित कहा है, कहा गया है कि विभिन्न प्रकार के काव्य-निबंधों में परस्पर भेद का कारण यह है कि शास्त्र में 'शब्द' का प्राधान्य होता है, आख्यान (संभवतः इतिहास) में 'अर्थ' प्रधान होता है, जबकि काव्य में शब्द तथा अर्थ दोनों 'गुणीभूत' (अथवा 'न्यग्भावित') होते हैं। एक अन्य स्थल पर अभिनव के अनुसार (पृ० 68) उनका कथन है कि शब्दाश्रित काव्य अन्य प्रकार के शब्दाश्रित निबंधों से इसलिए भिन्न होता है, क्योंकि इसमें तीन तत्व अथवा शक्तियाँ रहती हैं। इनमें से 'अभिधा' वाच्यार्थाश्रित होती है, 'भावकत्व' रसाश्रित होता है तथा 'भोजकत्व' श्रोताश्रित होता है; इस प्रकार काव्य के तीन अंगों के तीन कार्य अथवा शक्तियाँ होती हैं। इनमें से यदि अभिधा को (अन्य दो शक्तियों से अलग) पृथक् रूप में लिया जाए तो उनका प्रश्न है, काव्यात्मक अलंकारों तथा शास्त्रोक्त सिद्धांतों में परस्पर क्या भेद रह जाता है? अथवा यदि पूर्वोक्त शक्तियों का भेद-निरूपण

1. देखिए अध्याय 4, पृ० 113 इत्यादि।
2. अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्ति' सिद्धांत के विषय में भट्टनायक की आपत्ति को इस प्रकार प्रस्तुत किया है ('लोचन', पृ० 68)—'यदि संभाव्य श्रृंगार को 'अभिव्यक्ति' से अभिव्यक्त माना जाए तो इसकी 'विषयार्जन-तारतम्य-प्रवृत्ति' हो जायगी, और इस प्रकार रस की एकात्मकता का विरोध हो जायगा। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त कठिनाई भी कि रस की अभि[illegible] होती है [illegible] हो जायगी।'

अलंकार की दृष्टि से तथा स्वतः अनपेक्ष्य है, अर्थात् महत्त्वपूर्ण नहीं है तो 'श्रुतिकष्ट' इत्यादि दोषों का निवारण क्यों किया जाए ? इन कारणों से, भट्टनायक के कथनानुसार, द्वितीय शक्ति अर्थात् 'भावकत्व' की उपपत्ति होती है, जिससे काव्य तथा काव्यगत विभावों का साधारणीकरण होता है। इसी शक्ति के कारण अभिधा, लक्षणा भी हो जाती है, अर्थात् अभिधा शक्ति से वाच्यार्थ का रस के आधार पर एक गौण अथवा अलंकाराश्रित महत्त्व हो जाता है। इस प्रकार रस के भावित हो जाने पर रस का 'भोग' अर्थात् आस्वादन होता है, जिसे, जैसा कि हम पहले कह आए हैं, सांख्य-शास्त्रियों के सिद्धांत के अनुसार भट्टनायक ने ब्रह्मचिंतन के समान, विरागात्मक चिंतन कहा है।

इस प्रकार, भट्टनायक ने रस की व्याख्या के हेतु काव्यगत अभिधा तथा भावकत्व के अतिरिक्त 'भोग' शक्ति का प्रतिपादन किया है। उनका अभिप्राय यह है कि रस, जिसे ध्वनि के आचार्यों ने काव्य की भावात्मक ध्वनि के रूप में अंगीकार किया है, 'स्वसंवेद्य' होता है, अतएव वह अनिर्वचनीय है। अथवा दूसरे शब्दों में भट्टनायक, ध्वनि-सिद्धांत के उन आलोचकों में से हैं, जिन्होंने ध्वनिकार के कथनानुसार, ध्वनि के भाव को अस्वीकार तो नहीं किया है, किंतु उसे शब्द-विषय नहीं माना है (1.151)। एक श्लोक में, जिसे अभिनव (पृ० 15, 11) तथा जयरथ (पृ० 9) ने भट्टनायक रचित कहा है, उन्होंने ध्वनि की 'काव्यरूपता' [1] को छोड़कर उसके 'काव्यांगत्व' का कथन किया है। इस कथन से यह सूचित होता है कि भट्टनायक ने ध्वनि को स्वीकार तो कर लिया, किंतु उनका उद्देश्य ध्वनि के आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या से भिन्न व्याख्या को प्रतिष्ठापित करना था। रुय्यक का मत है कि भट्टनायक ने 'व्यंग्यव्यापार' को काव्य की आत्मा न मानकर 'काव्यांशत्व', अर्थात् उसे काव्य का एक अंश कहा है। व्यंग्यव्यापार कवि की प्रौढोक्ति के कारण ही निष्पन्न होता है। इस अर्थ में कवि-कर्म (जयरथ के कथनानुसार, जैसा कि भट्टनायक ने 'व्यापार' शब्द से सूचित किया है), शब्द तथा अर्थ के गौण हो जाने के कारण काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग हो जाता हैं; इस दृष्टिकोण से भट्टनायक का सिद्धांत आचार्य कुंतक के सिद्धांत के समीप हो जाता है। कुंतक के मतानुसार काव्य में वक्रोक्ति 'कवि-कर्म' पर ही आश्रित है।

---

1. जैसा कि 'लोचन' पृ० 15 पर सूचित हस्तलिपि ग में दिया गया है, इस श्लोक में 'काव्यांगत्वं न' [illegible]

(२)

कुंतक

'वक्रोक्तिजीवित' के रचयिता, कुंतक का आशय ध्वनि-सिद्धांत पर आक्षेप करना अथवा उसका खंडन करना नहीं था। उन्होंने काव्य में 'व्यंग्यार्थ' को अंगीकार किया है, किंतु भामह की 'वक्रोक्ति' की परंपरा का पालन करते हुए उन्होंने स्वयं के एक 'वक्रोक्ति' सिद्धांत का विकास किया है, जिसके कुछ अंशों में ध्वनि तथा रस-विषयक सभी तत्वों को समाहित कर लिया गया है। चिरकाल से उनका लगभग संपूर्ण अप्राप्य ग्रंथ अभी-अभी प्राप्त हुआ है तथा इस ग्रंथ के लेखक ने उसके एक अंश (अध्याय 1, 2 तथा 3 का एक अंश) को प्रकाशित करवाया है।[1] अब कुंतक के मत के विषय में परवर्ती साहित्य में दिए गए उद्धरणों पर निर्भर रहना आवश्यक नहीं है। अब उनका अपने ही कथनों से तत्संबंधी जानकारी स्वतंत्र रूप में प्राप्त हो सकती है।[2]

कुंतक का मुख्य सिद्धांत यह है कि वक्रोक्ति काव्य का 'जीवित' अर्थात् जीवन है; वक्रोक्ति से उनका तात्पर्य 'विचित्र विन्यास-क्रम' है, जो शास्त्रादि-प्रसिद्ध-शब्दार्थोपनिबंधव्यतिरेकि' है। अतएव वक्रोक्ति में, काव्य-विशिष्ट 'वैचित्र्य' अथवा 'भंगी-भणिति' अथवा 'भणिति-प्रकार' के हेतु प्रसिद्ध अर्थात् प्रतिष्ठित लोक-शब्द व्यापार तथा सामान्य अर्थ में शब्द-प्रयोग की उपेक्षा की गई है। काव्यात्मक शब्द-प्रयोग इसी 'वक्रता' अथवा 'वक्रभाव' पर आधारित होता है। इस प्रकार यहाँ शास्त्रादि तथा काव्य के अतिरिक्त स्वभावात्मक तथा कलात्मक अभिव्यक्ति का परस्पर भेद अभिप्रेत है।[3]

अतएव, कुंतक का मत यह है कि सालंकार शब्द तथा अर्थ ही काव्य है और यह अलंकार वक्रोक्ति ही है। तथाकथित शोभाकर, जिन्हें अलंकार कहा गया है, वक्रोक्ति के ही रूप हैं और उन्हें वक्रोक्ति की व्याप्त परिधि में समाहित किया जा सकता है। इसी प्रकार ध्वनि तथा रस भी वक्रोक्ति में आ जाते हैं। यह वक्रोक्ति एकमात्र अलंकार है, अतएव कुतंक के कथनानुसार, यह सामान्य कथन कि अलंकार काव्य का अंग है, उचित नहीं; क्योंकि इस

1. कलकत्ता ओरिएटल सीरीज़, द्वितीय संशोधित तथा परिवर्धित सं० 2928. संभवत: मूल ग्रंथ में चार अध्याय थे। देखिए खंड 1 पृ० 118.
2. उपर्युक्त सं० की भूमिका में कुंतक के काव्य-सिद्धांत का वर्णन है; विस्तृत उद्धरणों के लिए उसी का अवलोकन करें।
3. ऊपर देखिए, अध्याय 2, पृ० 45-46.

कथन का अभिप्राय यह होगा कि अलंकार के अभाव में भी काव्य हो सकता है (i. 7, 11)।

इसके पश्चात् वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए कुंतक ने कहा है कि कवि-कौशल के कारण हम वक्रोक्ति से चमत्कृत होते हैं, अतएव वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्यभंगी-भणिति' कहा गया है।[1] अंततोगत्वा वक्रोक्ति कवि की 'प्रतिभा' अथवा उसके 'कौशल' अथवा उसकी कल्पना शक्ति के, जिसे 'कविव्यापार' अथवा 'कविकर्म' कहा गया है, आश्रित होती है। कुंतक ने इस 'कविव्यापार' का, जो काव्य का परम कारण है, यथार्थ स्वरूप नहीं बताया है। संभवतः उन्हें यह ज्ञात था कि इसका स्वरूप अनिर्वचनीय है, किंतु उन्होंने इसका बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है और वर्ण, पद पूर्वार्द्ध तथा पद-परार्ध, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबंध के आश्रित छह विभिन्न क्षेत्रों में इसका भेद-निरूपण किया है। पहले अध्याय के भूमिका खंड को छोड़कर उन्होंने लगभग अपने संपूर्ण ग्रंथ में 'कविव्यापारवक्रता' के इन भेदों का लक्षण-निरूपण, भेद-निरूपण तथा उदाहरण दिए हैं, काव्यात्मक शब्द के यही विभिन्न रूप हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि कुंतक ने केवल 'स्वभावोक्ति' पर आश्रित निबंध को काव्य नहीं माना है। उनके अनुसार ऐसा काव्य वैचित्र्य-विहीन सामान्य शब्द-जाल मात्र होता है; फलस्वरूप उन्होंने भामह

1. 'विदग्ध' शब्द 'विद्वान्' शब्द से विपरीत सुकाव्य में पारंगत व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है; 'ध्वन्यालोक' में अनेक बार 'विदग्ध-विद्वत्-परिषद्' को प्रभावित करने का उल्लेख है (पृ० 201, 239)। 'काव्यमीमांसा' पृ० 46 पर अवंतिसुंदरी के इस कथन का उल्लेख है 'विदग्धमणितिभंगी निवेद्यं वस्तुतो रूपं न नियतस्वभावम्'। आनंदवर्धन ने पृ० 243 पर 'वैचित्र्य' की चर्चा करते हुए 'भणिति-कृतं वैचित्र्यमात्रम्' शब्दों का प्रयोग किया है। अभिनव ने कहा है कि 'उपमा-विच्छित्ति (उपमा-विच्छित्ति-प्रकाराणामसंख्यत्वात्, लोचन, पृ० 5) के असंख्य प्रकार होते हैं। उन्होंने इसे 'चारुत्व' के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त किया है (पृ० 8)। आनंदवर्धन द्वारा पृ० 130 पर उद्धृत श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य-सिद्धांतों में इस अर्थ में प्रयुक्त 'विच्छित्ति' शब्द, वस्त्र तथा शारीरिक शृंगार में असावधानी से लक्षित स्त्री-सुलभ सौंदर्य को लक्षित करने के लिए समान रूप में प्रयुक्त 'विच्छित्ति' शब्द के सदृश ही है (नाट्यशास्त्र 22. 16)। इस विषय पर हरिचंद शास्त्री का 'L'art poetique de l'Inde' पृ० 64-65 देखिए। 'ध्वन्यालोक' के पृ० 139-241 में 'भंगी' शब्द अभिव्यक्ति-भंगिमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द 'विच्छित्ति' शब्द का ही वाचक है।

के इस कथन को कि 'वक्रोक्तिवैचित्र्य' में एक प्रकार के 'अतिशय' का भाव रहता है, विकसित किया है। इस अतिशय को यदि भामह की 'अतिशयोक्ति' के 'लोकातिक्रांतगोचरता' के अर्थ में लिया जाए तो इसका अभिप्राय अभिव्यक्ति की 'लोकोत्तर' चारुता होगा। यह 'लोकोत्तरता', जिसका भाव रसास्वादन में विद्यमान रहता है,[1] 'वक्रोक्ति' में भी अभिप्रेत है। इस विषय में कुंतक रस के आचार्यों के मुख्य सिद्धांत से सहमत प्रतीत होते हैं। कुंतक का यह भी मत है कि इस लोकोत्तर वैचित्र्य का परम निकष सहृदय का 'तद्विदाह्लाद' है। सहृदय का जो महत्त्व रस-सिद्धांत अथवा सामान्य काव्य-सिद्धांतों में है, वैसा ही यहाँ भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न सिद्धांतों के व्याख्याता अंत में एक ही मापदंड अथवा निकष के निकट पहुच गए हैं, यद्यपि उनकी विचार-वीथियाँ अपनी-अपनी हैं और वे इस बात में सहमत हैं कि अंततोगत्वा वैचित्र्य अथवा चमत्कार (अलंकार अथवा रसाश्रित) सहृदय के आस्वादन पर ही निर्भर होता है।

इस प्रकार भामह के अलंकार-सिद्धांत को एक नया मोड़ दिया गया। अथवा अलंकार-सिद्धांत में जिस मत को अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त किया गया है, कुंतक ने व्यवस्थित रूप में उसका विश्लेषण करके उसे एक तर्कसंगत अंतिम रूप दिया।[2] यद्यपि उनका मुख्य सिद्धांत एकांतिक है तथा उसका नाम भी विचित्र-सा है, तथापि उनके ग्रंथ का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकार-सिद्धांत को व्यवस्थित रूप देकर अद्वितीय तथा मौलिक रूप में प्रस्तुत किया हैं। ध्वनि के आचार्यों ने अलंकारों को 'वाग्विकल्प' मात्र कहकर ठुकरा दिया अथवा उन्हें काव्य के अवाच्य अंश के शोभावर्धक के रूप में ही स्वीकार किया। उन्होंने अलंकार तथा रस के रूप में काव्य के प्रधान अंश, ध्वनि के परस्पर संबंध का कथन किया है; किंतु ऐसे स्थल भी हो सकते हैं, जहाँ कवि का अभिप्राय रस अथवा अवाच्य को किसी भी रूप में विकसित करना नहीं होता, अपितु वाच्य अलंकार के रूप में चमत्कार उत्पन्न करना होता है। ऐसे अवसर पर, 'ध्वन्यालोक' के रचयिताओं का विचार है कि ऐसे सभी अलंकार, जिनमें अवाच्य अंश होने के कारण विशिष्ट चारुता का गुण विद्यमान रहता है, 'गुणीभूतव्यंग्य' के वर्ग में आते हैं। यदि अलंकार में अवाच्य अंश का भाव न हो तो ऐसे अलंकार

1. ऊपर देखिए, अध्याय iv.
2. कुंतक के 'वक्रोक्ति' सिद्धांत को प्राचीन अलंकार-सिद्धांत की एक शाखा कहा जा सकता है (अध्याय ii).

चित्राश्रित होते हैं, और उन्हें काव्य की निम्नतम श्रेणी में रखा जा सकता है, जिसे उन्होंने 'चित्रकाव्य' से निर्दिष्ट करते हुए 'काव्यानुकृति' मात्र कहा है। अथवा दूसरे शब्दों में उन्होंने ऐसे अलंकारों को स्वीकार किया है, जिनमें अवाच्य का संबंध होने के कारण विशिष्ट चारुता रहती है, अतएव काव्य में उनका स्थान है। ऐसे अलंकारों को जिनमें अवाच्य का भाव नहीं होता, अथवा उनका अवाच्य से कोई संबंध नहीं होता, काव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वे शब्द के असंख्य भेद मात्र हैं। आनंदवर्धन ने कहा है—'अनंता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः।' इसके विपरीत कुंतक ने काव्य में ऐसे अलंकारों को 'अलंकारों के रूप में' स्थान दिया है और कहा है कि उनका यह महत्त्व अवाच्य से संबंधित होने अथवा न होने पर निर्भर नहीं है; क्योंकि यह महत्त्व तो उनके वैचित्र्य गुण के कारण है और स्वत:सिद्ध अथवा पर्याप्त है। वैचित्र्य अपने प्रभाव के लिए किसी अन्य वस्तु का आश्रित नहीं है।

किंतु उन्होंने वैचित्र्य, विच्छित्ति अथवा वक्रता से युक्त अलंकार को ही अलंकार माना है, जो कि वक्रोक्ति का ही रूप है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अलंकार 'अभिधा-प्रकार-विशेष' हैं; उनका अवाच्य से संबंध होना अनपेक्ष्य है; किंतु इसके साथ-ही-साथ उन्होंने इनमें एक विशिष्ट अंतर को ही स्वीकार किया है, वह है उनकी अभिव्यक्ति की विशिष्ट वक्रता, जिससे वैचित्र्य अथवा विच्छित्ति की उत्पत्ति होती है और जो 'कविप्रतिभानिर्वतित' रहती है। इस प्रकार, तथाकथित प्राचीन अलंकार, कविप्रतिभानिर्वतित चारुता अथवा वैचित्र्य गुण से युक्त होने पर ही अलंकार माने जा सकते हैं। ऐसे लक्षणों से युक्त अलंकार ही काव्यालंकार हो सकते हैं।[1] इस प्रकार कुंतक ने न केवल ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के सिद्धांत में विद्यमान एक विशिष्ट कमी को पूरा किया, अपितु अलंकार मात्र से भिन्न काव्यालंकार का निरूपण करते हुए उसके अस्तित्व को सिद्ध किया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ध्वनि-सिद्धांत के परवर्ती अनुयायियों ने, जिनमें से अधिकांश ने पश्चात्-ध्वनि-काव्यविद्याविषयक ग्रंथों

1. अतएव 'अलंकार' के स्थान पर 'काव्यालंकार' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऊपर देखिए, अध्याय 2, पृ० 69 निस्संदेह शास्त्रीय काव्य-विवेचन में ये शब्द एक-दूसरे के पर्याय हैं, किंतु अलंकारशास्त्र के ग्रंथ में अलंकार के काव्यात्मक वैचित्र्य का भाव सर्वथा छोड़ दिया गया। अतएव 'संस्कृत अलंकार' का अनुवाद 'संस्कृत रिटोरिक' करना अशुद्ध है। देखिए पृ० 392।

की रचना की है, कुंतक के विश्लेषण को अंगीकार करते हुए अलंकार के दो लक्षणों अर्थात् 'विच्छित्ति' तथा 'कविव्यापार' को काव्यालंकार के परम निकष स्वीकार किया। मम्मट ने कहा है कि जहाँ रस-ध्वनि का अभाव हो, वहाँ काव्यालंकार से केवल 'उक्तिवैचित्र्य' ही लक्षित होता है, और अलंकार तो स्वयं ही वैचित्र्य है (वैचित्र्यमलंकाराः)। यह आगे बताया जाएगा कि रुय्यक पहले आचार्य हैं, जिन्होंने कुंतक द्वारा प्रतिपादित अलंकार के मापदंड को स्वीकार करते हुए तदनुसार अलंकारों का पृथक्-पृथक् सूक्ष्म विवेचन तथा भेद-निरूपण किया है।

भामह की अपेक्षा कुंतक ने रीति पर अधिक बल दिया है और गुणों का अधिक सूक्ष्म स्वरूप-निरूपण किया है। उन्हें दंडी तथा वामन-कृत मार्ग अथवा रीति के भेद-निरूपण का ज्ञान था, किंतु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उनके मतानुसार रीति देश-धर्माश्रित नहीं होती और विशिष्ट प्रदेश के नाम पर उसका नाम रखना भी ठीक नहीं है। ऐसा होने पर रीति के असंख्य भेद मानने पड़ेंगे, क्योंकि प्रदेश तो असंख्य हैं। रीतियों का उत्तम, मध्यम तथा अधम वर्गों में विभाजन भी बेकार है, क्योंकि केवल उत्तम रीति ही ग्राह्य है। तथाकथित मध्यम अथवा अधम को स्वीकार करने अथवा उनके विषय में नियम बनाने में कोई तुक नहीं है। कुंतक के मत में कवि-स्वभाव ही एकमात्र माप-दंड है। रीतियों (कुंतक ने मार्ग शब्द का प्रयोग किया है) का वर्गीकरण कवियों की शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास-भेद के आधार पर होना चाहिए। एक कवि-वर्ग सौकुमार्य-लक्षणयुक्त निबंध-रचना में विशेष रूप से प्रवीण हो सकता है, अन्य वैचित्र्य में प्रवीण हो सकते हैं। उन्होंने निबंध के इन दो भेदों को दो सीमाओं के रूप में अंगीकार किया है। किंतु कुछ ऐसे भी कवि हो सकते हैं, जो मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहें तथा मिश्रित मार्ग के पक्ष में हों। सुकुमार मार्ग में कवि अपनी सहज शक्ति के कारण वस्तु-स्वभाव का निर्बाध वर्णन करने में समर्थ होता है, फलस्वरूप अपनी उक्ति की शोभा बढ़ाने में उसे अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। विचित्र मार्ग में, जिसे सभी श्रेष्ठ कवियों ने ग्रहण किया है, वर्णन मुख्यतः अलंकारात्मक होता है तथा कवि-कौशल अधिक सूक्ष्म और कलापूर्ण होने के कारण आहार्य होता है। कुंतक के कथनानुसार इनमें से प्रत्येक मार्ग में चार-चार प्रकार के गुण होने चाहिए। गुणों के नाम तो समान हैं, किंतु उनका लक्षण-निरूपण भिन्न है। विचित्र मार्ग में माधर्य (= कलापूर्ण संघटना तथा शैथिल्य का परिहार, प्रसाद (= सुदृ

शब्द तथा सरल वर्णविन्यासाश्रित स्पष्टता), लावण्य (=ह्रस्व तथा दीर्घ मात्राओं की संघटना पर आश्रित सौंदर्य) तथा आभिजात्य (=जो न अधिक कोमल हो और न ही अधिक कठोर हो) गुण होते हैं। सुकुमार मार्ग में माधुर्य (=समासों की अनधिकता के कारण मधुरता), प्रसाद (=स्पष्टता), लावण्य (=यथोचित वर्ण तथा शब्द संघटना पर आश्रित सौंदर्य) तथा आभिजात्य (=साम्य) गुण होने अभीष्ट हैं। मध्यम मार्ग अर्थात् बीच का मार्ग, उभयात्मक है, उसमें उपर्युक्त दोनों मार्गों के गुण होते हैं। इन गुणों के अतिरिक्त कुंतक ने औचित्य (i. 53-54) तथा सौभाग्य (i. 55-56) गुणों का भी कथन किया है। ये गुण तीनों मार्गों में समान रूप से रहते हैं। औचित्य में शब्द तथा अर्थ के औचित्य पर बल दिया गया है; निबंध-गत सभी वस्तुओं की निष्पत्ति के फलस्वरूप सौभाग्य गुण की उत्पत्ति होती है।[1]

कुंतक द्वारा काव्य में वक्रोक्ति के प्रतिपादित महत्व से सूचित होता है कि ध्वनि तथा रस के सभी रूप 'वक्रता' में इस प्रकार समाहित हैं, जिस प्रकार अनुप्रासाश्रित उद्भट की वृत्तियाँ तथा स्वयं 'अनुप्रास' तथा प्राचीन आचार्यों का 'यमक', वर्ण-विन्यास वक्रता के ही रूप हैं। आनंदवर्धन का अपना श्लोक 'ताल जअंति गुण' तथा 'अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' (अर्थात् ऐसी ध्वनि, जहाँ वाच्यार्थ का अर्थांतर-संक्रमण हो जाता है) के उदाहरणस्वरूप आनंद द्वारा उद्धृत श्लोक 'स्निग्धश्यामल-कांति०' जैसे उदाहरणों में ध्वनि की कल्पना आंशिक रूप में 'रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता' में समाहित है। ध्वनि के अन्य रूप 'उपचार-वक्रता' में आ जाते हैं। आनंद ने इसी संदर्भ में 'अत्यंततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि' के उदाहरणस्वरूप 'गअणं च मत्तमेहं' श्लोक को उद्धृत किया है। कुंतक के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'उपचार' को अत्यल्प सादृश्य के आधार पर दो अत्यंत भिन्न वस्तुओं के कल्पनामूलक अभेद के अर्थ में स्वीकार किया है। अतएव रूपक-जैसे अलंकारों में 'उपचार' का भाव रहता है; सामान्यत: रूपकाश्रित उक्ति 'उपचार' पर ही निर्भर है। इसका स्थान लक्षणा के व्याप्त क्षेत्र में है और ध्वनि के आचार्यों ने इसे लक्षणामूलध्वनि के अंतर्गत स्वीकार किया है।[2] अतएव कुंतक उन आचार्यों की श्रेणी में हैं, जो ध्वनि-

---

1. देखिए हरदत्त शर्मा कृत, कुंतक के गुण-विचार, पटना, 1933 पृ० 581-91.
2. रुय्यक ने इसीलिए कहा है कि वक्रोक्तिजीवितकार ने ध्वनि के सभी रूपों को 'उपचार-वक्रता' इत्यादि के अंतर्गत समाहित माना है (पृ० 8 तथा इस पर जयरथ की टिप्पणी)।

कार के कथनानुसार ध्वनि के भाव को अस्वीकार तो नहीं करते, किंतु उसे 'भाक्त' (भाक्तमाहुस्तमन्ये) अर्थात् लक्षणामूलक मानते है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यात्मक रस-ध्वनि के विषय में यह स्पष्ट है कि कुंतक ने रस के स्थान पर वक्रोक्ति के अंगीत्व को स्वीकार करते हुए रस को वक्रोक्ति के ही कुछ रूपों में अंगीकार किया है। अपने ग्रंथ के तृतीय अध्याय में 'वाक्य-वक्रता' का विवेचन करते हुए उन्होंने उपर्युक्त रसों द्वारा निष्पाद्य काव्य की चारुता-वृद्धि की चर्चा की है। इस प्रसंग में उन्होंने रसवत्, प्रेयस् इत्यादि अलंकारों की किंचिद् विस्तार से मीमांसा की है। प्राचीन आचार्यों ने इन अलंकारों में रस के भाव को स्वीकार किया था, किंतु अपने सिद्धांत में अलंकार के महत्त्व के सार्थक होने के कारण उन्होंने रस को स्वतंत्र रूप में मान्यता नहीं दी थी। रसवत् जैसे अलंकारों के माध्यम से उन्होंने परोक्ष रूप में अपने अलंकार-सिद्धांत में रस का समावेश किया था। जब रस के सिद्धांत को इन मतों में यथोचित स्थान प्राप्त हो गया, तब इस बात को स्पष्ट करने की आवश्यकता हुई कि रस, जो कि अंगी तथा स्वयं अलंकार्य अथवा उपकार्य है, रसवत्-जैसे अलंकारों में अलंकार अथवा उपकारक कैसे हो सकता है। ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन ने तदनुसार अपने 'गुणीभूतव्यंग्य' के अंतर्गत, जिसमें ध्वनि (इस प्रसंग में रसध्वनि) वाच्यार्थ से गौण होती है, रसवत् इत्यादि को समाहित करने का प्रयत्न किया। असंलक्ष्य-क्रमध्वनि तथा रसवत् इत्यादि अलंकारों के परस्पर भेद के आधार पर इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया कि जब निबंध में रस प्रधान हो तथा निबंध की आत्मा के रूप में विद्यमान रहे, तब रस मुख्य रूप से ध्वनित अंग तथा अलंकार्य होता है, किंतु जब रस वाच्यार्थ से गौण होता है, तब 'अलकार' मात्र होता है (ध्वन्यालोक, ii. 4 इत्यादि)। 'प्रदीप' में इसी बात को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार कहा गया है—'यत्र प्रधानं रसादिस्तत्र ध्वनिः यत्र त्वप्रधानं तत्रालंकार इति भावः।' इस दृष्टिकोण को उचित समझते हुए मम्मट ने रसवत् इत्यादि को अलंकार न मानते हुए 'गुणीभूत-व्यंग्य' काव्य का ही एक भेद कहा है।[1]

1. तथापि परवर्ती आचार्यों तथा टीकाकारों ने, जो प्राचीन आचार्यों के प्रामाणिक मत से विचलित न होना चाहते थे, सूक्ष्म व्याख्या द्वारा रसवत् की समस्या का अनेक प्रकार से समाधान करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने में उन्होंने शाब्दिकता की रक्षा तो की है, किंतु उसके अर्थ में परिवर्तन कर दिया है। विश्वनाथ ने इसमें अधिकांश मतों की चर्चा की है।

कुंतक ने 'वस्तुवक्रता' के प्रसंग में रसवत् का विवेचन किया है। वस्तुवक्रता सहज तथा आहार्य दोनों प्रकार की होती है। रस का विकास प्रत्यक्ष रूप में आहार्य वस्तुवक्रता है, जिसे 'कविशक्तिव्युत्पत्तिपरिपाकप्रौढ' कहा गया है। उन्होंने भामह, दंडी तथा अन्य आचार्यों द्वारा किए गए 'रसवत्' के स्वरूपनिरूपण की आलोचना की है। उनका यह मत है कि रसवत् न तो 'दर्शित स्पष्ट-श्रृंगारादि-रस' है, न 'रसपेशलं' है, अपितु 'रसेन तुल्यं वर्तमानं' है, अतएव यह अलंकार नहीं, अपितु 'अलंकार्य' है। दूसरे शब्दों में, इन अवस्थाओं में रस का परिपाक रस के हेतु ही होता है, वाच्य शब्द तथा अर्थ के उपकार के प्रयोजन से नहीं। सिद्धांत पक्ष में यह मत अकाट्य नहीं है, तथापि यह इस बात को सूचित करता है कि अन्य परंपराओं के अनुयायी भी प्रथमत: ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित रस के महत्त्व से प्रभावित हुए थे। पूर्ववर्ती सिद्धांत में रस का स्थान गौण है, यह मानते हुए ध्वनिकार ने रस को काव्य के द्वितीय वर्ग में स्थान देकर इस समस्या का समाधान

एक मत के अनुसार रसवत् इत्यादि को रसोपकारक होने के कारण 'अलंकार' नाम देना, अलंकार शब्द का केवल भाक्त प्रयोग है, क्योंकि वास्तव में वे 'अलंकार' नहीं, किंतु प्राचीन आचार्यों के आदरार्थ उन्हें अलंकार मान लेना चाहिए (रसाद्युपकारमात्रेणेहालंकृति-व्यपदेशो भाक्तश्चिरंतनप्रसिद्ध्यंगीकार्य एव)। इन आचार्यों ने रसवत् तथा वास्तविक अलंकारों (यथा उपमा) के परस्पर भेद को स्वीकार किया है। एक अवस्था में रस एक अन्य रस का प्रत्यक्ष उपकारक होता है, दूसरी अवस्था में शब्द तथा अर्थ द्वारा रस का परोक्ष रूप में उपकार होता है। किंतु उन्होंने साथ-ही-साथ यह भी कहा है कि इन दोनों रूपों में एक समान लक्षण यह है कि स्वयं रस के गौण होने के कारण वे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में रस का उपकार करते हैं। इस साम्य के कारण, अलंकार नाम, जिसका उपमा इत्यादि के प्रसंग में प्रयोग उचित है, अर्थभक्ति के कारण रसवत् के लिए भी प्रयुक्त किया गया है; यह प्रयोग प्राचीन तथा प्रामाणिक है, जिसे स्वीकार करना ही चाहिए। किंतु अन्य आचार्यों ने इस व्याख्या को अतिसूक्ष्म कहकर अस्वीकार किया है। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष उपकार पर आश्रित उपमा इत्यादि अलंकारों तथा रसवत् में परस्पर भेद है, किंतु यह भेद आनुषंगिक तथा नगण्य है। यथार्थ रूप में, सूक्ष्म भेद-निरूपण करने की बजाय दोनों को ही अलंकार कहना चाहिए। एक तीसरा दृष्टिकोण भी है। इसमें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष उपकार के भेद को सर्वथा अस्वीकार किया गया है। इसके अनुसार, शब्द तथा अर्थ के माध्यम से रस के उपकारक होने का सामान्य लक्षण उपमा-जैसे अलंकारों की तरह रसवत् पर भी लागू होता है।

करने का प्रयत्न किया है, किंतु कुंतक ने इस विषय में अपने पूर्ववर्ती आचार्य भामह के मत को भी अस्वीकार करते हुए कहा कि यह ऐसा विषय है, जिसमें कवि को इस प्रकार की वक्रोक्ति को जन्म देने का अवसर प्राप्त हो जाता है, जिसमें रस मुख्य शोभावर्धक रूप से विच्छित्तिकारक होता है। किंतु उनके मतानुसार, रस का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रबंधवक्रता, अर्थात् संपूर्ण प्रबंध में वक्रता, में होता है। ऐसी वक्रता मुख्यतः रम्य रस से ही उत्पन्न होती है (रसांतरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्)। किंतु ऐसा निरंतर रसोद्धार-गर्भित सौंदर्यनिर्वाह के कारण ही होता है, जिससे कवि की वाणी जीवित रहती है, कथामात्र से नहीं होत—

(निरंतर-रसोद्धारगर्भसौंदर्यनिर्वराः ।
गिरः कवीनां जीवंति न कथामात्रमाश्रिताः ।।)

कुंतक ने ध्वन्यालोक के इस कथन तक को स्वीकार किया है कि महाभारत में प्रधान अथवा अंगी रस, शांत रस ही है और वही इसकी मुख्य शोभा है, यद्यपि उनके मत में अंत में कविप्रतिभा ही काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

(४)

महिमभट्ट

महिमभट्ट ने अपने ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक', जिसके नाम से ही सूचित होता है कि इसमें 'ध्वन्यालोक' के रचयिताओं द्वारा प्रतिष्ठापित 'व्यक्ति' अथवा 'व्यंजना' के सिद्धांह का विवेचन है, के आरंभ में ही यह कहा है कि अनुमान प्रक्रम के अंतर्गत ध्वनि के सभी रूपों को प्रकाशित करना ही मेरा उद्देश्य है (अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्)। एतदर्थ उन्होंने ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के ग्रंथ तथा सिद्धांत का सविस्तर विवेचन किया है। ध्वन्यालोक i. 13 में दिए गए ध्वनि के स्वरूप की सूक्ष्म रीति से आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है कि यथार्थ में यह स्वरूप 'अनुमान' का होता है। उन्होंने (विशेषतः तृतीय अध्याय में) 'ध्वन्यालोक' में दिए गए अधिकांश उदाहरणों की चर्चा करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि ये वास्तव में अनुमान के ही उदाहरण हैं। वास्तव में उन्होंने सर्वत्र खंडनात्मक आलोचना द्वारा ध्वनि के आचार्य द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के स्वरूप को अपने 'काव्यानुमिति' के स्वरूप के समान सिद्ध करने का यत्न किया है। उनके मतानुसार काव्यानुमिति वह

प्रक्रम है, जिसके द्वारा वाच्य से अर्थांतर का प्रकाश होता है अथवा संबंधित होने के कारण जहां अर्थ वाच्य से अनुमित होता है ("वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थांतरं प्रकाशयति। संबंधतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता।") पृ० 22.

अपने पक्ष में इसी बात को प्रधानता देने के कारण उन्होंने शब्द के केवल दो अर्थों को स्वीकार किया है—'वाच्य' तथा 'अनुमेय' में लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ दोनों समाहित हैं। इन दोनों के पृथक् भाव को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। उनका कथन है (पृ० 7) कि अर्थ के दो भेद हैं, वाच्य तथा अनुमेय। वाच्य शब्दाश्रित होता है और वही शब्द का मुख्य अर्थ होता है......वाच्य से हेतु के रूप में जिस अर्थ का अनुमान किया जाता है, वह अनुमेय अर्थ होता है। अनुमेय के तीन भेद हैं, वस्तु, अलंकार तथा रस। वस्तु तथा अलंकार पर आश्रित अर्थ वाच्यार्थ भी हो सकता है, किंतु रसाश्रित अर्थ सदैव अनुमेय रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष रूप में महिमभट्ट ने वस्तु, अलंकार तथा रस के रूप में मान्यता-प्राप्त व्यंग्यार्थ को स्वीकार किया है, किंतु उनका कथन है कि इनका प्रकाश अथवा बोध व्यक्ति अथवा ध्वनि से नहीं होता, अपितु 'अनुमान' से होता है,[1] क्योंकि वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का परस्पर सबंध लिंग तथा लिंगी का होता है (पृ० 12)।

महिमभट्ट ने ध्वन्यालोक से उद्धृत अनेक उदाहरणों की मीमांसा करते हुए कहा है कि वास्तव में वाच्यार्थ से अवाच्यार्थ की व्यंजना नहीं होती, यद्यपि दोनों में अनुमान संभव है तथा होता भी है। जैसा कि स्वयं आनंदवर्धन ने अंगीकार किया है (पृ० 122) व्यक्ति विवक्षाश्रित होती है। जिस प्रकार अंध कक्ष में घट की अभिव्यक्ति करवानेवाले दीपक तथा घट की युगपद् अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विवक्षित वस्तु तथा अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति युगपद् होती है। ध्वनि के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के तीन अंगों अर्थात् वस्तु, अलंकार तथा रस की अभिव्यक्ति इस प्रकार से नहीं होती, क्योंकि उनका बोध उनको ध्वनित करनेवाले वाच्य के साथ-ही-साथ नहीं होता, अपितु तत्पश्चात् होता है। उदाहरणार्थ, विभावों तथा ध्वनित

1. 'ध्वन्यालोक' से उनके मतभेद का विषय केवल यही है। उनके कथनानुसार इसके अतिरिक्त उनका प्रायः कोई मतभेद नहीं है (प्राणभूताध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता। यत्त्वन्यत्तत्र विमतिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम् ॥

रस का मध्यांतर वास्तव में अत्यल्प होता है, इसीलिए ध्वनि के आचार्यों ने उसे असंलक्ष्य-क्रम कहा। इस अभिधान से ही सिद्ध होता है कि क्रम के भाव से इन्कार नहीं किया जा सकता, अतएव वाच्य तथा अवाच्य में पूर्वापरता रहती ही है। अतएव उनमें परस्पर आधारवाक्य तथा उसके निष्कर्ष का संबंध है (पृ० 11 इत्यादि)। लक्ष्यार्थ के उदाहरण, यथा 'गौर्वाहीकः' में पहले यही बोध होता है कि 'गौ' तथा 'वाहीक' दोनों में तादात्म्य नहीं है और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे समानधर्मी हैं। लक्ष्यार्थ का बोध यहां अनुमान से होता है (पृ० 24)। अतएव, अर्थ, अनुमान का आधार मात्र है, व्यंजक नहीं है। अनुमान का क्षेत्र बहुत व्याप्त है, ध्वनि तो इसी में समाहित है (तस्य, अर्थात् अनुमानस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात्, पृ० 12)। शब्द को किसी अन्य वस्तु का व्यंजक नहीं माना जा सकता, उससे केवल उसके वाच्यार्थ का ही बोध होता है। क्योंकि अपने वाच्य अथवा मुख्यार्थ को व्यक्त करने के पश्चात् शब्द का कार्य समाप्त हो जाता है, अतएव लक्ष्यार्थ का अनुमान ही किया जा सकता है, किंतु अनुमान वाच्यार्थ से नहीं होता, अपितु लक्ष्यार्थ से ही हो सकता है। तब शब्द किसी गंभीर अर्थ की व्यंजना कैसे कर सकता है! किंतु ऐसे शब्द, अपने वाच्यार्थ के माध्यम से 'अनुमापक' हो सकते हैं (पृ०27 इत्यादि)।

काव्य में अवाच्य के बोध का अनुमान-क्रम संभवतः सामान्य अनुमान-क्रम ही है, जो व्याप्ति, लिंग तथा लिंगी पर आश्रित होता है। ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ लिंगी है तथा इसके व्यंजक, अर्थात् शब्द तथा अर्थ, प्रत्यक्षतः इसके लिंग हैं। 'व्याप्ति' का विनिश्चय तीन प्रकार से किया जाता है, अनुपलब्धि से, तादात्म्य से तथा तदुत्पत्ति से। महिमभट्ट के पक्ष के प्रत्युत्तर रूप में यह सिद्ध किया गया है कि अनुमान को सिद्ध करनेवाला इनमें से कोई भी साधन 'लिंग शब्दार्थों' तथा 'लिंगी ध्वनि' के मध्य व्याप्ति का प्रतिष्ठापन नहीं कर सकता। शब्द तथा अर्थ की अनुपलब्धि से ध्वनि के भाव की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि अनुपलब्धि से केवल किसी वस्तु के अभाव को लक्षित करनेवाले लिंगी की ही सिद्धि होती है। घट का अभाव उसकी अनुपलब्धि से सिद्ध होता है। किंतु यहाँ लिंगध्वनि किसी वस्तु के अभाव को परिलक्षित नहीं करती। अतएव हेतु में दोष है और शब्द तथा अर्थ की अनुपलब्धि से उनका अभाव ही सिद्ध होता है, ध्वनि का नहीं। इसके अतिरिक्त, ध्वनि तथा शब्द और अर्थ में कोई तादात्म्य नहीं हो सकता; क्योंकि व्यंजित अर्थ वाच्यार्थ से निश्चित

रूप में भिन्न होता है और वाच्य के गौण रहने पर ही उसका भलीभाँति बोध होता है। इसी प्रकार, यहाँ तदुत्पत्ति को भी स्थान नहीं है, क्योंकि शब्द तथा अर्थ की उत्पत्ति ध्वनि से होती है, ऐसा नहीं माना जा सकता। यह इसी प्रकार है, जैसे अग्नि के भाव को सिद्ध करनेवाला धूम, स्वयं अग्नि से उत्पन्न नहीं कहा जा सकता।

विश्वनाथ ने अपने आक्षेप एक अन्य ही रूप में प्रस्तुत किए हैं। लिंग के माध्यम से लिंगी का ज्ञान ही अनुमान है, यह पक्ष-सत्व, सपक्ष-सत्व तथा विपक्ष व्यावर्तत्व सापेक्ष होता है। उदाहरण के लिए, पक्ष-सत्व, यथा, सधूम, पर्वत पर तथा सपक्ष सत्व (यथा, रसोईघर में जहाँ अग्नि के भाव में कोई सदेह नहीं होता) धूम को देखकर, धूम लिंग द्वारा, लिंगी अग्नि का अनुमान कर लेते हैं, जिसका विपक्ष सत्व में भाव नहीं होता (यथा ऐसे स्थान, जहाँ अग्नि का अभाव निश्चित है)। किंतु इस अनुमान प्रणाली से वास्तव में वाच्य से ध्वनि अथवा अवाच्य की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि विश्वनाथ के कथनानुसार, कल्पनात्मक कृति का अनुमान से कोई संबंध नहीं है। उदाहरणार्थ यह श्लोक प्रस्तुत है—

> दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद् गृहे दास्यसि,
> प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।
> एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलम्,
> नीरंध्रास्तनुमालिखंतु जरठच्छेदा नलग्रंथयः॥

'ऐ पड़ोसी, आप एक क्षण हमारे घर पर दृष्टिपात करेंगे? इस शिशु का पिता प्रायः नीरस कूप का जल नहीं पीता। एकाकी होने पर भी मैं सत्वर ही यहाँ से तमालाकुल नदी-तट पर जा रही हूँ। सघन नलों की कठोर गांठें मेरे शरीर को खुजाएँ।' यहाँ स्त्री के शरीर का नल-गांठों द्वारा खुजाया जाना तथा उसका नीरव नदी-तट पर एकाकी चले जाना, प्रिय समागम का लिंग माना जा सकता है, जो यहाँ ध्वनिति (लिंगी) होता है। किंतु ये तथाकथित कारणों से अनित्य हैं, अर्थात् परिवर्तनशील हैं, यद्यपि ये अवाच्यार्थ की व्यंजना में सहायक होते हैं, क्योंकि एक स्त्री का अकेले नदी-तट पर जाना अथवा नल-गांठों द्वारा खुजाया जाना, तर्क के दृष्टिकोण से प्रिय समागम का नित्य द्योतक नहीं है।

यह द्रष्टव्य है कि महिमभट्ट ने ध्वनि-सिद्धांत के ऐसे आलोचकों के तर्कों का भी उपयोग किया है (पृ. २०), जिनके कथनानुसार ध्वनि की भक्ति से

तादात्म्य है;[1] किंतु उन्होंने वाच्यार्थ की एकमात्र व्यापक शक्ति[2] का प्रतिपादन करनेवाले मीमांसकों तथा वक्रोक्तिजीवितकार के मतों का समान रूप में विरोध किया है। वक्रोक्तिजीवितकार के सिद्धांत के प्रति उनका विरोध, उनके अपने मत में प्रतिपादित रस के महत्त्व तथा ध्वनि की उपेक्षा पर अवलंबित होना सहज बात है। उनके मतानुसार, व्यंजना की चारुता के संदर्भ में लोकोत्तर प्रयोग के, जैसा कि कुंतक का कथन है, दो रूप हो सकते हैं, (1) औचित्य सिद्धांत के अनुसार,[3] अथवा (2) वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ की व्यक्ति। यदि अभिप्राय पहले रूप से हो तो काव्य में रस के समर्थक के लिए बेकार है, क्योंकि कारकों की संघटना के औचित्य-सिद्धांत के बिना किसी रस-सिद्धांत का काम नहीं चल सकता, अर्थात् औचित्य-सिद्धांत तो प्रत्येक रस-सिद्धांत के लिए अत्यंत आवश्यक है। यदि दूसरे रूप को स्थान दिया जाए तो प्रच्छन्न अथवा परोक्ष रूप में ध्वनि को स्वीकार करना पड़ेगा।

निस्संदेह, महिमभट्ट का ग्रंथ तार्किक दृष्टिकोण से उच्चकोटि का ग्रंथ है। इसमें आलोचना की सूक्ष्मता तथा विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के पांडित्य के सर्वत्र दर्शन होते हैं, किंतु इस ग्रंथ का उद्देश्य शास्त्रार्थात्मक अथवा विवादात्मक है। इसमें किसी नवीन सिद्धांत को प्रतिपादित करने का कोई प्रयत्न नहीं है। महिमभट्ट में शास्त्रार्थवादी के सभी गुण थे। मुझे विरोध करना ही है, यह निश्चय करके उन्होंने अपने ग्रंथ की रचना की। यही विरोध-बुद्धि उनकी शक्ति तथा उनकी दुर्बलता का युगपद् कारण बन गई। अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् होने पर भी वे सामयिक एवं नगण्य

---

1. ऊपर देखिए अध्याय 5, पृ० 139 इत्यादि।

2. ऊपर देखिए अध्याय 5, पृ० 152 पा० टि० 2.

3. महिमभट्ट ने अपने ग्रंथ के द्वितीय विमर्श में औचित्य विचार पर विमर्श किया है (ध्वन्यालोक में भी इसका विवेचन किया जा चुका है)। उन्होंने काव्य में शब्द तथा अर्थ पर आश्रित अनौचित्य के दो भेद किए हैं: 'शब्द-विषयक' तथा 'अर्थविषयक'। रस की व्यंजना में त्रिभाव इत्यादि का अनुचित प्रयोग शब्दविषयक है, जिसे 'अंतरंग अनौचित्य' कहा गया है। 'ध्वन्यालोक' में इसकी चर्चा की जा चुकी है। अर्थविषयक अनौचित्य को 'बहिरंग अनौचित्य' कहा गया है। मुख्यतः इसका संबंध पांच दोषों, अर्थात् विधेयाविमर्श (पृ० 37-58), प्रक्रम-भेद (पृ० 58-66), क्रमभेद (पृ० 66-69), पौनरुक्त्य (पृ० 69-84) तथा वाच्यावचन (पृ० 84-109) से है। अगले अध्याय में औचित्य-समस्या पर विचार किया जाएगा।

समस्याओं से ऊपर न उठ सके। उनके विशिष्ट प्रतिपादन का मूल्य कुछ भी हो, उन्होंने काव्यविद्या की व्यापक, किंतु सीमित समस्याओं पर कोई मौलिक विवेचन नहीं किया। संभवतः इसी कारण, तर्कपूर्ण तथा पांडित्यपूर्ण होते हुए भी उनके ग्रंथ में लोगों की रुचि अधिक समय तक नहीं रही। परवर्ती काल में उनका ग्रंथ विस्मृत हो गया तथा निंदार्थ ही उसका नाम लिया जाने लगा। कुंतक के 'वक्रोक्तिजीवित' की भी ऐसी ही दुर्दशा हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि इसे ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के प्रबलतर सिद्धांत से टक्कर लेनी पड़ी थी। परवर्ती श्रेष्ठ आचार्य, ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन के सिद्धांत से ही आकर्षित हुए, अतएव महिमभट्ट के सिद्धांत का पराभव अवश्यंभावी था। परवर्ती आचार्यों ने महिमभट्ट के 'अनुमान' सिद्धांत को, कुंतक के 'वक्रोक्ति' सिद्धांत की तरह, कभी उदारता से नहीं देखा। मम्मट के समय से लेकर लगभग सभी आचार्यों ने एकमत से 'ध्वन्यालोक' में प्रतिपादित सिद्धांत को ही अंगीकार किया। महिमभट्ट तथा कुंतक ने व्यंजना के नवीन सिद्धांत के मान्यता-प्राप्त अनुमान के आधार पर व्याख्या करने अथवा प्रतिष्ठा-प्राप्त सौंदर्य-सिद्धांत के नवीन मत के विरुद्ध भामह के प्राचीन पक्ष का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया; किंतु वे एक हारी हुई लड़ाई लड़ रहे थे।

(३)

भोज तथा अग्नि-पुराण

अग्नि-पुराण के अलंकार-खंड में प्रतिपादित मत में प्रत्यक्ष रूप से कई अंशों में प्राचीन सिद्धांत से भिन्न एक परंपरा का अनुसरण किया गया है। भोज ने अपने 'सरस्वती-कंठाभरण' में अपने ही ढंग से उक्त मत का निकास किया है।[1]

इस असिद्धप्रमाण पराण की कोई निश्चित तिथि नहीं है। इसमें असंख्य विषयों की चर्चा की गई है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, निस्संदेह इस ग्रंथ

1. इस अध्याय का अधिकांश पहले-पहल एक लेख के रूप में जर्नल ऑफ़ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, 1923 पृ० 537-49 में छपा था। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण के विषय में खंड 1 पृ० 89 इत्यादि तथा अग्निपुराण के विषय में खंड 1 पृ० 91 इत्यादि देखिए; वहाँ इनका विषय-विवरण दिया गया है।

का अलंकार खंड, मुख्यत: संकलन मात्र है। इसके लेखक ने, जो स्वयं एक आचार्य नहीं थे, सभी सूत्रों से सामग्री का उद्धरण किया तथा मुख्य रूप में किसी भी विशिष्ट मत का अनुसरण न करते हुए उसे एक कामचलाऊ ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। यह बात इस ग्रंथ की मौलिकता, विवेचन की शिथिलता तथा विभिन्न प्राचीन ग्रंथों से उद्धृत श्लोकों से भी पुष्ट होती है।

यदि अग्निपुराण के अलंकार खंड तथा सरस्वतीकंठाभरण का एक साथ अवलोकन किया जाए तो इन दोनों में कुछ समानताएँ परिलक्षित होती हैं। अग्निपुराण की सबसे महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि इसमें ध्वनि-सिद्धांत का अभाव है, यद्यपि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार, 'आक्षेप' अलंकार के अंतर्गत आनुषंगिक रूप में ध्वनि को समाहित कर लिया गया है। (स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यंज्यते यतः, 344. 14)। प्रथम श्लोक (336. 1, भोज i.1) में भी ध्वनि शब्द का प्रयोग है। इसमें कहा गया है कि वाङ्मय ध्वनि, वर्ण, पद तथा वाक्य-मय होता है (ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद् वाङ्मयं मतं); किंतु प्रत्यक्ष रूप में यह 'स्फोट' के व्यंजक व्याकरणात्मक शब्द का द्योतक है, जिसे 'वाक्यपदीय' में भी इसी शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। तथापि इस ग्रंथ में अभिधा तथा लक्षणा को मान्यता दी गई है। दर्शनाचार्य तथा व्याकरणाचार्य इस विषय पर अपने मत को पहले ही व्यक्त कर चुके थे। यद्यपि यह स्पष्ट है कि इस ग्रंथ में भरत, भामह तथा दंडी के ग्रंथों के कुछ अंशों का उद्धरण अथवा समावेश है, तथापि मुख्य रूप से इसमें इनमें से किसी भी आचार्य के मत का अनुसरण नहीं किया गया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अग्निपुराण के एक श्लोक में जिसे विश्वनाथ ने अपने एकांतिक मत के पोषणार्थ उद्धृत किया है, वाग्वैदग्ध्य मात्र की तुलना में रस को काव्य की आत्मा कहा है (वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितं, 336.33)। इसके एक लंबे-चौड़े अध्याय में भरत के अनुसार 'रस' तथा 'भाव' का वर्णन तो है, किंतु इसमें न तो मुख्य रूप से किसी रस-सिद्धांत का विवेचन है, और न ही रसाश्रित किसी काव्य-सिद्धांत की मीमांसा है। रस की उत्पत्ति के विषय में एक विचित्र मत का प्रतिपादन है, जिसके अनुसार आनंद से अहंकार, अहंकार से अभिमान तथा अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है। शृंगार, हास्य तथा अन्य रस रति के अन्य रूप हैं (338. 2-4)। भरत का अनुसरण करते हुए इसमें चार मुख्य रस स्वीकार किए गए हैं; अन्य पाँच का

उद्भव इन्हीं से होता है। यद्यपि अग्निपुराण में काव्य तथा रूपकाश्रित रस का महत्त्व है, तथापि इसे रस-सिद्धांत का समर्थक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें काव्य के इस मुख्य सिद्धांत के साथ अन्य काव्यांगों, यथा रीति, गुण तथा अलंकार के परस्पर संबंध का निरूपण नहीं किया गया है। इस प्रसंग में यह द्रष्टव्य है कि यद्यपि अग्नि-पुराण में प्राचीन आठ रसों तथा शांत को मिलाकर नौ रसों को मान्यता दी गई है, तथापि प्रधान स्थान शृंगार को ही दिया गया है। यह अग्निपुराण का एक अद्वितीय लक्षण है। भोज ने इस रस का पूर्ण रूप से विकास किया है। जैसा कि आगे बताया जाएगा, उन्होंने अपने ग्रंथ 'शृंगार-प्रकाश' में शृंगार के अतिरिक्त किसी अन्य रस को अंगीकार ही नहीं किया है तथा अपने 'सरस्वतीकंठाभरण' में उन्होंने प्राय. इसी महत्त्वपूर्ण रस का विवेचन किया है।

इसके विपरीत, यद्यपि अग्निपुराण में रीति (अध्याय .339) तथा गुण (अध्याय 345) की चर्चा है, किंतु डी तथा वामन द्वारा प्रतिपादित रीति-मत का पालन नहीं किया गया है। दंडी ने रीति के, जिसे उन्होंने मार्ग कहा है, दो एकांतिक भेद बताए हैं, वैदर्भी तथा गौडी। वामन ने इनमें एक मध्यवर्ती भेद, पांचाली की वृद्धि की है; किंतु इन दोनों आचार्यों के मतानुसार, यह भेद-निरूपण शैली अथवा रीति के गुणों के भाव अथवा अभाव पर आश्रित है। रुद्रट ने इस संख्या में लाटी को और जोड़ दिया है, किंतु रीति से उनका अभिप्राय लघु अथवा दीर्घ समास-प्रयोग पर आश्रित विशिष्ट वाक्य-संघटना से है। अग्निपुराण ने इस चतुर्धा वर्गीकरण को अंगीकार किया है, किंतु रीति-भेद को समास की लघुता अथवा दीर्घता पर आश्रित होने के अतिरिक्त सुकुमारता अथवा समता गुणों तथा उपचार के आश्रित भी माना है। दंडी (i. 42) तथा वामन (i. 2, 6-8) दोनों ने गुणों को मूलभूत लक्षण तथा रीति के लिए अनिवार्य बताते हुए उन्हें स्पष्टतया अलंकारों से भिन्न कहा है। दंडी के मतानुसार, अलंकार दोनों भागों के समान लक्षण हैं, तथा वामन के मतानुसार, अलंकार, गुणों द्वारा निष्पादित सौंदर्य की वृद्धि में केवल आनुषंगिक रूप से सहायक होते हैं। अग्निपुराण में दिए गए निरूपण के अनुसार गुणों का रीति से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। इनसे काव्य को महती शोभा प्राप्त होती है (यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः, 345.3)। गुणों का यह स्वरूप-निरूपण अलंकारों से अधिक भिन्न नहीं है। उनका स्वरूप भी लगभग गुणों के समान ही बताया गया है—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते'

(341.17) ।[1] यह सीधा, बिना समझे-बूझे दंडी 11·1 से उद्धृत किया गया है । इस ग्रंथ में गुण-भेद निरूपण निराला ही है । सामान्यत:, गुणों के दो भेद हैं—शब्द-गुण और अर्थ-गुण । वामन ने इसी भेद-निरूपण को मान्यता दी हैं । अग्निपुराण में बड़ी बारीकी से काम लिया गया है (345.3 इत्यादि) । गुणों के दो प्रकार बताए गए हैं, वैशेषिक तथा सामान्य । वैशेषिक गुण निबंध के किसी विशिष्ट अंश अथवा खंड तक ही सीमित रहते हैं, सामान्य गुण निबंध के अनेक खंडों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं । सामान्य गुण के तीन उपभेद हैं—शब्दाश्रित, अर्थाश्रित तथा शब्दार्थाश्रित । जहाँ तक हमें ज्ञात है, अग्नि-पुराण (तथा भोज) ने पहली बार इस त्रिविध वर्गीकरण को स्वीकर किया है । इसके पश्चात्, गुणों का उल्लेख एक सर्वथा भिन्न प्रकार से किया गया है । वामन ने सब मिलाकर दस गुणों का उल्लेख किया है । प्रत्येक गुण शब्द-गुण भी हैं और अर्थगुण भी । अग्निपुराण के अनुसार, शब्दगुण सात हैं—श्लेष, लालित्य, गांभीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सत्या तथा यौगिकी । अर्थगुण छह हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलत्व, उदारता, प्रौढ़ी तथा सामयिकता । शब्दार्थ गुण छह हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्तता, पाक तथा राग । इनमें से कुछ गुणों का स्वरूप स्पष्ट नहीं है ।[2] संविधान तथा यथासंख्य जैसे गुणों के कुछ लक्षण, अन्य आचार्यों के अनुसार, अलंकारों के समान हैं । यद्यपि दंडी के ओज गुण का प्रत्यक्ष रूप में उल्लेख नहीं है, तथापि शब्द-गुण के निरूपण के अंतर्गत उसका कथन किया गया है (345.10 दंडी 1 80) ।

इसी प्रकार, यह सिद्ध करना सरल है कि यह ग्रंथ भामह तथा उद्भट द्वारा प्रतिपादित अलंकार-मत से अधिक प्रभावित नहीं है । निस्संदेह, थोड़े से परिवर्त्तन के साथ, सामान्यत: दंडी के निरूपण का पालन करते हुए, शब्दा-लंकारों का विवेचन किया गया है,[3] किंतु अर्थालंकारों के विषय में प्राचीन भेद-

---

1. भोज ने इस श्लोक का भी उल्लेख किया है (अध्याय 5 पृ० 355); किंतु उन्होंने यह कहा है कि—'तत्र काव्यशोभाकरानित्यनेन श्लेषोपमादिवद् गुणरसभावतदाभासप्रशमनादीनप्युपगृह्णाति ।' यह स्पष्ट रूप में दंडी के मत पर टिप्पणी है ।
2. इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, x(1934) पृ० 776-79 में राघवन का 'अग्निपुराण में रीति तथा गुण' शीर्षक लेख देखिए । आनंदाश्रम सं० का मुद्रित पाठ अशुद्ध है । राघवन ने शुद्धियों तथा व्याख्याओं का सुझाव दिया है ।
3. यह शब्दालंकार के नौ भेदों—छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुंफन, वाकोवाक्य, अनुप्रास (यमक सहित), चित्र और दुष्कर (प्रहेलिका सहित) का समर्थन करता है ।

निरूपण अथवा स्वरूप-निरूपण का यथार्थ रूप में पालन नहीं किया गया है। अग्निपुराण में अर्थालंकार के आठ भेद बताए गए हैं: स्वरूप (अथवा स्वभाव), सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु तथा सम (343. 2-3)। उपमा, रूपक, सहोक्ति तथा अर्थांतरन्यास अलंकारों को पृथक् रूप में 'सादृश्य' के अंतर्गत लिया गया है तथा उपमा के अट्ठारह भेदों का भी उल्लेख है। इनमें दंडी की उपमा के अधिकांश उपभेद शामिल हैं (343.9 इत्यादि)। अग्निपुराण एक ऐसा प्राचीनतम ज्ञात ग्रंथ है, जिसमें उभयालंकारों पर एक पृथक् अध्याय दिया गया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने उभयालंकारों को अंगीकार नहीं किया है। इसमें उभयालंकारों के छह भेदों का उल्लेख है, अर्थात् प्रशस्ति, कांति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता तथा अभिव्यक्ति (344.2)। अन्य आचार्यों ने इन्हीं में से कुछ का विवेचन गुणों के अंतर्गत किया है।[1] रीति तथा अलंकार-मत में की गई सूक्ष्म मीमांसा की तुलना में अग्निपुराण में गुणों तथा अलंकारों के परस्पर भेद को स्पष्ट नहीं किया गया है; उनका वर्गीकरण तथा स्वरूप-निरूपण भद्दा तथा अव्यवस्थित प्रतीत होता है।

इस संक्षिप्त रूपरेखा से यह पर्याप्त रूप में स्पष्ट हो जाता है कि अग्नि-पुराण में साधारणतया काव्यविद्या के किसी भी प्राचीन मत का, जहाँ तक हमें उनका ज्ञान है, अनुपालन नहीं किया गया है, यद्यपि अपनी विश्वकोशीय प्रवृत्ति के अनुसार, किसी मुख्य सिद्धांत से अनुबद्ध करने का प्रयत्न किए बिना, इसमें विभिन्न मतों के विचारों, विवेचन-शैलियों तथा संपूर्ण श्लोकों को उद्धृत किया गया है। उदाहरणार्थ, इसमें दंडी द्वारा प्रतिपादित 'काव्यशरीर' के लक्षण (इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली) को उद्धृत तो किया है, किंतु उसमें 'काव्यं स्फुट-दलंकारं गुणवद् दोषवर्जितं' (337-6-7) शब्दों को जोड़ने का प्रयत्न उद्धरण मात्र ही लगता है; उनके स्वरूप की अधिक व्याख्या नहीं होती। गुणों अथवा

1. इस संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि यहाँ दंडी के समाधि-गुण का लक्षणा-प्रसंग के अंतर्गत विवेचन किया गया है और दोनों में तादात्म्य स्थापित करने का संकेत भी है। इस पुराण में भामह तथा दंडी के विस्तृत उद्धरण हैं। उदाहरणार्थ, रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति तथा पर्यायोक्त अलंकारों के लक्षण (343.22; 344.15, 16, 18, 17) लगभग भामह के समान हैं (ii.21,68; iii.29,8; ii.79)। रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति तथा समाधि (343.23, 24-25, 26-27, 27-28; 355.18.13) के लक्षण दंडी (ii.66, 221, 323, 199, 304; i.93) से लिए गए प्रतीत होते हैं।

अलंकारों के लक्षणों के विषय में भी यही बात लागू होती है। वे भी प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों से उद्धृत किए गए हैं अथवा उन्हीं के आधार पर बिना किसी समीक्षा के उनकी व्याख्या मात्र कर दी गई है। किंतु उद्धरण के अतिरिक्त इस ग्रंथ में कुछ और बातें भी हैं। उदाहरण के लिए, गुणों तथा अलंकारों का विशिष्ट विवेचन तथा व्यवस्था-क्रम, जो कि तत्संबंधी प्राचीन विवेचन से बहुत भिन्न है। इस विशिष्टता का स्पष्टीकरण तभी हो सकता है, जब हम यह स्वीकार कर लें कि एक संकलित ग्रंथ होते हुए भी इसमें संभवतः काव्यचिंतन की एक ऐसी सर्वथा भिन्न विचारधारा का अस्तित्व है, दुर्भाग्यवश जिसका कोई अन्य प्राचीन अवशेष अब सुरक्षित नहीं है।

भोज ने इस मत-परंपरा का पूर्ण रूप में विकास किया है। इसलिए उनके ग्रंथ में रस को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना तथा ध्वनि-सिद्धांत का अभाव होना कोई विस्मयजनक बात नहीं है; और न ही गुणों तथा अलंकारों का क्रम अबुद्धिगम्य है। भरत तथा दंडी का सर्वत्र उसी प्रकार सादर उल्लेख है और वास्तव में भोज ने नाम दिए बिना अनुमानतः दंडी के दो सौ से अधिक श्लोकों को उद्धृत किया है।[1] इसके अतिरिक्त भोज ने अपने विख्यात पूर्ववर्ती आचार्यों के श्लोकों तथा उदाहरणों को निश्चित रूप में उद्धृत किया है, विशेषतया भामह, वामन, रुद्रट तथा धनिक के। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं तक का समावेश कर लिया है[2], यद्यपि उसके सिद्धांत को अंगीकार नहीं किया है। उनका बृहत् संकलन ग्रंथ, प्राग्वर्ती अग्निपुराण के समान प्रायेण विश्वकोशीय तथा उद्धरणात्मक है और प्रत्यक्ष रूप से एक भिन्न परंपरा के अनुसार पूर्ववर्ती मतों (ध्वनि को छोड़कर) के सिद्धांतों को व्यवस्थित करने की एक विधि अथवा रूप को लक्षित करता है। एक सीमा तक इस प्रकार का दूसरा रूप वाग्भट नाम के दो जैन आचार्यों के ग्रंथों में मिलता है। किंतु कुछ मुख्य विषयों में उनके तथा अग्निपुराण के विवेचन में साम्य स्पष्ट है और इस विषय में प्राचीन मतों के सिद्धांत की चर्चा व्यर्थ है। शब्दशः उद्धरण अनेक हैं। 'अग्निपुराण' अध्याय 341-18 इत्यादि तथा 'सरस्वतीकंठाभरण' अध्याय 2 में बड़ा साम्य है। अग्निपुराण के कुछ श्लोक 'सरस्वतीकंठाभरण' में शब्दशः उद्धृत किए गए हैं। अग्नि 341-18-19 में कहा गया है—

1. 'अग्निपुराण' में दंडी के 160 से अधिक अंशों का उद्धरण किया गया है।
2. जिस प्रकार अग्निपुराण में इनकी छह कारिकाएं उद्धृत हैं।

ये व्युत्पत्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः ।
शब्दालंकारमाहुस्तान् काव्यमीमांसाकोविदाः ।।[1]

भोज ने शब्दालंकार के इस लक्षण को स्वीकार किया है, किंतु उन्होंने अशुद्ध अंतिम चरण में केवल यही परिवर्तन किया है—'शब्दालंकार-संज्ञास्ते ज्ञेया जात्यादयो बुधैः' (ii. 2) । ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं । इस प्रसंग में अग्नि 341-21 तथा भोज ii. 39; अग्नि 342-10 तथा भोज ii. 79; अग्नि 33811 तथा भोज v. 3 इत्यादि की परस्पर तुलना की जा सकती है । इस शाब्दिक साम्य से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता, किंतु इसके अतिरिक्त आधारभूत अथवा मुख्य विषयों के विवेचन में एक ऐसी एकरूपता तथा साहमत्य है, जो केवल आकस्मिक नहीं है । इस विषय पर संप्रति चर्चा की जाएगी। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि भोज ने प्रत्यक्ष रूप में अग्निपुराण को उद्धृत किया है अथवा अग्निपुराण ने भोज को उद्धृत किया है; यह सर्वथा संभव है कि इन दोनों का उद्धरण-स्रोत एक ही है । किंतु इसमें अधिक संदेह नहीं है कि इन्होंने कई अंशों में काश्मीरी आचार्यों से भिन्न एक ही परंपरा का अनुपालन किया है ।[2]

---

1. पाठ में 'काव्यमीमांसका विद:' के स्थान पर ।
2. अग्निपुराण के संकलनकर्ता तथा भोज के परस्पर संबंध के विषय में हमारा मत काणे तथा राघवन पर स्पष्ट नहीं हुआ है । हम 'पूना ओरिएंटलिस्ट' ii. पृ० 15-17 पर अपना मत स्पष्ट कर चुके हैं; यहाँ उसी को दुहराते हैं । भोज के सरस्वतीकंठाभरण तथा पुराण के अलंकार-खंड के तुलनात्मक अध्ययन से हमें प्रतीत होता है कि (1) ये दोनों ग्रंथ प्राय: संकलन-ग्रंथ हैं, (2) संकलन-ग्रंथ होने के कारण दोनों ही उद्धरणात्मक हैं, किंतु सामग्री-चयन बहुत बढ़िया नहीं है और न ही सूक्ष्म है, (3) दोनों ने एक ऐसी मत-परंपरा का अनुसरण किया है, जो प्राचीन काश्मीरी आचार्यों की परंपरा से पृथक् और भिन्न है; (4) निश्चित रूप में भोज का ग्रंथ अधिक व्यवस्थित है तथा उसका विवेचन अधिक सूक्ष्म है; भोज के ग्रंथ में प्राचीन परंपरा से भिन्न विषय अधिक विकसित रूप में मिलते हैं । इन कारणों से प्रतीत होता है कि भोज तथा अग्निपुराण ने प्रत्यक्ष रूप में परस्पर सामग्री का उद्धरण नहीं किया है, अपितु दोनों ने एक ही स्रोत से सामग्री का उद्धरण किया है और क्योंकि भोज का विवेचन अधिक सूक्ष्म तथा व्यवस्थित है, अतएव वे संभवत: अग्निपुराणकार के पश्चात् हुए हैं । यदि पुराण का संकलनकर्ता भोज के पश्चात् हुआ है, और उसने भोज को उद्धृत किया है तो यह विचित्र बात है कि उसने अपने सिद्धांत को अविकसित तथा अव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया, जब कि उसके स्रोत-ग्रंथ में वह सिद्धांत विकसित तथा व्यवस्थित रूप में पहले से ही विद्यमान

भोज ने अग्निपुराण द्वारा प्रतिपादित काव्य-स्वरूप में स्पष्ट रूप से रस का समावेश किया है। उनके टीकाकार रत्नेश्वर के अनुसार इससे 'काश्मीरकों' का प्रभाव स्पष्ट है—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं '' (i. 2)

काव्य के इस लक्षण के अनुरूप, जिसमें काव्य के सभी आवश्यक अंगों का उल्लेख है, भोज ने पहले अध्याय में गुण-दोष-विषय का विवेचन किया है, तथा अगले तीन अध्यायों में क्रमशः शब्द तथा अर्थाश्रित अलंकारों तथा शब्दार्था-लंकारों की चर्चा की है। अंतिम अध्याय में रस का विस्तार से विवेचन है, क्योंकि भोज के मतानुसार काव्य में रसोवित का होना आवश्यक है (v. 8)। किंतु अग्निपुराण के लेखक के समान भोज ने सौंदर्यात्मक रस तथा काव्य के अन्य अंगों के परस्पर भेद का स्पष्ट विवेचन नहीं किया। उनका रस-सिद्धांत कुछ-कुछ उत्पत्तिवादियों से मिलता-जुलता है। अभिनवगुप्त के कथनानुसार दंडी-जैसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने उत्पत्तिवादियों के उत्पत्ति-सिद्धांत को अंगीकार किया है। निस्संदेह, एक श्लोक (i. 158) में भोज ने प्रत्यक्ष रूप में यह कहा है कि गुणों के विद्यमान होने पर ही काव्य का आस्वादन किया जा सकता है, भले ही उसमें विभिन्न प्रकार के अलंकार हों (अर्थात्, अलंकारों के अतिरिक्त गुणों का होना अत्यावश्यक है), क्योंकि गुणों से विहीन काव्य उत्तम अलंकारों से युक्त होते हुए भी भद्दा लगता है, जैसे यौवन-विहीन स्त्री, सुंदर आभूषणों से युक्त होने पर भी भद्दी लगती है। किंतु यह श्लोक नाम का उल्लेख किए बिना वामन (iii. 1-2 वृत्ति) से उद्धृत किया गया है। यह संस्कृत आचार्यों के ग्रंथों में सुलभ आदरसूचक कथन के समान है। विषय की पुष्टि मात्र के लिए इसका समावेश किया गया है अथवा इससे ग्रंथ की असूक्ष्मता तथा अव्यवस्था का पता चलता है; अन्यथा रस अथवा अलंकार के विषय में इसी प्रकार की उक्तियों का समाधान नहीं किया जा सकता।

यद्यपि भोज ने आनंदवर्धन तथा अभिनवगुप्त के नवीन मत के सिद्धांतों के अनुसार रस को बहुत महत्त्व दिया है, तथापि उन्हें ध्वनि अथवा प्राचीन रस-सिद्धांत का अनुयायी नहीं कह सकते। भोज ने भरत के प्राचीन, आठ रसों

था। पुराण के संकलनकर्ता को भोज के पश्चात् सिद्ध करने से भी अधिक अंतर नहीं पड़ता; क्योंकि उपलब्ध प्रमाण, निश्चयात्मक नहीं है, इसलिए यही अच्छा होगा कि इस प्रश्न को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया जाए।

(vi. 15) के अतिरिक्त, शांत, प्रेयस्, उदात्त तथा उद्धत इत्यादि सब मिलाकर बारह रसों का उल्लेख किया है,[1] किंतु इनका विवेचन करते हुए उन्होंने अग्नि-पुराण की परंपरा के अनुसार प्रायः श्रृंगार रस को ही प्रधानता दी है। उनके अन्य ग्रंथ 'श्रृंगार प्रकाश' में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। उसमें भी उन्होंने केवल श्रृंगार रस को ही प्रधानता दी है,[1] जो ग्रंथ के यथानाम है।

अग्निपुराण में प्रतिपादित सामान्य गुणों के शब्द तथा अर्थ पर आश्रित भेद-निरूपण में थोड़ा-सा परिवर्तन करते हुए भोज ने उनके 'बाह्य', 'आभ्यंतर' तथा 'वैशेषिक' भेद किए हैं। वैशषिक गुणों से उनका अभिप्राय उनसे है, जो दोष होने पर भी विशिष्ट अवस्थाओं में गुण हो जाते हैं (i. 60 इत्यादि)। उन्होंने गुणों का इससे भी अधिक सूक्ष्म भेद-निरूपण किया है और चौबीस शब्द-गुणों तथा समनाम चौबीस अर्थ-गुणों का उल्लेख किया है। अग्नि-पुराण की तरह पृथक्-पृथक् गुणों के विषय में उनका स्वरूप-निरूपण बहुत शुद्ध अथवा सूक्ष्म नहीं है; उन्होंने कुछ गुणों के ऐसे लक्षण बताए हैं, जिनका उल्लेख अन्य आचार्यों ने अलंकारों के लक्षणों के रूप में किया है। यह द्रष्टव्य है कि अर्थ-गुण कांति की व्याख्या वामन के अनुसार 'दीप्त-रसत्वं' (i. 81) की गई है और इसमें रस समाहित है; तथा ध्वनि का समावेश शब्द-गुण गांभीर्य के अंतर्गत किया गया है (i. 73)। इसके साथ-ही-साथ एक अन्य संदर्भ में रस को मुख्य सौंदर्य-सिद्धांत कहा गया है और ध्वनि-सिद्धांत को छोड़ ही दिया गया है। भोज ने वामन द्वारा प्रतिपादित रीति के भेद-निरूपण की अवहेलना करते हुए उसका वामन से भी अधिक विवेचन किया है। अग्निपुराण में उल्लिखित चार भेदों के अतिरिक्त उन्होंने 'आवंतिका' तथा 'मागधी' नामक दो प्रकार की रीतियों का वर्णन किया है। आवंतिका, वैदर्भी तथा पांचाली की मध्यवर्ती रीति है तथा मागधी केवल एक खंड रीति, अर्थात् सदोष अथवा अपूर्ण रीति

---

1. इनमें से शांत तथा प्रेयस् पहले से ही मान्यताप्राप्त हैं। रूढ़ आठ रसों के अतिरिक्त, उक्त चार रसों का क्रमशः चार प्रकार के नायकों से संबंध है—धीरशांत, धीरललित, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत। देखिए, राघवन का 'नंबर ऑफ़ रसाज़', पृ० 121-22.

2. यह विद्याधर का कथन है। पृ० 98. कुमारस्वामी, पृ० 221 तथा 'मदार-मरंदचंपू' ix पृ० 107 के लेखक का भी यही कथन है। सरस्वतीकंठा-भरण तथा श्रृंगार प्रकाश में भोज के रस-विषयक विवेचन के विस्तृत विवरण के लिए खंड 1 पृ० 125-27 का अवलोकन कर। राघवन का 'श्रृंगार-प्रकाश' पृ० 418-542 देखिए।

है। इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि हीनत्व तथा अधिकत्व के समान कुछ उपमा-दोषों का उन्होंने उपमा अलंकार के संदर्भ में विवेचन न करते हुए हीनोपमा तथा अधिकोपमा के रूप में दोषों के प्रकरण में ही विवेचन किया है।

भोज एक ऐसे प्राचीनतम आचार्य हैं, जिन्होंने अग्निपुराण के समान, अलंकारों को तीन वर्गों में बांटा है, अर्थात् शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। भोज का विवेचन अधिक व्याप्त है।[1] विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। उदाहरण के लिए उन्होंने शब्दालंकारों की सबसे अधिक संख्या, अर्थात् चौबीस का उल्लेख तथा लक्षण-निरूपण किया है तथा इस विषय की दंडी, अग्निपुराण तथा रुद्रट से भी अधिक सूक्ष्म मीमांसा की है। विस्मय की बात यह है कि अर्थालंकार की संख्या सीमित है। संभवत: संख्या में समानता रखने के कारण उन्होंने चौबीस ही अर्थालंकारों की चर्चा की है। उभयालंकारों की भी इतनी ही संख्या है। सबसे विचित्र अध्याय वह है, जिसमें उन्होंने उभयालंकारों का वर्णन किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक, अतिशय तथा अन्य प्रसिद्ध अर्थालंकारों का विवेचन इसी में किया गया है। कुछ समय पश्चात् मम्मट ने अलंकारों का यह त्रिधा वर्गीकरण स्वीकार किया है, किंतु सभी आचार्यों ने इसे मान्यता नहीं दी है। भोज के विपरीत उन्होंने उभयालंकारों के मिश्र-वर्ग में बहुत थोड़े से ही अलंकारों को स्थान दिया है, जैसे, पुनरुक्तवदाभास, जिसमें शब्द तथा अर्थ दोनों समान रूप से प्रधान होते हैं।

इस प्रकार के नवीन तथा परंपरा से भिन्न दृष्टिकोण के कारण, जो कि विभिन्न प्रतिष्ठित मतों के मान्यताप्राप्त सिद्धांतों से कुछ अंशों में भिन्न है, भोज का ग्रंथ एक रोचक ग्रंथ है, किंतु इसके सिद्धांत-पक्ष को अनावश्यक महत्त्व दिया गया। निस्संदेह, अपने अद्वितीय विवेचन के कारण संस्कृत काव्य के इतिहास में इस ग्रंथ का अपना महत्व है; किंतु इसका महत्व इसके सिद्धांत पक्ष, अथवा सामान्य सिद्धांतों की चर्चा के कारण नहीं है, अपितु विवेचन की

1. कहीं-कहीं उनका विवेचन बड़ा विचित्र है। यथा, जैमिनि के छह प्रमाणों के आधार पर उन्होंने अलंकारों का उल्लेख किया है (इस संदर्भ में पृ० 404 पर माणिक्यचंद्र के कथन से तुलना करें)। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि उन्हें उपमान नामक अलंकार में प्रमाण के रूप में दर्शनशास्त्रीय उपमान की कल्पना को भी लेना पड़ा है और उसे प्रसिद्ध अलंकार 'उपमा' से भिन्न मानना पड़ा है।

सूक्ष्मता के कारण है (जो कहीं-कहीं शिथिल भी है)। इसमें लक्षणों तथा उदाहरणों का अपार भंडार है, जिन्हें आलंकारिकों तथा प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों के ग्रंथों से उद्धृत किया गया है। भोजराज के विख्यात नाम से संबद्ध होने पर परवर्ती आचार्यों ने मुख्यत: उदाहरणों की प्रचुरता अथवा किसी ऐसे मत के साक्ष्य के रूप में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है, जिसे संभवत: भोज के कथन से प्रामाणिकता प्राप्त होती हो। इस ग्रंथ में विशाल सामग्री का संकलन है, किंतु यह सब अव्यवस्थित है और सूक्ष्म नहीं है। प्रतिपादित विषयों में अव्यवस्था है और शैली में यथार्थता नहीं है। परवर्ती काल में भोज के प्रतिपादित मतों का कोई पोषक अथवा अनुयायी नहीं हुआ।[1]

---

1. परवर्ती लेखकों ने यत्र-तत्र भोज के श्लोकों का उद्धरण किया है। विद्यानाथ (तथा अपने 'रसार्णवालंकार' में प्रकाशवर्ष) ही एक ऐसे आचार्य हुए हैं, जिन्होंने भोज के सूक्ष्म गुण-विषयक भेद-निरूपण का अनुसरण किया है (आगे अध्याय 7 में देखिए)। भोज का सचमुच ही भीमकाय ग्रंथ 'शृंगार-प्रकाश' अभी प्रकाशित नहीं हुआ है, किंतु राघवन ने तद्विषयक अपने शोध ग्रंथ में इसकी विषय-सूची का विस्तृत वर्णन किया है। यह ग्रंथ भी संभवत: उनके पूर्वतर तथा लघुतर ग्रंथ 'सरस्वती-कंठाभरण' के समान, किंतु उससे कहीं अधिक विस्तृत, विश्वकोशीय, उद्धरणात्मक तथा सभी प्रकार से व्याप्त ग्रंथ है। जहाँ तक विषय-वस्तु तथा मुख्य मत का संबंध है, इसमें ऐसी कोई बात नहीं है, जो संक्षिप्त रूप में सरस्वतीकंठाभरण में विद्यमान न हो। यद्यपि इसका नाम 'शृंगार-प्रकाश' है, तथापि 36 अध्याय पर्यंत इस ग्रंथ में काव्य तथा नाट्यविद्या के प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा है (अध्याय 1-6 में शब्द तथा अर्थ; 7-11 में शब्द तथा अर्थाश्रित साहित्य का व्याकरणमूलक विवेचन, जिसमें दोष, गुण तथा अलंकार भी शामिल हैं; अध्याय 12 में मुख्यत: नाटक तथा उसके मुख्य अंग; अध्याय 13-14 में रस का प्रारंभिक विवेचन; अध्याय 15-17 में रीति के विभाव तथा अनुभाव; अध्याय 18-21 में चार पुरुषार्थों के चार शृंगार, यथा धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के शृंगार; अध्याय 22-36 में पुरुष तथा स्त्री की परस्पर रति पर आश्रित निम्न शृंगार (अभिमानाश्रित उच्च शृंगार से भिन्न, जिसकी व्याख्या अध्याय ii में की गई है) का विवेचन है। इस प्रकार, दोष-हान, गुणोत्पादन, अलंकार-योग तथा रस-वियोग (यह परिहार्य है) की व्याख्या करने के पश्चात् उन्होंने अपने अहंकार-अभिमान-शृंगार रस के सिद्धांत का विवेचन किया है। नाटक के सामान्य लक्षणों के संदर्भ में उन्होंने अपने ग्रंथ के एक बड़े भाग में पुरुष तथा स्त्री की परस्पर रति पर आश्रित विप्रलंभ तथा संभोग शृंगार के दो रूपों की चर्चा की है।

अध्याय : सात

मम्मट तथा नवीन मत

(१)

पिछले अध्यायों में मुख्य काव्य-मतों तथा सिद्धांतों की प्रगति की संक्षिप्त रूप-रेखा दी गई है। अंत में ध्वनि-मत की विजय हुई थी। इस रूपरेखा से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत काव्यविद्या के इतिहास में दो अथवा तीन स्पष्ट सोपान[1] हैं। इस शास्त्र के आदि काल के विषय में वास्तव में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है, किंतु भामह तथा दंडी के ग्रंथों में, न्यूनाधिक विकसित रूप में इस शास्त्र के व्यवस्थापन का प्रथम ऐतिहासिक सोपान लक्षित होता है। इसके पश्चात् अभिनवगुप्त पर्यंत रचनात्मक काल का एक सक्रिय सोपान रहा है, जिसमें विभिन्न मतों अथवा वादों के सिद्धांत सामान्यतया प्रतिष्ठापित हो चुके थे। फलस्वरूप रसाश्रित, अलंकाराश्रित, रीति-आश्रित तथा ध्वनि-आश्रित भिन्न मतों का विकास हुआ। इस सोपान की अवधि तीन शतियों तक रही। इस शास्त्र के इतिहास में भामह, उद्भट, रुद्रट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, दंडी, वामन, ध्वनिकार, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, कुंतक, महिमभट्ट तथा भोज प्रभृति विख्यात आचार्य इसी काल में हुए। इन सब आचार्यों ने खंडन अथवा मंडन करते हुए विभिन्न विचारधाराओं को एक ऐसा रूप दिया, जो अंत में मम्मट के प्रामाणिक ग्रंथ में प्रस्फुटित हुआ।

यदि इन भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का भेद-विवेचन किया जाए और शास्त्र की प्रकृति को लक्षित करनेवाले मुख्य-मुख्य सोपानों को निर्दिष्ट किया जाए तो सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि अलंकार-मत, संभवतः शास्त्र की आदि परंपरा के अनुसार, व्यंजना के अलंकार-सिद्धांत तक ही सीमित रहा। रस-मत में, नाट्याश्रित रस के विवेचन के पश्चात् काव्य-सिद्धांत में भावों, अनुभावों तथा विभावों से लक्षित स्वगत रस का समावेश किया गया। रीति-मत में रीति अथवा शैली तथा गुणों से निष्पन्न बाह्य व्यंजना सौंदर्य को महत्त्व दिया गया। ध्वनि-मत में, इन सब सिद्धांतों की

---

1. देखिए खंड 1, पृ० 311 इत्यादि।

सत्यता को अंगीकार करते हुए रस-ध्वनि के विशिष्ट सिद्धांत का विकास हुआ तथा काव्य के अन्य सभी अंगों को ध्वनि-सापेक्ष माना गया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक मत में अलंकार, रस, रीति (गुण तथा दोष-सहित) तथा ध्वनि को सापेक्ष महत्त्व दिया गया था। यद्यपि नैयायिकों द्वारा अत्यंत सूक्ष्म, विचित्र तथा बेजोड़ विचारों को समाविष्ट कर लिया गया था, तथापि सभी मत इन्हीं मुख्य सिद्धांतों से प्रभावित रहे और मुख्य-मुख्य विचारधाराएँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रसारित हुईं। अंत में यह अनुभव किया गया कि इन सब विचारधाराओं का एकीकरण आवश्यक है, ताकि ये भिन्न धाराएँ एक ही विशाल धारा के रूप में प्रवाहित हो सकें। शास्त्र के शुद्ध लक्षणात्मक पक्ष का ह्रास होने लगा और यह अनुभव किया गया कि बाह्य व्यंजना, अलंकार अथवा शैली को भले ही चाहे जितना महत्त्व दिया जाय, फिर भी श्रेष्ठ काव्य के लिए अत्यंत आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत, अर्थात् ध्वनि का महत्त्व अपेक्षाकृत उससे कहीं अधिक है, विशेषतया रसात्मक ध्वनि का, जो आस्वादन की एक विशिष्ट मानसिक अवस्था को लक्षित करती है, जिसकी चारुता, व्यक्ति तथा राग-निरपेक्ष मानसिक आनंद तथा सौंदर्य के चिंतन के लिए यथोचित प्रवृत्ति में निहित होती है।[1]

1. यह केवल अलंकार का विषय नहीं है। सौंदर्य का आदर्श (यदि ऐसा कहना समीचीन हो) बाह्यांग नहीं है, अपितु इसका संबंध कलात्मक आस्वादन की एक विशिष्ट अवस्था से है, जिसकी ध्वनि को काव्य के मुख्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया गया है। संस्कृत साहित्य के एक योग्य समालोचक की व्याख्या के अनुसार (ओल्डनवर्ग, Die Literatur des alten Indien पृ० 207 इत्यादि) भारतीय आचार्यों ने अत्युत्तम संवेद्यता से उत्पन्न शुद्ध रूप में नारी-सुलभ आस्वादन को पुरुष-सुलभ सौंदर्य, बौद्धिक शक्ति तथा कुशाग्रता से पुष्ट माना है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ साहित्य में अत्यंत प्राचीन काल से विद्यमान हैं। परमानंद तथा कुशलता एवं सूक्ष्मदर्शिता की प्रबल प्रवृत्तियाँ साथ-साथ रही हैं। यह सत्य है कि शास्त्र का सिद्धांत-पक्ष निर्जीव तथा नीरस अलंकार मात्र रह गया, किंतु इसके साथ-ही-साथ यह मानना पड़ेगा कि आचार्य सूक्ष्म विषयों के प्रति उदासीन नहीं थे और न ही उन्होंने वास्तविक काव्य के परम गुणों तथा तज्जन्य सौंदर्यात्मक आनंद की अवहेलना की। उन्होंने सदैव यही कहा है कि काव्यात्मक प्रतिभा सिद्धांत-निरपेक्ष होनी चाहिए और काव्य का परम निकष अथवा मापदंड सहृदय द्वारा उसकी प्रशंसा अथवा आस्वाद्यता है। सहृदय में शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ सूक्ष्म सौंदर्य-संवेद्यता भी होनी चाहिए, जो उसके विस्तृत ज्ञान तथा कवि के भावों तथा अनु-

इस काल के समाप्त होते-होते काव्यविद्या को प्रायः अंतिम तथा प्रामाणिक रूप दिया जा चुका था, जिसकी रूपरेखा 'ध्वन्यालोक' में दी गई है। इसके अंतर्गत पूर्ववर्ती बिखरे पड़े विचारों को एक स्थान पर एकत्र करने का प्रयत्न किया गया है। इसके परवर्ती युग में, जिसकी चर्चा इस अध्याय तथा अगले अध्यायों में की गई है, शास्त्र की सूक्ष्म व्याख्या की गई। मुख्यतः इसमें पूर्ववर्ती चिंतन से प्राप्त विचारों को संक्षिप्त पाठ्य-ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत किया गया। विवेचनात्मक चिंतन इस सोपान की बड़ी विशेषता है, किंतु इसमें सक्रिय प्रतिभा अथवा मौलिकता नहीं है, शास्त्र का क्रमिक ह्रास ही अभिलक्षित होता है। इस युग को टीकाओं का युग कह सकते हैं। इसमें असंख्य टीकाएँ लिखी गई हैं। इस युग को यूरोपीय श्रेणी-साहित्य के स्कोलिया युग के समान कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें टीकाओं पर टीकाएँ तथा उन पर भी टिप्पणियाँ लिखी गई हैं। सिद्धांत की व्याख्या, प्रतिष्ठापित नियमों की भक्ति अथवा उनके क्षेत्र को सीमित करना ही एकमात्र उद्देश्य रह गया। इस युग में ऐसे भी लोकप्रिय लेखक हुए हैं, जिन्होंने जनसाधारण के सुविधार्थ शास्त्र के सरल पाठ्यग्रंथों की रचना की। अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में पाठशालाओं के लिए उपयोगी ग्रंथों की रचना शास्त्र के उक्त ह्रास की निम्नतम स्थिति की परिचायक है।

इन आचार्यों का वर्गीकरण करना कठिन है। यत्र-तत्र ऐसे भी आचार्य हुए हैं, जिन्होंने प्राचीन परंपरा का अनुसरण किया है। कुछ आचार्यों ने गुण-दोष का निरूपण किए बिना ही ग्रंथ लिख दिए हैं, कुछ के ग्रंथ केवल उद्धरणात्मक हैं, कई आचार्यों की आकांक्षा एक लोकप्रिय पाठ्यपुस्तक लिखने मात्र तक ही सीमित रही। पाँच अथवा छह शती पर्यंत इस युग के अधिकांश आचार्यों ने ध्वनि-सिद्धांत को तथा मम्मट द्वारा प्रतिष्ठापित काव्यविद्या के अंतिम रूप को प्रायः प्रामाणिक माना है। आचार्यों के ऐसे लघु वर्ग भी हुए हैं, जिन्होंने 'कवि शिक्षा' अथवा रस (विशेषतया, शृंगार-रस) जैसे विशिष्ट विषयों का विवेचन किया है, किंतु यह अंतिम रूप में प्रामाणिक ध्वनि-सिद्धांत का उपशाखन ही है, ऐसा प्राचीन परंपरा के अनुपालन अथवा संभवतः तत्कालीन मीमांसात्मक अथवा परिमार्जनात्मक प्रवृत्ति के कारण ही हुआ। यह मुख्य सिद्धांत में हुए

भावों के तादात्म्य से ही संभव होती है। यह संवेद्यता ब्रह्मानंद के समान बताई गई है, इसके पात्र बहुत अल्प संख्या में होते हैं। समालोचक तथा कवि जन्मजात होते हैं, बनाए नहीं जा सकते।

किसी वास्तविक विभाजन का सूचक नहीं है। मुख्य सिद्धांत तथा मुख्य समस्याओं के विषय में ध्वनि के परवर्ती आचार्यों ने यही समझा कि कोई नवीन प्रतिपाद्य विषय नहीं रह गया है। फलस्वरूप उन्होंने सिद्धांत-पक्ष का ही सूक्ष्म निरूपण किया है और इस प्रकार उनकी भेद-निरूपण तथा शास्त्रीय वाद-विवाद की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति को अवसर प्राप्त हुआ। यहाँ उनकी विस्तार से चर्चा करना व्यर्थ है, क्योंकि उन्होंने प्राय: एक ही बात को अपने-अपने ढंग से कहा है। कहीं-कहीं उनका ढंग तथा शब्द भी एक ही है, उनके परस्पर मतभेद सामान्य हैं। सिद्धांत की मुख्य-मुख्य बातों में उनमें कोई मतभेद नहीं है। उनके ग्रंथों में द्रष्टव्य विषय केवल असंख्य अलंकारों का सूक्ष्म भेद-निरूपण तथा उनकी मीमांसा है, जिसे ध्वनिकार तथा आनंदवर्धन ने संभवतः अपने प्रतिपादित विषय से बाहर समझते हुए छोड़ दिया था, किंतु परवर्ती साहित्य में इस भेद-निरूपण को पर्याप्त महत्त्व मिला है। जैसा कि रुय्यक ने स्पष्ट रूप में कहा है, इन आचार्यों को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विवेचन में रिक्त स्थानों की पूर्ति करने का प्रचुर अवसर मिला। इस अंश में उन्होंने इतनी सूक्ष्मता से काम लिया है कि यदि उनके ही ग्रंथों को मापदंड मान लिया जाय तो अलंकारशास्त्र को अलंकारमात्र का ही विवेचन कहा जा सकता है और प्रायः ऐसा कहा भी गया है। अधिकांश अलंकारों के लक्षण इत्यादि तो प्राय: रुय्यक के समय ही निश्चित हो चुके थे। जगन्नाथ-जैसे परवर्ती आचार्यों ने केवल उनकी समालोचना करके उनका परिष्करण मात्र किया है।

तथापि यह महत्त्वपूर्ण बात है कि यद्यपि इस नवीन (नव्याः, अर्वाचीनाः) मत में प्राय: ध्वनि-मत के मुख्य सिद्धांतों को स्वीकार किया गया है, तथापि यह प्राचीन मतों के सिद्धांतों से सर्वथा विनिर्मुक्त नहीं है। प्राचीन आचार्यों के प्रति आदर की भावना परोक्ष रूप में विद्यमान रही है और अपने काव्य-सिद्धांत के निरूपण में उनके कुछ प्राचीन विचारों का, बिना गुण-दोष देखे, समावेश कर लिया गया है। इसीलिए, इन लेखकों को एक साथ प्रत्यक्ष रूप में ध्वनि-सिद्धांत से संबद्ध करना कठिन है। उदाहरण के लिए मम्मट का काव्यस्वरूप-निरूपण वामन-जैसे प्राचीन आचार्य के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है, अलंकारों की सविस्तर मीमांसा करते हुए रुय्यक ने उद्भट तथा कुंतक का बहुत अनुसरण किया है। विश्वनाथ का अपना सिद्धांत स्पष्टतया रस-मत से प्रभावित प्रतीत होता है। जगन्नाथ ने दंडी द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्राचीन लक्षण को एक नए रूप में पुनर्जीवित किया है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इनमें से अधिकांश

आचार्यों ने काव्य लक्षण का सूक्ष्म रीति से निरूपण करने का प्रयत्न किया है। ध्वनिकार ने इस विषय को अछूता छोड़ना ही उचित समझा। ऐसा करने में संभवतः उनका लक्ष्य यह था कि कोई ऐसा व्यापक सिद्धांत बन जाए, जिसमें प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों प्रकार के विचारों को स्थान मिल सके, यद्यपि वे इस समस्या को सुलझाने की बजाय इसमें बुरी तरह उलझ गए। इस प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति में एक रोचक बात यह है कि आचार्यों ने प्राचीन सिद्धांतों के महत्व को स्वीकार तो किया, किंतु वे 'ध्वन्यालोक' के स्पष्ट सिद्धांत से पूर्णतया संतुष्ट नहीं हो सके। इससे आंशिक रूप में यह सिद्ध होता है कि अंत में विजयी ध्वनि-मत के इन अनुयायियों में मौलिकता का अभाव था, यह आक्षेप पूर्णतया उचित नहीं है।

(२)

मम्मट

मम्मट इस वर्ग के अग्रगण्य आचार्य हैं। जैसा कि उनके ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' की लोकप्रियता तथा प्रभाव से प्रतीत होता है, आनंदवर्धन के काश्मीरी मत को अंतिम रूप से प्रतिष्ठापित करने में उसका बड़ा हाथ था। यह ग्रंथ व्यापक होने के साथ-साथ संक्षिप्त भी है। इसमें काव्य-विद्या के पूर्ववर्ती चिंतन को एक पाठ्य-ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आगे चलकर इसी के आधार पर असंख्य पाठ्य-पुस्तकें तथा टीकाएँ लिखी गईं।

मम्मट के द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रसिद्ध लक्षण-निरूपण के अवलोकन मात्र से ही मम्मट के मुख्य सिद्धांत का पता चल जाता है। यद्यपि उन्होंने अधिकांशतः ध्वनि-मत के सिद्धांतों को स्वीकार किया है तथा रस को काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग कहा है, तथापि उसके लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' (अर्थात्, काव्य शब्दार्थ-मय, दोष-रहित तथा गुणयुक्त होता है, कभी-कभी अलंकाररहित भी होता है) में प्राचीन परंपरा-सम्मत शब्द तथा अर्थ के अतिरिक्त गुण, दोष तथा अलंकार का उल्लेख है, किंतु इसमें प्रकट रूप से ध्वनि तथा रस का कहीं उल्लेख नहीं है। वे परोक्ष रूप में ही स्वीकार किए गए हैं, क्योंकि मम्मट ने काव्यस्वरूप के उक्त निरूपण के पश्चात् शब्द तथा अर्थ की वृत्तियों अथवा शक्तियों की चर्चा की है, व्यंजना शक्ति को प्रसंगवश प्रतिष्ठापित करते हुए तथा व्यंग्य अर्थ अथवा ध्वनि को श्रेष्ठ बताते हुए ध्वन्यात्मक काव्य का तीन भागों में विभाजन किया

है, अर्थात्, ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य तथा चित्र। मम्मट ने तत्पश्चात् काव्य के इन तीन भागों अथवा भेदों के विभिन्न उपभेदों का सोदाहरण वर्णन किया है तथा इसी प्रसंग में रस-सिद्धांत का सविस्तर विवेचन करते हुए उसे 'असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य' के अंतर्गत माना है। उन्होंने इसी प्रसंग में लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक के मतों की चर्चा करते हुए उनका खंडन किया है तथा 'व्यक्ति-वाद' को अंगीकार किया है, जिसे उन्होंने अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित कहा है। आठ रूढ़ नाट्य-रसों का भी उल्लेख है (अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः) किंतु नवें रस, शांत को प्रकट रूप में काव्य-रस कहा है।

इसके पश्चात् मम्मट ने गुण-दोष की चर्चा की है, किंतु जैसा कि उनके काव्य-लक्षण से लक्षित होता है, यह काव्याश्रित गुण-दोष चर्चा न होकर रस के विकास में उनके गौण होने अथवा न होने से संबंधित है। आनंदवर्धन का अनुसरण करते हुए उन्होंने निबंधाश्रित गुणों की एक नए ढंग से व्याख्या की है तथा निबंध की चारुता के वर्धक होने के रूप में उसके आधारभूत रस से उनके परस्पर संबंध का विवेचन किया है। निबंध के शब्द-रूप में ओज तथा माधुर्य (सादृश्य अतिरिक्त) गुण तभी हो सकते हैं, जबकि उसका आधारभूत रस वीर अथवा शृंगार हो। अतएव, गुणों का रस से वही संबंध है, जो वीरता इत्यादि गुणों का मनुष्य की आत्मा से है। अलंकारों के विषय में भी यही बात है। रसाश्रित होने से काव्य में उनका भी स्थान है। उनकी तुलना मनुष्य के शारीरिक आभूषणों से की गई है, अतएव, वे काव्यशरीर अर्थात् शब्द तथा अर्थ को अलंकृत करते हैं। इस प्रकार वे परोक्ष रूप में, शब्द तथा अर्थ द्वारा रस की आत्मा का अलंकरण करते हैं, किंतु सदैव नहीं। यदि रस का भाव नहीं है तो वे केवल वाग्वैचित्र्य को ही जन्म देते हैं। यह भी द्रष्टव्य है कि मम्मट ने आनंदवर्धन का अनुसरण करते हुए, तीन गुणों को अंगीकार किया है[1] और यह

1. मम्मट ने कुछ सावधानी से यह सिद्ध किया है कि वामन के दस गुणों को अंगीकार करना आवश्यक नहीं है, तीन व्यापक गुणों अथवा ओज, प्रसाद तथा माधुर्य को ही मान लेना पर्याप्त है। वामन के गुणों की समीक्षा करने पर विदित हो जाएगा कि उनमें से कुछ को इन तीन में ही समाहित किया जा सकता है, कुछ गुण तो केवल दोषाभाव के सूचक हैं, कुछ अन्य गुण निश्चित रूप में दोष हैं। इस प्रकार वामन के श्लेष, समाधि तथा उदारता गुण ओज में समाहित हैं, अर्थव्यक्ति, प्रसाद गुण का एक रूप मात्र है; समता, अर्थात् रीति अथवा शैली की समता, कभी-कभी दोष होती है, सौकुमार्य तथा कांति, जिन्हें क्रमशः कठोरता अथवा अमंगल तथा ग्राम्यता से लक्षित किया गया है, श्रुतिकष्ट तथा ग्राम्यता दोषों के

कहा है कि विशिष्ट वर्ण-संघटना, विशिष्ट गुणों को लक्षित करती है। फलस्वरूप उद्भट की तीन वृत्तियाँ (तथा मोटे तौर से वामन की तीन रीतियाँ) मम्मट द्वारा प्रतिपादित तीन गुणों के समान हैं।[1] मम्मट ने पद, वाक्य तथा अर्थ-दोषों के अतिरिक्त रस-दोषों को भी अंगीकार किया है, प्रायः परवर्ती आचार्यों ने इसी विवेचन-पद्धति का अनुसरण किया है। यद्यपि मम्मट के

विपर्यय मात्र हैं। इन कारणों से गुणों का जाति-भेद-निरूपण सरल हो गया है तथा उनके व्यर्थ भेद-निरूपण को सीमित कर दिया गया है (यथा, भोज द्वारा प्रतिपादित 24 गुणों का सूक्ष्म भेद-निरूपण)। अतएव, मम्मट का यह मत है कि शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण का परस्पर भेद-निरूपण व्यर्थ है, क्योंकि अर्थगुणों का पृथक् विवेचन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने यह कहा है कि रसास्वादन के मानसिक प्रक्रम में केवल तीन (दस नहीं) गुणों को ही स्थान प्राप्त है और निबंध-गत प्रधान रस से उसका ही संबंध घनिष्ठ है। इस प्रकार ओज गुण को मानस का विस्तार-कारक कहा है और वह वीर, बीभत्स तथा रौद्र रस में निवास करता है। प्रसाद गुण सभी रसों का समान लक्षण है, इससे मानस पर अर्थबोध की व्याप्ति अथवा विकास ऐसे होता है, जैसे जल-धारा का वस्त्र पर अथवा अग्नि का काष्ठ पर (तुलना कीजिए भरत vii. 7)। माधुर्य गुण मुख्यतः संभोग शृंगार में रहता है, किंतु शोक, विप्रलंभ-शृंगार तथा शांत में भी क्रमिक रूप से इसका विकास होता है। इसे द्रुतिकारक कहा गया है। मत की तीन काव्य-रसाश्रित अवस्थाओं, अर्थात् विस्तार, व्याप्ति तथा द्रुति को तीन गुणों का आधार मान लिया गया है। यद्यपि इन मानसिक अवस्थाओं का कभी-कभी संश्लेष भी हो जाता है, जिसके फलस्वरूप अन्य भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, किंतु ये इतनी अस्पष्ट तथा इतनी अधिक होती हैं कि इन्हें नए गुणों का आधार नहीं माना जा सकता। इस व्याख्या में 'ध्वन्यालोक' के ii. 8-11 (ऊपर देखिए पृ० 155 इत्यादि) का अनुसरण करते हुए उसी का विस्तार किया गया है, किंतु यह संभव है कि इन प्रभावों को पाठक की मानसिक अवस्थाओं के साथ तीन गुणों से अनुबद्ध करने का संकेत भट्टनायक ने दिया हो ('लोचन' पृ० 68), उनके कथनानुसार विस्तार, विकास तथा द्रुति रस के योग के मानसिक लक्षण होते हैं, किंतु उन्होंने आपत्ति यह की है कि ओज इत्यादि विस्तार इत्यादि प्रक्रम के कारक नहीं हैं, अपितु उससे अभिन्न हैं।

1. ऊपर देखिए पृ० 96, हम पहले कह चुके हैं कि मम्मट ने तथाकथित अर्थ-गुणों को अनावश्यक कहा है, इसलिए केवल शब्द-गुण ही रह गए। इन शब्द-गुणों की उत्पत्ति वर्ण, समास तथा रचना की विशिष्ट संघटना अथवा विन्यास के कारण होती है। अतएव, मूर्धन्य (ट, ठ, ड, ढ) को छोड़कर (1) अपने वर्ग के अनुनासिक सहित क से म तक सभी स्पर्श, (2)

मतानुसार काव्य में अलंकारों की आवश्यकता सर्वदा नहीं होती,[1] तथापि उन्होंने अपने ग्रंथ को शब्द तथा अर्थ पर आश्रित अलंकारों तथा कुछ उभयालंकारों के सविस्तर विवेचन से समाप्त किया है। उन्होंने सतसठ पृथक्-पृथक् अलंकारों के नाम दिए हैं।

मम्मट के ग्रंथ में प्रतिपादित विषयों की संक्षिप्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें कोई मौलिक तत्त्व नहीं है, किंतु इसमें मुख्य समस्याओं (नाट्य को छोड़कर हेमचंद्र, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने इसकी पूर्ति करने का प्रयास किया है) का बड़ा व्यवस्थित तथा संक्षिप्त निरूपण किया गया है। उनके लक्षण-निरूपण तथा सामान्य विवेचन में सभी पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रतिपादित सिद्धांतों को समाहित करने का प्रयत्न स्पष्ट है। 'काव्यप्रकाश' पर लिखी गई अनेक टीकाएँ इसकी लोकप्रियता तथा प्रामाणिकता की सूचक हैं। इसका कारण विवेचन की नवीनता नहीं है, अपितु 'ध्वन्यालोक' द्वारा प्रतिपादित नवीन पद्धति से संबंधित चिरसंचित सिद्धांतों अथवा विचारों की स्पष्ट तथा विशद (यद्यपि व्याख्या के लाघव तथा जटिलता के कारण टीकाओं का लिखा जाना आवश्यक था) व्याख्या है।

ह्रस्व स्वरों के साथ-साथ ण के प्रयोग तथा (3) समास के पूर्ण अभाव अथवा लघु समास के भाव से माधुर्य गुण की प्राप्ति होती है। (1) क्रमशः वर्ग के पहले तथा तीसरे वर्णों के साथ वर्ग के दूसरे तथा चौथे वर्णों क: मिलाकर बने संयुक्त वर्णों, (2) र सहित संयुक्त व्यंजनों, (3) ण (जोकि माधुर्य का सूचक है) को छोड़कर अन्य मूर्धन्य, (4) द्वित्व, एक ही वर्ण का संयोग, (5) तालव्य तथा श और ष, (6) दीर्घ समास तथा (7) शब्दाडंबर में ओज गुण की सिद्धि होती है। यह स्पष्ट ही है कि प्रसाद गुण के लिए कोई नियम नहीं है। यहाँ जो वर्ण दिए गए हैं, वे अधिकतर वही हैं, जिन्हें उद्भट ने क्रमशः उपनागरिका, पुरुषा (परुषा ?) तथा कोमला अथवा ग्राम्या वृत्तियों का सूचक कहा है। अतएव, मम्मट के मतानुसार, उद्भट की तीन वृत्तियाँ, जिन्हें स्वयं उद्भट ने वृत्यनुप्रास में समाहित कहा है, वास्तव में वामन की तीन वृत्तियों तथा उनके अपने तीन गुणों के समान हैं।

1. वामन का यह मत कि गुणों से काव्य की शोभा होती है और अलंकार उस शोभा के उपकारक मात्र होते हैं, नवीन दृष्टिकोण से स्पष्टतया अपर्याप्त है। मम्मट का तर्क इस प्रकार है : यदि सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि सर्वगुणोपेत होना काव्य का लक्षण है, तो गौडी तथा पांचाली, जिनमें सभी गुण नहीं होते, काव्यात्मक नहीं होंगी, किंतु यदि एक ही गुण के भाव के किसी निबंध को काव्य श्रेणी में रखा जा सके तो एक ऐसे पूर्णतया अकाव्यात्मक खंड को भी काव्य मानना पड़ेगा, जिसमें केवल उदाहरणतया, ओज गुण ही विद्यमान हो।

किंतु जहाँ तक सिद्धांत-पक्ष का संबंध है, मम्मट के द्वारा प्रतिपादित काव्य-लक्षण का घोर विरोध हुआ है। उदाहरणार्थ, यद्यपि विश्वनाथ ने मम्मट के ग्रंथ को अपने ंथ का उपजीव्य आधार कहा है, तथापि उन्होंने अपने 'साहित्यदर्पण' में मम्मट के लक्षण-निरूपण की तीव्र आलोचना की है। उनका पहला कथन यह है कि गुण केवल रसाश्रित होते हैं, इसलिए अंगी रूप में उनका स्वरूप-निरूपण समीचीन नहीं है। तत्पश्चात् उन्होंने कहा है कि यदि केवल अदोष निबंध को ही काव्य माना जाय तो कुछ सर्वश्रेष्ठ काव्य भी त्यागने पड़ेंगे, क्योंकि काव्य का सर्वथा दोषरहित होना प्रायः असंभव है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जिस शब्द अथवा शब्दार्थ में दोष का भाव होता है, केवल वही दूषित होता है; क्योंकि यदि दोष वास्तव में ही दोष है और उसका निबंधगत रस से संबंध है, तो उससे सारा ही काव्य दूषित हो जाता है। अंत में उन्होंने यह कहा है कि काव्य-लक्षण में अलंकारों को स्थान नहीं दिया जाना चाहिए था, क्योंकि वे निश्चित रूप में अंगी नहीं हैं। जगन्नाथ की आलोचना अधिक मौलिक है, यद्यपि काव्य-लक्षण में गुण, दोष तथा अलंकार के उल्लेख के अनौचित्य के विषय में वे विश्वनाथ से सहमत हैं। शब्द तथा अर्थ काव्य के वाचक नहीं हैं, उन्होंने इस पर आपत्ति की है। 'काव्य पढ़ा गया, किंतु उसका अर्थबोध नहीं हुआ' जैसे लौकिक कथन से यह स्पष्ट रूप में सिद्ध होता है कि काव्य से अभिप्राय एक विशिष्ट शब्द-प्रकार से है। यदि यह कहा जाए कि रस का विकास काव्य की आत्मा है और शब्द तथा अर्थ दोनों में यह गुण विद्यमान रहता है, इसलिए दोनों ही काव्य-स्वरूप हैं, तो इसका उत्तर यह है कि काव्य का यह लक्षण अत्यंत व्यापक है और यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो संगीतात्मक ध्वनियाँ तथा नाटकीय हावभाव को भी काव्य मानना पड़ेगा।

निस्संदेह ये तथा कुछ अन्य तर्क अतिसूक्ष्म तथा पांडित्यपूर्ण प्रतीत होते हैं। मम्मट के अनुयायियों तथा टीकाकारों ने उतने ही पांडित्य से इन तर्कों का खंडन किया है, किंतु इस वादविवाद से यही प्रतीत होता है कि काव्य के तर्कपूर्ण तथा यथार्थ स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयत्न व्यर्थ है तथा इस प्रकार के लक्षण में काव्य के सभी रूढ़ अंगों को समाविष्ट करना कठिन है। संभवतः पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस कठिनाई का अनुभव करते हुए काव्य-स्वरूप के निरूपण को जानबूझकर अछूता छोड़ दिया। ध्वनिकार ने भी काव्य के सामान्य स्वरूप तथा उसके भेदों का निरूपण करने पर ही संतोष किया है।

महिमभट्ट ने इस बात पर ध्वनिकार का उपहास करते हुए इस प्रकार कहा है—'किंच काव्यस्य स्वरूपं व्युत्पादयितुकामेन मतिमता तल्लक्षणमेव सामान्येनाख्यातव्यम् ।'

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उक्त काव्य-लक्षण रोचक है, उसकी प्रकट असंबद्धता तथा दुरूहता विचित्र है, उसकी युक्तियुक्त व्याख्या प्राचीन मतों तथा सिद्धांतों के प्रकाश में ही की जा सकती है। 'रस' शब्द उक्त लक्षण में विद्यमान नहीं है और मम्मट द्वारा 'चित्रकाव्य' को, जिसे आनंदवर्धन ने काव्य के एक भेद के रूप में बे-मन से स्वीकार किया है, मान्यता दिए जाने से सूचित होता है, जैसा कि विश्वनाथ का कथन है, मम्मट ने रस को अंग के रूप में स्वीकार नहीं किया है। फिर भी मम्मट ने रस के संदर्भ में ही गुण तथा दोष का स्वरूप-निरूपण किया है, किंतु यदि रस का अंगीत्व स्वीकार्य नहीं है तो गुण-दोष का ऐसा निरूपण युक्तियुक्त नहीं है। इसके विपरीत, यदि यह कहा जाए कि उक्त स्वरूप-निरूपण में रस का उल्लेख इसलिए नहीं किया गया है, क्योंकि काव्य तथा आलोचना के क्षेत्र में रस एक प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित तत्व है, तो इसका उत्तर यह है कि इस आधार पर ध्वनि तथा काव्य का तीन भेदों में निरूपण अयुक्त है। इस स्थिति में, जैसा कि जगन्नाथ ने किया है, काव्य-लक्षण में गुणों तथा दोषों का उल्लेख नहीं होना चाहिए। ऐसा काव्य-लक्षण वामन (i. 1, 1-3) के काव्य-लक्षण के अधिक अनुरूप है और ये दो अंग उसी अर्थ में स्वीकार करने चाहिए, जिसमें उन्हें वामन ने स्वीकार किया है, अर्थात् शब्द तथा अर्थ के लक्षण।[1] इस प्रकार की अन्य असंगतियों के कारण यह संभव प्रतीत होता है कि नवीन मत के अनुयायी होते हुए भी मम्मट प्राचीन सिद्धांतों से बहुत प्रभावित थे। निस्संदेह उन्होंने ध्वनि-मत के मुख्य सिद्धांत को मान्यता दी है, किंतु पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धांतों का ध्वनि से समन्वय स्थापित करने के पचड़े में पड़कर उन्होंने कई ऊलजलूल बातें कह दी हैं।

---

1. यह जगन्नाथ का परिवर्तित मत है, उन्होंने इस कठिनाई का अनुभव किया है और वे मम्मट के विचार से सहमत नहीं हैं, (देखिए 'रसगंगाधर' पृ० 55)। इसी प्रकार यद्यपि विद्यानाथ ने नवीन मत का अनुसरण किया है, तथापि उन्होंने उद्भट की उक्ति 'संघटना-धर्मा गुणाः' को स्वीकार किया है (पृ० 334)।

(३)

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने मम्मट की आलोचना करने का बीड़ा उठाया, किंतु उनके द्वारा प्रतिपादित काव्य का लक्षण भी वैसा ही आक्षेपास्पद है और गोविंद तथा जगन्नाथ ने उसकी आलोचना की है। उनका यह कथन कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है (वाक्यं रसात्मकं काव्यं), उन पर रस-मत के प्रभाव को स्पष्ट रूप में लक्षित करता है, किंतु उन्होंने अभिनवगुप्त की अपेक्षा रसध्वनि के अंगीत्व की स्पष्टतर व्याख्या की है, जिसे ध्वन्यालोक के रचयिताओं ने व्यावहारिक रूप में स्वीकार करते हुए उसकी व्याख्या न करना ही उचित समझा है।[1] इस एकांतिक पक्ष पर विचार करते हुए विश्वनाथ ने एक बड़े बेढब तरीके से यह स्वीकार किया है कि सभी प्रकार के काव्य, यहाँ तक कि वर्णनात्मक अथवा आलंकारिक में भी, रस का स्पर्श (रस-स्पर्श) रहता है। निबंध में केवल रस की ही अभिव्यक्ति होनी चाहिए, यदि इस कथन को आदर्श मान भी लिया जाए तो भी वास्तव में सदैव ऐसा होता नहीं है। जगन्नाथ ने ठीक ही कहा है[2] कि विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित काव्य के लक्षण के अनुसार 'वस्तु-ध्वनि' अथवा 'अलंकार-ध्वनि' पर आश्रित निबंधों को काव्य में स्थान नहीं मिल सकेगा। इस विषय में विपक्षी यह नहीं कह सकता कि मेरा भी तो वास्तव में यही मत है, क्योंकि ऐसा कहने से प्राचीन आचार्यों की मत-परंपरा तथा महाकवियों द्वारा प्रतिष्ठापित पद्धति का विरोध होता है। इन्होंने वस्तु तथा अलंकार के महत्व को स्वीकार किया है और जलप्लावन अथवा यात्रा इत्यादि के वर्णन किए हैं, जिनमें शायद ही कहीं रस-स्पर्श हो। अतएव, अकेली रस-ध्वनि को ही मान्यता देना पर्याप्त नहीं है, काव्य के व्याप्त लक्षण के अंतर्गत वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि का भी स्थान होना चाहिए। विश्वनाथ ने इस आक्षेप का पूर्वानुमान करते हुए कहा है कि मैंने जिन उदाहरणों का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया है, उनसे अतिरिक्त स्थलों में रसाभास सदैव होता है। उनके मतानुसार, 'ध्वन्यालोक' में वस्तु-ध्वनि के उदाहरण के रूप में दिया गया श्लोक मान्य इसलिए है, क्योंकि उसमें रस का स्पर्श है, इसलिए नहीं कि व्यंग्य-वस्तु मात्र ही काव्य की आत्मा का लक्षण है। जगन्नाथ ने इसका यह उत्तर दिया है

1. ऊपर देखिए अध्याय 5, पृ० 151, अध्याय 6, पृ० 161 इत्यादि।
2. पृ० 7-8 तुलना कीजिए 'प्रभा', निर्णयसागर प्रेस सं० 1912, पृ० 11.

कि रस को इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता देने से कुछ लाभ नहीं, क्योंकि 'गाय जाती है' अथवा 'हिरण चौकड़ी भरता है' जैसे वाक्यों में भी अप्रत्यक्ष रूप में रस का भाव हो सकता है। इसे काव्य का एकमात्र निकष नहीं माना जा सकता, अन्यथा काव्य की प्रत्येक वस्तु रस की उत्तेजक, उपकारक, अथवा सहायक मात्र बन जाएगी।

इस शास्त्रीय विवेचन तथा अंगीत्व के रूप में रस के महत्त्व के अतिरिक्त, जिसका काव्य के अन्य अंगों के साथ समन्वय स्थापित नहीं किया गया है, विश्वनाथ का सिद्धांत मम्मट से अधिक भिन्न नहीं है। विश्वनाथ ने मम्मट के ग्रंथ पर संभवतः एक टीका भी लिखी है। वास्तव में एक स्थल पर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य के ग्रंथ के प्रति सुंदर शब्दों में अपना आभार प्रकट किया है। रसात्मक वाक्य ही काव्य है, काव्य का यह लक्षण देने के पश्चात् उन्होंने सामान्य रूप से वाक्य तथा वाक्य के अंगों अर्थात् शब्द तथा अर्थ की विभिन्न शक्तियों का विश्लेषण अथवा सूक्ष्म विवेचन किया है तथा रसादि के बोधनार्थ (रसादीनां बोधे) आवश्यक तथा महत्वपूर्ण व्यंजना शक्ति की सिद्धि की है। उन्होंने काव्य के केवल दो भेद स्वीकार किए हैं, अर्थात् ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यंग्य काव्य। तृतीय भेद, अर्थात् चित्रकाव्य (जिसे आनंदवर्धन ने अप्रकट रूप से तथा मम्मट ने प्रकट रूप से मान्यता दी है) को इसलिए अंगीकार नहीं किया है, क्योंकि इसमें रस का सर्वथा अभाव होता है और यह उनके द्वारा प्रतिपादित काव्य-लक्षण से असंगत भी है। फिर भी यह विचित्र है कि आनंदवर्धन का अनुसरण करते हुए विश्वनाथ ने, शब्द अथवा अर्थ अथवा शब्द तथा अर्थ दोनों की शक्ति के आधार पर वस्तु तथा अलंकार-ध्वनि को आंशिक रूप में क्रमोद्योत-व्यंग्य के अंतर्गत स्वीकार किया है। गुणीभूत व्यंग्य, जिसमें रस गौण होता है, को इसलिए स्वीकार किया गया है, क्योंकि ऐसे काव्य में रस की ध्वनि गौण होने का तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसा काव्य काव्य ही नहीं है। रस का आस्वादन ही, चाहे वह गौण हो या प्रधान, काव्य का एकमात्र निकष है। रस का इस प्रकार पक्ष-पाती होने के कारण ही उन्होंने अपने ग्रंथ में रूपकात्मक निबंध का भी, जिसे काव्यविद्या के अधिकतर आचार्यों ने अछूता छोड़ दिया है, विवेचन किया है। कवि तथा आचार्य इस प्रकार के निबंध में रसों, भावों तथा अनुभावों के निरूपण को पहले से ही आवश्यक बता चुके थे। इसी विचार के अनुरूप दोष को 'रसापकर्षक' कहा गया है तथा गुण को रस का एक विशिष्ट

धर्म बताया गया है, जो शब्द तथा अर्थ के आश्रित होता है तथा रस के अंगी अथवा प्रधान होने पर उसका उपकार अथवा श्रीवृद्धि करता है। गुण वास्तव में रस के धर्म हैं, किंतु गौण रूप में उन्हें शब्द तथा अर्थ के आश्रित भी कहा गया है। गुणों का ऐसा गौण प्रयोग शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण के प्राचीन भेद-निरूपण को भी व्यक्त करता है। तीन गुण स्वीकार किए गए हैं—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद, जो कि विशिष्ट वर्ण-संघटना के आश्रित होते हैं तथा रस के आस्वादन में मन के विस्तार, व्याप्ति तथा द्रावण गुणों के सूचक होते हैं। प्राचीन आचार्यों के दस गुणों का उल्लेख करते हुए मम्मट के अनुसार उनकी आलोचना की गई है। यह विचित्र है कि विश्वनाथ ने रीतियों को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है—मम्मट के समान उन्हें वृत्तियों के अंतर्गत समाहित नहीं माना है, न ही उन्हें तीन गुणों का उल्लेख करने के पश्चात् अनावश्यक माना है। उन्होंने रसादि की उपकर्त्री (उपकर्त्री रसादीनां) तथा 'पद-संघटना'[1] के रूप में रीति का लक्षण-निरूपण किया है। तथापि रीति का संबंध काव्य के बाह्यांग से ही होता है, काव्य से उसका संबंध वैसा ही है, जैसा कि शरीर का आत्मा से है।[2] ग्रंथ के अंतिम भाग में विश्वनाथ ने अधिकांशतः मम्मट तथा रुय्यक का अनुसरण करते हुए अलंकारों का स्वरूप-निरूपण किया है और उन्हें शब्द तथा अर्थ के ऐसे अस्थिर धर्म कहा है, जिनसे अलंकारों की शोभा-वृद्धि होती है और फलस्वरूप परोक्ष रूप में रस की भी श्रीवृद्धि होती है। मम्मट के अनुसार उन्होंने 'अस्थिर' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि गुणों की अपेक्षा अलंकारों का होना आवश्यक न होकर गौण है, गुण आवश्यक लक्षण हैं।

1. 'संघटना' शब्द के प्रयोग सें समास-वृत्ति के शास्त्रीय अर्थ को महत्त्व दिया गया है, किंतु काव्य का यही एक निकष नहीं है।
2. विश्वनाथ ने चार रीतियों के विषय में इस प्रकार कहा है—(1) वैदर्भी (इसमें माधुर्य को लक्षित करनेवाले वर्ण तथा लघु समास होते हैं अथवा समासों का अभाव रहता है), (2) गौडी (इसमें ओज को लक्षित करनेवाले वर्णों तथा समासों का बाहुल्य रहता है), (3) पांचाली (इसमें उपर्युक्त वर्णों को छोड़कर अन्य वर्ण तथा पाँच-छह समासोंवाले पद रहते हैं), (4) लाटी अथवा वैदर्भी तथा पांचाली के बीच की रीति। रीतियों का यह विवेचन उनके रूढ़िगत विवेचन से थोड़ा ही भिन्न है, किंतु यथार्थतः मम्मट द्वारा रीतियों को पृथक् रूप में मान्यता न देना समीचीन ही है, क्योंकि वे नवीन सिद्धांत की तीन वृत्तियों अथवा तीन गुणों में आ जाती हैं। विश्वनाथ ने वृत्यनुप्रास के अंतर्गत वृत्तियों का उल्लेख करते हुए रुय्यक के मतानुसार केवल यही कहा है—'रसविषयव्यापारवती वर्ण-रचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद्वृत्त्यनुप्रासः।

विश्वनाथ के सामान्य पक्ष की उपर्युक्त संक्षिप्त रूपरेखा से यह पर्याप्त रूप में सूचित होता है कि वे एक मौलिक लेखक न होकर न्यूनाधिक एक संकलनकर्त्ता ही थे, यद्यपि रस ध्वनि के आधार पर उन्होंने अपने पूर्ण तथा सुबद्ध सिद्धांत की व्याख्या करके कुछ रचनात्मक योग्यता का परिचय दिया है। उन्होंने आनंदवर्धन, मम्मट तथा रुय्यक के ग्रंथों में से बहुत-सी सामग्री का उद्धरण दिया है। कहीं-कहीं उन्होंने अपना विवेक खो दिया है और अपने ही श्लोकों की पुनरावृत्ति की है। वह नई बात को सुंदर ढंग से सदैव नहीं कह पाए हैं और कहीं-कहीं, यद्यपि ऐसा बहुत कम है, उनकी व्याख्या में अशुद्धता तथा असंगति दोष भी हैं। ऐसे तथा अन्य दोषों के होतें हुए भी, संस्कृत काव्य-विद्या के इतिहास में उनका ग्रंथ एक रोचक रचना है, क्योंकि इसमें ध्वनि के आधार पर ही ध्वनि-सिद्धांत को और अधिक विकसित करने का प्रयत्न किया गया है, किंतु ध्वनि के अन्य कट्टरपंथियों ने इस प्रयत्न को एकमत होकर मान्यता नहीं दी। 'काव्य-प्रकाश' की तरह कारिका तथा वृत्ति-रूप में लिखे गए 'साहित्यदर्पण' में एक बड़ा गुण यह भी है कि मम्मट तथा जगन्नाथ के ग्रंथों की अपेक्षा इसकी शैली अधिक सरल तथा कम विवादास्पद है। काव्य-विद्या का यह एक पूर्ण तथा उपयुक्त ग्रंथ है। इसमें नाट्यकला का विवेचन भी सम्मिलित है, अतएव मोटे तौर से अपने विषय का एक सुगमतम पाठ्य-ग्रंथ होने के नाते सदैव ही लोकप्रिय रहा है।

(४)

रुय्यक

रुय्यक इस आचार्य-वर्ग के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण लेखक हुए हैं। वे मम्मट के एकदम पश्चात् हुए हैं और संभवतः उन्होंने मम्मट के ग्रंथ पर एक टीका भी लिखी है। जैसा कि नाम से ही सूचित होता है, उनके ग्रंथ 'अलंकार-सर्वस्व' में अलंकारों का ही विवेचन है। इसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य की अपेक्षा विशिष्ट वैदग्ध्य तथा मौलिक विवेक का परिचय दिया है। इस विषय में उनके योगदान का कितना महत्त्व है, यह इस बात से सूचित होता है कि 'अलंकार-सर्वस्व' के आधार पर ही 'अलंकार' के स्वरूप का निरूपण हुआ है तथा उसके लक्षण भी निश्चित किए गए हैं। कुंतक ने सबसे पहले इस ओर संकेत किया था, किंतु ध्वन्यालोक के रचयिताओं ने इस विषय को अछूता छोड़ दिया था। इसके अतिरिक्त पृथक्-पृथक् अलंकारों के क्षेत्रों अथवा सीमाओं तथा

स्वरूपों को निर्धारित करने में 'अलंकार-सर्वस्व' की सूक्ष्म मीमांसा का बड़ा हाथ रहा है, परिणामस्वरूप, विश्वनाथ, विद्याधर, विद्यानाथ तथा अप्पय्य दीक्षित-जैसे महत्त्वपूर्ण परवर्ती आचार्यों ने इस विषय में उनके विचारों एवं मतों को प्रामाणिक माना है।

रुय्यक का ग्रंथ सूत्र तथा वृत्ति की पद्धति पर लिखा गया है। उन्होंने अपनी वृत्ति के भूमिका-भाग में ही अपने ग्रंथ की योजना का उल्लेख किया है। ध्वनि-मत के अन्य अनुयायियों की तरह उन्होंने भी आरंभ में 'प्रतीयमान अर्थ' का विवेचन किया है और पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का संक्षेप में सर्वेक्षण करते हुए यह सिद्ध किया है कि इन सभी आचार्यों ने प्रतीयमान अर्थ को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया है। किंतु उनका कथन है कि ध्वनि-मत के पूर्ववर्ती आचार्यों के मत के अनुसार प्रतीयमान अर्थ का मुख्य उद्देश्य वाच्यार्थ का अलंकरण करना होता है (वाच्योपस्कार), अतएव वाच्यार्थाश्रित अलंकारों में यह सहज रूप से ही विद्यमान रहता है।[1] भामह, दंडी, उद्भट, वामन तथा रुद्रट का सामान्यतः यही मत है। आनंदवर्धन के परवर्ती, वक्रोक्तिजीवितकार ने ध्वनि के सभी रूपों को उपचार पर आश्रित वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों के अंतर्गत ही माना है। भट्टनायक का कथन है कि मुख्यतः कवि-प्रौढ़ोक्ति द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतीयमान अर्थ काव्य का केवल एक गौण अंग है। मुख्य वस्तु तो रसास्वादन है, जिसकी अनुभूति भोग-शक्ति द्वारा होती है। वह शब्द के अभिधार्थ अथवा सामान्य अर्थ से भिन्न तथा उससे ऊपर होता है। व्यक्ति-विवेककार ने वाच्यार्थ तथा प्रतीयमान अर्थ के परस्पर संबंध को न्याय में लिंग तथा लिंगी के परस्पर संबंध के अनुरूप ग्रहण किया है तथा ध्वनि को अनुमानाश्रित माना है। पूर्वोक्त कोई भी मत ध्वनिकार के मत के अनुसार नहीं है, अतएव, रुय्यक ने ध्वनिकार के मत को निर्विवाद स्वीकार करते हुए अपने कथन का अंत इस लघूक्ति से किया है—'अस्ति तावद् व्यंग्यनिष्ठो व्यंजना-व्यापारः।' उन्होंने काव्य के तीन भागों (अथवा भेदों) अर्थात् ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य तथा चित्र को भी अंगीकार किया है। क्योंकि पूर्वोक्त दो भेदों की चर्चा क्रमशः 'अलंकारमंजरी'[2] (पृ० 15) तथा 'ध्वन्यालोक' में की जा चुकी है,

1. वाच्योपस्कारकत्वं ह्यलंकाराणामात्मभूतत्वं, जयरथ, पृ० 3.
2. अनुमानतः उन्होंने यह ग्रंथ स्वयं रचा है। किंतु जयरथ ने प्रत्यक्ष रूप में ऐसा नहीं कहा है। त्रिवेंद्रम संस्करण में पाठ-भेद है। इसमें 'अलंकार-मंजर्यादर्शितः' के स्थान पर 'कालिदासादि-प्रबंधेषु दर्शितः' पाठ है। 'अलंकार-मंजरी' में विशेष रूप से 'रस-ध्वनि' का विवेचन है, शृंगार-रस पर अधिक बल दिया गया है।

इसलिए रुय्यक ने इस ग्रंथ में बाकी बचे 'चित्रकाव्य' पर ही चर्चा करना अपना उद्देश्य बताया है। इसमें ध्वनिरहित सभी अलंकारों[1] की विस्तृत तथा व्यापक चर्चा स्वाभाविक ही थी। क्योंकि यह विषय 'ध्वन्यालोक' के सिद्धांत के बाहर था और उसमें इसकी सविस्तर चर्चा नहीं की गई थी, इसलिए रुय्यक को अपने पूर्ववर्ती आचार्य के ग्रंथ की पूर्ति करने का अवसर मिल गया।

किंतु कुंतक इस विषय पर अपने ढंग से पहले ही चर्चा कर चुके थे। उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि रस अथवा अवाच्य का विकास करना ही कवि का प्रयोजन होना आवश्यक नहीं है, उसका प्रयोजन तो वाच्य अलंकार के रूप में अभिव्यक्ति में चारुता उत्पन्न करना है। उन्होंने अलंकार का विश्लेषण किया और यह अनुभव किया कि ऐसा अलंकार वास्तव में विशिष्ट अभिव्यक्ति अथवा व्यंजना का ही रूप होता है, जिससे एक विशिष्ट 'वैचित्र्य' अथवा 'विच्छित्ति-विशेष' की उत्पत्ति होती है और जो अंततोगत्वा कवि की प्रतिभा पर ही आश्रित रहता है (कविप्रतिभानिर्वर्तितत्व)।[2] ये दोनों शब्द नए नहीं हैं। प्राचीन आचार्यों ने कवि-प्रतिभा को काव्यात्मक निबंध के लिए अनिवार्य माना है और वामन द्वारा प्रयुक्त 'सौंदर्य' शब्द 'वैचित्र्य' अथवा 'विच्छित्ति' के रूप में फिर से प्रकट हुआ है। आनंदवर्धन ने एक अन्य प्रसंग में 'उक्ति-वैचित्र्य' की चर्चा की है (पृ० 243), और संभवतः कुंतक से प्रभावित होकर मम्मट ने कहा है कि 'अलंकार' स्वयं 'वैचित्र्य' ही है। अभिनवगुप्त ने 'उपमा-विच्छित्ति' के अनंत भेदों का कथन किया है (पृ० 5)। एक अन्य स्थल (पृ० 8) पर उन्होंने इस शब्द को 'कामनीयक' अथवा 'चारुत्व-हेतु' के लगभग पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त किया है।

रुय्यक ने इस विषय पर किसी सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया है, किंतु उन्होंने अप्रकट रूप में कुंतक की मीमांसा को ग्रहण करते हुए उसे पृथक्-पृथक् अलंकारों के सूक्ष्म विवेचन में अनुप्रयुक्त किया है। विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित तथा जगन्नाथ ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है। रुय्यक ने इस विचार को कुंतक से ग्रहण किया है, यह बात जयरथ ने एक ऐसे संदर्भ में कही है, जहाँ टीकाकार ने इसी कारण 'यथासंख्य' को एक अलंकार न मानते हुए ऐसा कहा है—'एतच्च वक्रोक्तिजीवित-कृता सप्रपंचमुक्तमित्यस्माभिर्नायस्तम्' (पृ० 149)। रुय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व' में 'विच्छित्ति' शब्द का लक्षण नहीं दिया

1. ऊपर देखिए, अध्याय 5, पृ० 155.
2. ऊपर देखिए अध्याय 6, पृ० 170-71 इत्यादि।

है, किंतु 'व्यक्तिविवेक' की टीका में, जिसका उन्हें लेखक कहा गया है, उन्होंने इस प्रकार कहा है (पृ० 44) 'तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलंकार:, विच्छित्तिश्च कविप्रतिभोल्लासरूपत्वात्कविप्रतिभोल्लासस्य आनंत्यादनंतत्वं भजमानो न परिच्छेत्तुं शक्यते' (तथा शब्द एवं अर्थ की विच्छित्ति ही अलंकार होता है, विच्छित्ति का यथार्थ स्वरूप-निरूपण करना असंभव है, क्योंकि यह कवि-प्रतिभा के उल्लास के आनंत्य के समान अनंत प्रकार की होती है)। स्वयं आनंदवर्धन (अध्याय 5) तथा कुंतक ने काव्य-कल्पना के आनंत्य अथवा असीमता को स्वीकार किया है।

रुय्यक ने कवि की रचनात्मक कल्पना से उत्पन्न इस विच्छित्ति को अलंकार का निकष माना है, अथवा, दूसरे शब्दों में, एक उक्ति, कवि की विशिष्ट संकल्पना की चारुता से अनुप्राणित होने पर काव्यात्मक अलंकार बन जाती है। इस प्रकार, न्याय के अनुमान पर आश्रित उक्ति प्रत्यक्ष रूप में 'अनुमान' नामक अलंकार नहीं हो सकती, जब तक कि उसमें विच्छित्ति का समावेश न हो, अथवा, 'संदेह' अलंकार में संदेह का भाव कवि-कल्पना-जन्य होना चाहिए, यह सामान्य संदेह न होकर 'काव्यात्मक' संदेह होना चाहिए। जयरथ ने इस सिद्धांत को मूल ग्रंथ के रचयिता की अपेक्षा अपनी टीका में अनेक स्थलों पर अधिक स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने बारंबार यह कहा है कि कवि-प्रतिभा पर आश्रित ('कवि-कर्म' अथवा 'कविप्रतिभा') विच्छित्ति-विशेष ही अलंकार का प्रधान अंश होता है (पृ० 144, 149-50 183), और तदनुसार सभी तथाकथित अलंकार मान्य अथवा अमान्य हैं।[1]

परवर्ती ग्रंथों में इस सिद्धांत को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया है। अप्पय्य दीक्षित ने अपने 'चित्रमीमांसा' (पृ० 6) नामक ग्रंथ के आरंभ में इसी सिद्धांत की व्याख्या की है और जगन्नाथ ने बारंबार यह कहा है—'अलंकाराणां भणिति-विशेष-रूपत्वम्'। विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने 'भणिति-विशेष', 'वैचित्र्य' तथा 'विच्छित्ति' के अतिरिक्त 'चारुता', 'हृदयत्व', 'चमत्कारित्व' तथा 'सौंदर्य' शब्दों का लगभग इसी अर्थ में प्रयोग किया है। जगन्नाथ ने 'विच्छित्ति-विशेष' का अधिक सूक्ष्म रूप से निरूपण करते हुए कहा है (पृ०

1. जेकोबी ने GN, 1908 में अपने Ueber Begriff und Wesen der poetischen Figuren in der indischen poetik शीर्षक लेख में तथा इस ग्रंथ के लेखक ने 'वक्रोक्तिजीवित' द्वितीय सं० 1928 की भूमिका के पृ० xlvi-lviii पर कुछ विस्तार से इस विषय की चर्चा की है।

466-470) कि यह काव्य की रचनात्मक शक्ति में काव्यात्मक उल्लास के समान है, अथवा विच्छित्ति-विशेष वह चारुता अथवा सौंदर्य है, जो काव्यप्रतिभा के उल्लास से उत्पन्न होता है और जिसके फलस्वरूप काव्यात्मक अलंकारों की अपनी-अपनी विशिष्टता स्पष्ट हो जाती है।

पृथक्-पृथक् अलंकारों की क्या-क्या सीमाएँ हैं और उनके क्या-क्या लक्षण हैं, इस विषय की सूक्ष्म मीमांसा होने के कारण भी रुय्यक का ग्रंथ बड़ा महत्त्वपूर्ण है, इसमें अलंकारों के लगभग अस्सी मुख्य भेदों का विवेचन है। सरसरी तौर से देखने पर रुय्यक को अलंकार-मत का अनुयायी कहा जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि रुय्यक की उद्भट के प्रति बड़ी श्रद्धा थी, जैसा कि जयरथ ने सूचित किया है, रुय्यक के पिता तिलक ने उद्भट के ग्रंथ पर 'विवेक' अथवा 'विचार' लिखा था। स्वयं रुय्यक का कथन है (और जयरथ तथा समुद्रबंध ने भी इस बात की पुष्टि की है)[1] कि मैंने चिरंतन आचार्यों के मत का अनुसरण किया है (यथा, चिरंतन-मतानुसृतिः, पृ० 205), जिससे उनका अभिप्राय प्रत्यक्ष रूप में भामह तथा उद्भट के प्राचीन अलंकार-मत से है, किंतु स्वयं उन्होंने इस शास्त्र में हुई उन्नति को ध्यान में रखते हुए पूर्ववर्ती आचार्यों के मत में यथास्थान परिवर्तन अथवा परिवर्धन किया है। रुय्यक द्वारा उद्भट के 'श्लेष' अलंकार का विवेचन इसका एक नमूना माना जा सकता है। जैसा कि स्वयं रुय्यक तथा उनके टीकाकारों ने कहा है, श्लेष के भेदों तथा संकर अलंकार में श्लेष तथा अन्य अलंकारों के परस्पर संबंध के विषय में मतभेद उद्भट के समय से ही आरंभ हुआ था। रुय्यक ने इस अलंकार के 'शब्द-श्लेष' तथा 'अर्थ-श्लेष' (तथा 'उभय-श्लेष') नामक भेदों को स्वीकार किया है और कहा है कि ऐसा भेद-निरूपण 'योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारः' सूत्र को आधार मानकर किया गया है। उन्होंने मम्मट के इस मत का खंडन किया है कि यह भेद-निरूपण 'शब्द-श्लेष' के 'परिवृत्ति-असह' होने के कारण है, जबकि 'अर्थ-श्लेष' परिवृत्ति-सह है। मम्मट का कथन है कि यह निर्धारित करने के लिए कि अमुक अलंकार अर्थाश्रित है अथवा शब्दाश्रित है, 'आश्रयाश्रयिभाव' को छोड़कर 'अन्वय' तथा

---

1. जयरथ ने पृ० 72, 83, 103, 172 इत्यादि पर, रुय्यक द्वारा 'चिरंतन-मत' के अनुसरण तथा पृ० 10, 20, 34, 87, 93, 97, 98, 125, 126, 150 इत्यादि पर उद्भट के मत का अनुसरण करने का उल्लेख किया है। रुय्यक ने पृ० 3,7, 23, 59, 82, 86, 92, 123, 126, 148, 174, 191 इत्यादि अनेक स्थलों पर उद्भट के मत का उल्लेख किया है।

'व्यतिरेक' को ही निकष मानना चाहिए। तथापि, रुय्यक के मतानुसार, 'शब्द श्लेष' वहाँ होता है, जहाँ एक ही पद का भिन्न-भिन्न प्रकार से विच्छेद करने पर भिन्न-भिन्न दो अर्थों का बोध होता हो। जैसा कि शब्दों के स्वराघात के भेद तथा उनके उच्चारण-श्रम से सूचित होता है, उनमे वास्तव में भिन्नता होती है। जिस प्रकार पालिश की गई लकड़ी एक ही वस्तु प्रतीत होती है, यद्यपि वास्तव में उस पर लाख लगी होती है, उसी प्रकार उन शब्दों में भी साम्य अथवा श्लेष दिखाई देता है। जहाँ उक्ति एक ही होती है और उसका स्वराघात तथा उच्चारण-श्रम भी एक ही होता है, किंतु अर्थ दो होते हैं, वहाँ अर्थ-श्लेष होता है, जैसे एक ही वृंत अथवा डंठल से दो फल लगे रहते हैं। जहाँ उपर्युक्त दोनों अवस्थाएँ विद्यमान हों, वहाँ 'उभय-श्लेष' होता है।[1] अन्य अलंकारों में श्लेष की विद्यमानता के विषय में यह प्रश्न उठाया गया है कि श्लेष को (1) सहवर्ती अलंकार से श्रेष्ठ माना जाए तथा फलस्वरूप उस अलंकार के अभाव को स्वीकार कर लिया जाए, अथवा (2) श्लेष को सहवर्ती अलंकार के समान ही शक्तिशाली मानते हुए दोनों के संकर को स्वीकार कर लिया जाए, अथवा (3) श्लेष को अशक्त मानते हुए अन्य अलंकारों का सह-वर्ती होने पर उसे प्रधानता न दी जाए।[2] उद्‌भट ने प्रथम पक्ष को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार जहाँ श्लेष का भाव हो (यथा, उपमा के साथ) वहाँ अन्य अलंकार की 'प्रतिभा' ही होती है, यहाँ वास्तविक अलंकार उपमा न होकर श्लेष होता है। रुय्यक ने इस पर आपत्ति की है। मम्मट की तरह से उन्होंने भी कहा है कि ऐसे विरोधी स्थलों पर उपमा के साधर्म्य के कारण उपमा अलंकार की ही सिद्धि होती है, क्योंकि गुण-साम्य अथवा अवस्था-साम्य के रूप में साधर्म्य, सहवर्ती श्लेष द्वारा सूचित शाब्दिक साम्य में विद्यमान रहता है। अतएव, उपमा का प्राधान्य है, गौण रूप में विद्यमान श्लेष उपमा का ही उपकारक है। ऐसे स्थलों पर श्लेष के बिना साधर्म्य का बोध नहीं होता तथा बिना साधर्म्य के उपमा हो ही नहीं सकती। इस प्रकार यदि दोनों अलंकार साथ-साथ हों तथा एक दूसरे के उपकारक रहें तो श्लेष तथा उपमा का 'संकीर्णत्व' सिद्ध होता है।

---

1. विश्वनाथ ने मम्मट का अनुसरण किया है, किंतु विद्याधर इस विषय में रुय्यक की व्याख्या से सहमत हैं।
2. जगन्नाथ ने पृ० 393 पर इस विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—अयं चालंकारः प्रायेणालंकारांतरस्य विषयमभिनिविशते, तत्र किमस्य बाध-कत्वं स्यादाहोस्वित् संकीर्णत्वमुताहो बाध्यत्वमिति।

रुय्यक अलंकार-मत से प्रभावित रहे हैं, यह इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। अधिक उदाहरण देना अनावश्यक है, किंतु यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने प्राचीन मत को निर्विवाद स्वीकार नहीं किया। जिस प्रकार मम्मट तथा विश्वनाथ ने क्रमशः वामन तथा रस-विषयक आचार्यों का मतानुसरण किया, उसी प्रकार रुय्यक ने भी प्राचीन आचार्यों के मत का पालन किया है। उनका उद्देश्य परवर्ती आचार्यों तथा प्राचीन आचार्यों के मत में समाधान स्थापित करना था, क्योंकि प्राचीन आचार्यों के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी। संभवतः इसीलिए उन्होंने वक्रोक्तिजीवितकार द्वारा प्रतिपादित अलंकार के स्वरूप को ग्रहण (अथवा स्वीकार) करते हुए तदनुसार पृथक्-पृथक् अलंकारों की सूक्ष्म मीमांसा की, क्योंकि 'ध्वन्यालोक' में काव्यविद्या के इस अंग पर किया गया विवेचन पर्याप्त नहीं था, किंतु रुय्यक को वक्रोक्तिजीवितकार का अनुयायी नहीं कहा जा सकता,[1] क्योंकि रुय्यक ने स्वयं अपने-आप को ध्वनि-वादी कहा है, इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होंने उद्भट तथा कुंतक के ग्रंथों में से सामग्री का उद्धरण किया है, तथापि उन्हें प्रत्यक्ष रूप में अलंकार-वादी भी नहीं कहा जा सकता।

(५)

विद्याधर तथा विद्यानाथ

मम्मट तथा रुय्यक के पदचिह्नों पर चलनेवाले अधिकांश आचार्यों के लिए अब कोई नया काम नहीं रह गया था। नवीन सिद्धांत का सूक्ष्म विवेचन हो ही चुका था, रचनात्मक कार्य के लिए प्रकट रूप में अब कोई अवसर नहीं बचा था, आलोचना-समालोचना का कार्य भी समाप्तप्राय था। किसी लेखक में ऐसी प्रतिभा भी नहीं थी कि आमूल नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन कर पाता। इसी काल में मुसलमानों के आरंभिक आक्रमण भी हुए, और जैसी संभावना भी थी, इस काल में सभी प्रकार के चिंतन-अनुशीलन का ह्रास हुआ और तदनुसार बौद्धिक, सामाजिक तथा राजनैतिक कार्य-क्षेत्र में सर्वतोमुखी पतन हुआ। अनेक परवर्ती शतियों में बहुत से टीकाकार हुए हैं। केवल मम्मट के ग्रंथ पर कम-से-कम सत्तर लेखकों ने टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाकारों का एकमात्र काम था पहले से ही प्रतिष्ठापित नियमों की व्याख्या तथा यत्र-तत्र छोटे-मोटे ऐसे विवरण देना, जो पूर्ववर्ती आचार्यों से छूट गए थे। नवीन

1. जैसा कि पृ० 108 पर हरिचंद शास्त्री ने कहा है।

सिद्धांत को सुबोध बनाने तथा उसे नया रूप देने का भी यत्न किया गया और फलस्वरूप विद्याधर की 'एकावली' तथा विद्यानाथ का 'प्रतापरुद्र-यशो-भूषण' नामक ग्रंथ प्रकाश में आए। इन ग्रंथों की मुख्य विशेषता यह है कि इनमें सामग्री का संकलन सुव्यवस्थित रूप में किया गया है। इन ग्रंथों में तथा इनके पश्चात् लिखे गए जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के ग्रंथों में काव्यविद्या की मुख्य समस्याओं पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। अलंकारों का अत्यंत सूक्ष्म रीति से विश्लेषण ही इन ग्रंथों की एकमात्र विशेषता है। उदाहरणार्थ, विद्याधर ने अपने ग्रंथ की रचना में मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का अनुकरण किया है। इसमें कारिका तथा वृत्ति दोनों ही विद्यमान हैं। काव्यालंकारों के विवेचन में उन्होंने मुख्यतः रुय्यक का अनुसरण किया है।[1] काव्य को ध्वनिप्रधान[2] बताने, काव्य-प्रयोजन का निरूपण करने तथा कवि के आवश्यक गुणों का उल्लेख करने के पश्चात् उन्होंने प्रथम अध्याय में ध्वनि का प्रतिपादन किया है। इसी संदर्भ में उन्होंने किंचित् विस्तार से ध्वनि के अस्तित्व को न माननेवाले अर्थात् अभाववादियों तथा भक्तिवादियों के मतों का खंडन किया है। इस विषय में उन्होंने अधिकांशतः 'ध्वन्यालोक' तथा 'काव्यप्रकाश' से सहायता ली है। दूसरे अध्याय में शब्द तथा अर्थ की तीन वृत्तियों यथा अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का निरूपण है, तीसरे अध्याय में ध्वनि-काव्य, अर्थात् ऐसा काव्य, जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, का भेद-निरूपण है, इसी प्रसंग में असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के आठ-भेदों के अंतर्गत इसके विभिन्न सिद्धांतों का विवेचन भी किया गया है। काव्य के दूसरे भेद, अर्थात् 'गुणीभूत-व्यंग्य काव्य' का निरूपण चौथे अध्याय में किया गया है। पाँचवें अध्याय में गुणों का लक्षण-निरूपण है, गुणों तथा अलंकारों में परस्पर भेद किया गया है। अध्याय के अंत में रीतियों की चर्चा है और प्रसंगवश तत्संबंधी प्राचीन मत का खंडन तथा मम्मट के पक्ष का सामान्य रूप से समर्थन है। अगले अध्याय में दोषों का निरूपण है, अंतिम दो अध्यायों में क्रमशः शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की चर्चा है। इसमें सामान्यतः रुय्यक के मत का अनुसरण किया

1. इस विषय में वे विश्वनाथ, विद्यानाथ इत्यादि आचार्यों से सहमत हैं। उनके 'विचित्र', 'विकल्प' अथवा 'उल्लेख' इत्यादि अलंकारों के लक्षण अवलोकनीय हैं। मम्मट ने इनका उल्लेख नहीं किया है।
2. विद्याधर ने अपने ग्रंथ के प्रथम अध्याय में 'ध्वन्यालोक' का अनुसरण खूब किया है। उसकी कुछ कारिकाएँ, यथा, अध्याय 1, कारिका 6, 13 इत्यादि 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं की व्याख्या-मात्र हैं।

गया है। विद्याधर के ग्रंथ के इस संक्षिप्त विषय-वस्तु-विवरण से परवर्ती ग्रंथों की विषय-वस्तु तथा उनका स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा अर्थात् उनकी भी रूपरेखा इसी प्रकार है। उनमें भी 'काव्यप्रकाश' के ही विषयों का विवेचन किया गया है, कहीं-कहीं तो उन ग्रंथों के अंतर्गत विभिन्न अध्याय, विषय-वस्तु की दृष्टि से, 'काव्यप्रकाश' के विभिन्न उल्लासों के समान ही हैं।

विद्यानाथ के ग्रंथ का विषय-क्षेत्र अधिक व्यापक है। यह ग्रंथ भी कारिका तथा वृत्ति के रूप में लिखा गया है। इसकी विषय-व्यवस्था कुछ भिन्न है, किंतु सैद्धांतिक दृष्टि से संभवतः यह अधिक रोचक नहीं है। इसके नौ 'प्रकरणों' में अधिकांशतः विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' के दस 'परिच्छेदों' की विषय-वस्तु का ही विवेचन है। विद्याधर की तरह विद्यानाथ ने मुख्यतः मम्मट के ही मत का अनुसरण किया है, किंतु गुणों के विवेचन में उन्होंने भोज तथा अलंकारों के विवेचन में रुय्यक के मत का पालन करना श्रेष्ठ समझा है। अपने ग्रंथ की रचना की आवश्यकता के विषय में लेखक ने कहा है कि यद्यपि प्राचीन लेखकों ने इस विषय के विभिन्न अंगों का विवेचन किया है, तथापि उनमें से किसी ने भी नायक का वर्णन नहीं किया है। क्योंकि किसी भी निबंध का महत्त्व उसके नायक के गुणों के चित्रण पर आश्रित रहता है, अतएव उन्होंने अपने ग्रंथ के 'नायक-प्रकरण' नामक प्रथम प्रकरण में नायक तथा नायिका के गुणों तथा उनके सहायकों का वर्णन किया है। इसके पश्चात् 'काव्य-प्रकरण' में उन्होंने काव्य-लक्षण, काव्यांगों, रसोपकारक वृत्तियों तथा रीतियों, 'शय्या', 'पाक' तथा काव्य के भेदों का सामान्य विवेचन किया है। यह विचित्र बात है कि विद्यानाथ द्वारा प्रतिपादित काव्य का लक्षण (गुणालंकार-सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ। गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः।) आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण से बहुत मिलता-जुलता है। कुछ परिवर्तित रूप में इसे विद्यानाथ के ग्रंथ में उक्त स्थल पर उद्धृत किया गया है। विद्यानाथ ने 'शब्द' तथा अर्थ को काव्य का 'शरीर' तथा 'व्यंग्य' को काव्य की 'आत्मा' कहा है। 'गुणों' को सामान्यतः वीरता इत्यादि प्राकृतिक गुणों तथा 'अलंकारों' को कंकण इत्यादि आभूषणों के समान बताया है। रीतियों को 'आत्मोत्कर्षविहाः स्वभावाः' कहा है। शब्द तथा अर्थ की तीन शक्तियों अथवा वृत्तियों की चर्चा करने के पश्चात् उन्होंने पृ० 52 इत्यादि पर 'व्यंजना-वृत्ति' का विवेचन किया है तथा पृ० 77 इत्यादि पर आनुषंगिक रूप से ध्वनि के 5304 भेदों का उल्लेख किया है। तथापि, भोज के मत का अनुसरण करते

हुए उन्होंने 'ध्वनिमत्ता' को 'गांभीर्य' नामक गुण का लक्षण कहा है। 'रचनाया अपि रस-व्यंजकत्वं प्रसिद्धं' अपने इस कथन के समर्थन में उन्होंने रसात्मक ध्वनि पर अलग से विस्तार किया है। 'नाटक-प्रकरण' नामक तीसरे अध्याय में रूपक पर विचार करते और नाटक को रूपक का सबसे महत्त्वपूर्ण भेद मानते हुए उसकी कथावस्तु का पांच संधियों में विश्लेषण किया गया है। अधिकांश आचार्यों ने इस विषय की चर्चा नहीं की है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में यह अध्याय धनंजय के 'दशरूपक' पर आधारित है, तथापि नाट्यविद्या के परवर्ती साहित्य में इसका बड़ा महत्त्व है। इसके अतिरिक्त यह अध्याय इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें रूपक के लक्षणों के उदाहरण-स्वरूप लेखक के संरक्षक राजा प्रतापरुद्र की प्रशस्ति के रूप में एक आदर्श रूपक भी दिया गया है। 'रस-प्रकरण' नामक अगले अध्याय में रस के स्वरूप तथा रस के विभिन्न सिद्धांतों का वर्णन है। 'दोष-प्रकरण' तथा 'गुण-प्रकरण' अगले दो अध्यायों के नाम हैं। अंतिम दो अध्यायों में शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा मिश्रालंकार-विषयक विवेचन है।

यह विचित्र बात है कि विद्यानाथ ने भोज के मत का अनुसरण करते हुए चौबीस गुणों का उल्लेख किया है। इन दोनों लेखकों ने गुणों के एक-से ही लक्षण बताए हैं। इनमें इन गुणों का उल्लेख किया गया है—(1) श्लेष—अर्थात् शब्द-श्लेष (संधि की असंलक्ष्यता के कारण; श्लेष कर्ण-कटु नहीं होना चाहिए और इसमें समस्थानिक वर्णों का ही प्रयोग होना चाहिए)। (2) प्रसाद—शब्दों का ऐसा चयन, जिससे अभिप्राय का तत्काल बोध हो जाए। (3) समता—शैली की समता (क्योंकि समता प्रायः दोष भी हो जाता है, इसलिए आचार्य मम्मट ने इसे गुण नहीं माना है)। (4) माधुर्य—संधि के न होने पर पृथक्-पदत्व, अर्थात् शब्दों के पृथकत्व के कारण स्पष्टता। (5) सौकुमार्य—कर्ण-सुकुमार वर्ण-प्रयोग के कारण सुकुमारता। (6) अर्थ-व्यक्ति—वाक्य के सभी प्रकार से पूर्ण होने के कारण अर्थ की स्पष्टता। (7) कांति—शैली की चारुता; विद्यानाथ के टीकाकार रत्नेश्वर ने इसकी व्याख्या इन शब्दों में की है—अप्रतिहतपदैरारंभः संदर्भस्यैव कांतिः—'कुसुमस्य धनुः' इति प्रहतं, 'कौसुमं' इत्यप्रहतं, 'गुरुत्वे इति प्रहतं' 'गौरव' इति अप्रहतमित्यादि—अस्ति तु तुल्येऽपि वाचकत्वे पदानां कश्चिदाभ्यंतरो विशेषो यमधिकृत्य किंचिदेव प्रयुंजते महाकवयः, न तु सर्वम्। (8) औदार्य—जहाँ विकट अक्षरों (जगन्नाथ ने इसे 'कठिन वर्ण-संघटना-रूप' कहा है) के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है, मानो पद नृत्य कर

रहे हैं (नृत्यद्भिरिव पदैर्यद्वाक्यरचना)। (9) उदात्त—प्रशंसावाचक शब्द-प्रयोग (तुलना कीजिए, अग्निपुराण 345-9), कुमार स्वामी का कथन है कि उदात्त गुण 'अनुचितार्थ' नामक दोष का अभाव मात्र है। (10) ओज—समास-प्रयोग के कारण सशक्त पद-विन्यास। (11) सौशब्द्य—नाम तथा धातु-रूपों के प्रयोग में कुशलता (तुलना कीजिए, भामह i. 14-15, राजशेखर पृ० 20)। (12) प्रेयस्—प्रिय-वस्तु-कथन (भामह, दंडी तथा कुछ अन्य आचार्यों ने इसे गुण न मानकर अलंकार ही माना है), टीकाकार के कथनानुसार प्रेयस् गुण 'परुष' नामक दोष का अभाव मात्र है (ऊपर देखिए, पृ० 15, पादटिप्पणी 3)। (13) और्जित्य—पदविन्यास की संहति।[1] (14) समाधि—एक वस्तु के गुण-धर्म का अन्य वस्तु पर आरोपण (इसमें दंडी द्वारा प्रतिपादित 'समाधि' के लक्षण की प्रतिध्वनि मिलती है), उदाहरण के लिए एक निर्जीव वस्तु के गुणों का सजीव पर आरोपण (कुंतक ने इसे 'उपचारवक्रता', तथा अन्य आचार्यों से इसे 'रूपक' अलंकार कहा है)। (15) विस्तार—कथित का विस्तृत वर्णन। (16) सम्मितत्व—केवल अर्थ-तुल्य शब्दों का ही प्रयोग, अधिक का नहीं, अर्थात् शब्द तथा अर्थ की तुल्यता (अर्थस्य पदानां च तुलाविधृत्वात्तुल्यत्वेन सम्मितत्वं)। (17) गांभीर्य—ध्वनिमत्ता। (18) संक्षेप। (19) सौक्ष्म्य—अर्थ की सूक्ष्मता। (20) प्रौढ़ि—अर्थ की प्रौढ़ता (प्रौढ़ि गुण आगे दिए गए 'पाक' गुण के अंतर्गत आता है)। (21) उक्ति—उक्ति-लाघव। (22) रीति—शैली की एकरूपता; वाक्य अथवा विषय का जिस शैली में आरंभ किया जाय, उसी में उसे समाप्त भी किया जाए (यह गुण वामन के 'समता' गुण के अनुरूप है)। (23) भाविक—वाक्य-गत भाव के अनुसार (भावतः) वाक्य का विन्यास। (24) गति—दीर्घ तथा ह्रस्व स्वरों के

---

1. और्जित्य को 'विसंधि' दोष का अभाव कहा गया है। भरत तथा भामह ने भी इस दोष का उल्लेख किया है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—विसंहितो विरूपो वा यस्य संधिः। ॒मारस्वामी ने 'विसंहितः' की व्याख्या इस प्रकार की है—'विगता संहिता वर्णानां परस्परसंनिकर्षो यत्र' तथा 'विरूपः' को केवल 'वर्ण-कठोरः' कहा है। अतएव 'संहिता' का अर्थ है वर्णों की ऐसी संहति अथवा घनिष्ठ सान्निध्य, जिससे व्याकरण-सम्मत कर्ण-मधुर पद-विन्यास की सिद्धि हो। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ (क) संधि नहीं होती अर्थात् जहाँ विश्लेष होता है, तथा (ख) जहाँ संधि कर्ण-कठोर अथवा 'कष्ट' होती है। मम्मट ने इसका एक तीसरा रूप भी बताया है (पृ० 331 इत्यादि) जहाँ संधि से किसी अश्लील अर्थ का बोध होता हो। 'प्रतापरुद्र' पृ० 73-75 पर त्रिवेदी की टिप्पणी का अवलोकन करें।

प्रयोग के कारण सुरम्यता (सुरम्यत्वं स्वरारोहावरोहयोः; यहाँ 'स्वरारोह' का अर्थ 'दीर्घाक्षर-प्रायत्व' बताया गया है; 'स्वरावरोह' इसका विपर्यय है)।[1]

विद्याधर तथा विद्यानाथ ने जिन 'पाक' तथा 'शय्या' सिद्धांतों का उल्लेख किया है, उनका विकास व्यंजना अथवा अभिव्यक्ति की चारुता को महत्त्व दिए जाने के कारण हुआ था। व्यंजना, काव्यात्मक प्रतिभा के आश्रित होती है। काव्य शैली, अलंकार इत्यादि विषयों का विवेचन इसी दृष्टि से हुआ है। 'शय्या' एक प्राचीन शब्द है। बाणभट्ट ने अपने ग्रंथ 'कादंबरी' के एक आरंभिक श्लोक में इस शब्द का प्रत्यक्षतः उक्त अर्थ में ही प्रयोग किया है। अग्निपुराण में 'मुद्रा' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विद्याधर तथा विद्यानाथ ने अभिव्यक्ति के विशिष्ट गुण के रूप में इसे और अधिक विकसित किया है। शय्या में शरीर के शयन के समान शब्दों की पारस्परिक उपयुक्तता ही 'शय्या' का लक्षण कहा गया है, यही साम्य शय्या शब्द की व्युत्पत्ति का भी सूचक है। जैसा कि मल्लिनाथ का कथन है, शब्दों की पारस्परिक अथवा अन्योन्य मैत्री इतनी घनिष्ठ होती है कि उनके स्थान पर पर्यायवाचक शब्दों का भी प्रयोग नहीं हो सकता। यह शब्दों की अविकार्यता का सिद्धांत है, जो यथोचित परिवर्तन-सहित फ्लॉबेयर (Flaubert) के अर्ध-प्लेटोनिक सिद्धांत से कुछ-कुछ मिलते-जुलते सिद्धांत का स्मरण करा देता है। वाल्टर पेटर ने इस सिद्धांत का विकास किया था। इसके अनुसार प्रत्येक अर्थ को व्यक्त करने के लिए निश्चित शब्द होता है। पाक-सिद्धांत का इस सिद्धांत से बड़ा साम्य है। 'पाक' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'पक्वता', 'परिपाक' अथवा 'फलन' और यह शब्द आचार्य वामन-जितना प्राचीन है। उन्होंने वैदर्भी रीति से उत्पन्न तथा सहृदय के चित्त को आह्लादित करनेवाले पाक के विषय में कहा है कि इससे शब्द का सौंदर्य बढ़ जाता है और असत् भी सत् प्रतीत होने लगता है। एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा है (i. 3-15) कि 'शब्दपाक' वहाँ होता है, जहाँ पदों का न्यास ऐसा होता है कि उनका उद्धरण नहीं किया जा सकता अर्थात् जहाँ शब्द इस प्रकार चुनकर रखें जाएँ कि उन्हें हटाया न जा सके अर्थात् उनके स्थान पर पर्यायों का प्रयोग न हो सके। परवर्ती आचार्यों ने इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए कहा है कि (1) शब्द-पाक, जैसा कि वामन ने कहा है, शब्द तथा

1. अग्निपुराण में इनमें से अधिकांश गुणों का उल्लेख मिलता है, किंतु वहाँ इनके वर्गीकरण तथा स्वरूप-लक्षण में कुछ भिन्नता है। अध्याय 3.5 का अवलोकन करें तथा ऊपर पृ० 183 भी देखें।

अर्थ की अन्योन्य मैत्री पर आश्रित अभिव्यक्ति की परिपक्वता का द्योतक है, तथा (2) अर्थ-पाक के अनेक भेद होते हैं और इसका परिपाक विभिन्न काव्यात्मक रसों के आस्वादन के फलस्वरूप होता है। राजशेखर के कथनानुसार मंगल के मत में 'पाक' केवल 'सौशब्द्य' अथवा 'तिङां सुपां च व्युत्पत्तिः' (संज्ञा तथा क्रिया-प्रयोग में कुशलता, भामह i. 14-15 से तुलना कीजिए) है। विद्याधर ने केवल उपयुक्त 'अर्थपाक' को ही स्वीकार किया है, किंतु उन्होंने अन्य सिद्धांतों का भी उल्लेख किया है, जिनमें 'पाक' को 'पद-व्युत्पत्ति' (मंगल के मतानुसार) अथवा 'पद-परिवृत्तिवैमुख्य' (वामन के मतानुसार) कहा गया है। विद्यानाथ ने इसी 'पद-परिवृत्ति-वैमुख्य' को 'शय्या' कहा है और अर्थगांभीर्य को पाक का लक्षण बताया है। भोज ने इसे 'प्रौढ़ी' बताते हुए 'शब्द गुण' के रूप में इसका उल्लेख किया है।

इस विषय पर राजशेखर द्वारा की गई पूर्ववर्ती आचार्यों की मत-चर्चा (पृ० 20) बहुत रोचक तथा उल्लेखनीय है। आचार्यों के प्रश्न 'पाक क्या है ?' के उत्तर में मंगल ने कहा है, 'पाक परिणाम है।' आचार्यों का प्रश्न है, 'परिणाम क्या है ?' मंगल का उत्तर है, 'संज्ञा तथा क्रिया के प्रयोग में कुशलता परिणाम है।' अतएव पाक, 'सौशब्द्य' है। आचार्य का कथन है कि शब्दों के प्रयोग में स्थिरता ही पाक है। वामन का कथन है (i. 3-15) कि 'जब तक मन स्थिर नहीं होता, तब तक पद अथवा शब्द का आधान (रखना) तथा उद्धरण (हटाना) होता रहता है, स्थिरता स्थापित हो जाने पर तो सरस्वती सिद्ध हो जाती है (अर्थात् रचना सफल हो जाती है)। अतएव वामन के मतानुयायियों का कथन है, 'जहाँ पद परिवृत्तिसहिष्णुता को त्याग देते हैं, वही 'पाक' (अवस्था) है।' अतएव यह कहा गया है (वामन, वही) —'शब्दन्यास-निष्णात (शब्द के प्रयोग में निपुण) विद्वानों ने 'शब्दपाक' उसे कहा है, जहाँ शब्द (पर्याय द्वारा) परिवर्तन की सहिष्णुता को त्याग देते हैं।' किंतु अवंतिसुंदरी का मत है कि शब्दों की यह अशक्ति 'पाक' नहीं है। एक ही विषय को लेकर महाकवियों के विभिन्न (अनेक) पाठों में परिवक्ता होती है, अतएव रसोपयुक्त शब्द तथा अर्थ-बद्ध रचना ही पाक है। अतएव यह कहा गया है—'मेरे मतानुसार 'वाक्य पाक' वह है, जहाँ गुण, अलंकार, रीति तथा उक्ति के अनुसार शब्द तथा अर्थ का सरस गुंफन किया गया हो।' तथा 'वक्ता भी है, किंतु शब्दामृत का प्रवाह कहीं नहीं है।' अतएव यायावरीयों ने कहा है—'कार्य से अनुमेय होने के कारण पाक का बोध शब्द से होता है, इसलिए इसका स्थान अभिधा के अंतर्गत ही है; अतएव पाक सहृदय द्वारा अनुमोदित प्रयोग के आश्रित है।'

उपर्युक्त शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर ने इस बात को स्वीकार किया है कि पाक का बोध मुख्य रूप से शब्द द्वारा ही होता है, और 'सौशब्द्य' अथवा 'शब्द-व्युत्पत्ति' के अर्थ में पाक, मुख्यतः 'अभिधा' के ही अंतर्गत है, किंतु यह 'सहृदय' द्वारा अनुमोदित अथवा अंगीकृत अर्थ के ही आश्रित है। इस संदर्भ में यह कहना समीचीन रहेगा कि 'रस' शब्द के समान 'पाक' शब्द की व्युत्पत्ति से मौलिक आस्वादन का बोध होता है, जिसे आलंकारिक रूप में फलों के पाक अथवा परिपक्वता के समान बताया गया है। क्योंकि विविध परिपक्व फलों के विविध रस होते हैं, अतएव कुछ आचार्यों ने इस सादृश्य को ध्यान में रखते हुए विविध पाकों का भेद-विवेचन विविध फलों के नाम पर किया है। वामन ने ऐसे दो प्राचीन श्लोकों (ii. 2-15 के अंतर्गत) को उद्धृत किया है, जिनमें 'वृतांक-पाक' का वर्णन है। विद्यानाथ ने दो प्रकार के पाक का उल्लेख किया है, (1) द्राक्षा-पाक, अर्थात् द्राक्षा अथवा अंगूर का पाक, जहाँ रस, बाहर-भीतर, दोनों ओर प्रवाहित होता है, तथा (2) नारिकेल-पाक, जो बाहर तो नीरस, किंतु भीतर सरस होता है। रत्नेश्वर ने अपनी टीका में 'सहकार'-पाक, 'वार्ताक'-पाक तथा 'नीलकपित्थ'-पाक नामक विभिन्न पाकों का उल्लेख किया है। राजशेखर ने नौ प्रकार के फलों के नाम पर नौ प्रकार के पाकों का उल्लेख किया है (पृ० 20-21) पिचुमंद (निंब), बदर, द्वीका, वार्ताक, तिंतिडी, सहकार, क्रमुक, त्रपुस तथा नारिकेल।

अध्याय : आठ

नई विचारधारा के कुछ परवर्ती लेखक

(१)

हेमचंद्र और वाग्भट (द्वय)

इस संदर्भ में तीन जैन लेखकों—हेमचंद्र, वाग्भट प्रथम तथा वाग्भट द्वितीय—का सहज ही उल्लेख किया जा सकता है, किंतु उनके लिए कुछ विशेष कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हेमचंद्र के 'काव्यानुशासन' से, जो कि सूत्र और वृत्ति पद्धति से लिखा गया है, तथा उस पर उनकी 'विवेक' नामक टीका [1] से उनके व्यापक पांडित्य का पता लगता है। आठ अध्यायों में लिखा गया यह ग्रंथ काव्यशास्त्र की एक संक्षिप्त दीपिका है। किंतु इसमें मुख्य समस्याओं के संबंध में कहीं भी कोई मौलिकता या स्वतंत्र चिंतन संबंधी ध्यान देने योग्य कोई विशेषता [2] दिखाई नहीं पड़ती। यह ग्रंथ मुख्यतया एक

---

1. इसके मंगल श्लोक के आधार पर सूत्र अंश को 'काव्यानुशासन', वृत्ति अंश को 'अलंकार चूड़ामणि' और संक्षिप्त टीका को, जिसमें वृत्ति की व्याख्या की गई है, 'विवेक' कहा जा सकता है।

2. हेमचंद्र ने काव्यालंकारों का जैसा विवेचन किया है, वह बहुत कुछ विलक्षण है। उन्होंने छः शब्दालंकार बतलाए हैं, जैसे—अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास। अर्थालंकारों की संख्या भी बहुत कम कर दी है और उन्हें 29 तक सीमित कर दिया है, जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति, व्याज-स्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थांतरन्यास, संदेह, अपह्नुति, परावृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रांति, विषम, सम, समुच्चय, परिसंख्या, कर्णमाला और संकर। उन्होंने संसृष्टि को संकर के अंतर्गत माना है और अनन्वय तथा उपमेयोपमा को उपमा के भेद बतलाया है। इसी प्रकार 'अप्रस्तुत प्रशंसा' को अन्योक्ति के अंतर्गत दिखलाया है। अन्य सभी अलंकार जैसे रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्विन् और समाहित, जिनमें रस और भाव का स्पर्श है, छोड़ दिए गए हैं; क्योंकि ये गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य के अंतर्गत आ जाते हैं (मम्मट का भी ऐसा ही मत है)। हेमचंद्र ने परिकर, यथासंख्य, भाविक, उदात्त, आशीष और

संकलन[1] है। हेमचंद्र ने अधिकांश मान्यताप्राप्त परिभाषाओं का न केवल शब्दशः पदान्वय किया है और मम्मट के अधिकांश दृष्टांत-उद्धरणों को निस्संकोच प्रस्तुत किया है, बल्कि उन्होंने बड़ी संख्या में ध्वन्यालोक और लोचन, अभिनव भारती, वक्रोक्तिजीवित, राजशेखर कृत काव्य-मीमांसा तथा अन्य प्रसिद्ध ग्रंथों से प्रकट और अप्रकट रूप में अनेक प्रसंग भी उद्धृत किए हैं। इसमें संदेह नहीं कि हेमचंद्र ने नाट्शास्त्र संबंधी एक अध्याय जोड़ा है, जिसकी विषय-वस्तु मुख्यत: भरत तथा अन्य आचार्यों ने संकलित की थी, किंतु ध्वनि, रस, गुण, दोष और अलंकार के सिद्धांतों को उन्होंने ज्यों-का-त्यों तथा बिना कुछ समीक्षा किए मम्मट से ले लिया है। हाँ, टीका में उन्होंने अवश्य ही इन विषयों पर अन्य लोगों के मतों से उद्धरण लेकर मम्मट के कथनों की पूर्ति की है। यद्यपि उन्होंने यह वृत्ति 'चकारो निरलंकारयोरपि शब्दार्थयोः क्वचित् काव्यत्व स्थापनार्थाः' जोड़ा है, किंतु 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के स्थान पर 'सालंकारो च' रखकर मम्मट द्वारा दी गई वाक्य की अपूर्ण परिभाषा को, संशोधित करने का प्रयास करके शास्त्रीय दृष्टिकोण से अपने को आक्षेप का अधिक पात्र बना लिया है।

यद्यपि प्रथम और द्वितीय वाग्भटों ने मम्मट के मूलपाठ का पर्याप्त उपयोग किया है (वाग्भट द्वितीय ने हेमचंद्र के पाठों से विशेष रूप सें प्रसंग लिए हैं), किंतु उन्होंने ध्वनि को स्वीकार नहीं किया है और इस संदर्भ में उन्होंने प्राक्-

---

प्रत्यनीक का वर्णन नहीं किया है। इसका कारण उन्होंने पृ० 292-94 पर दिया है। फिर भी हेमचंद्र ने कुछ अलंकारों का वर्णन ऐसे व्यापक रूप में किया है कि उनमें कुछ प्रतिष्ठित अलंकार भी आ जाते हैं। उदाहरणार्थ उनके दीपक के अंतर्गत तुल्ययोगिता अलंकार आ जाता है। परावृत्ति के अंतर्गत मम्मट द्वारा वर्णित पर्याय और परवृत्ति आ जाते हैं और निदर्शन के अंतर्गत दूसरे लेखकों द्वारा वर्णित प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत और निदर्शना भी आ जाते हैं।

1. हेमचंद्र कृत काव्यानुशासन के आठ अध्यायों में निम्नलिखित विषय आते हैं : (i) काव्य का प्रयोजन, इसका हेतु—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, काव्य की परिभाषा, शब्द और अर्थ की प्रकृति—अभिधार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ; (ii) रस और इसके अंग; (iii) पद, वाक्य, अर्थ और रस के दोष; (iv) मम्मट के अनुकरण पर स्वीकृत तीन गुण और उनको उत्पन्न करनेवाले वर्ण; (v) छह शब्दालंकार; (vi) इक्कीस अर्थालंकार; (vii) नायक और नायिका; (viii) काव्य के भेद—दृश्य और श्रव्य, उनकी विशेषताएँ तथा उपभेद।

ध्वनि विचारधारा के आचार्यों का समर्थन किया है। उदाहरणार्थ दंडी को प्रमाण मान लेने के कारण उनके कथन को और भी बल प्राप्त हुआ है। द्वितीय वाग्भट ने रुद्रट के कुछ विलक्षण अलंकारों को भी स्वीकार किया है, किंतु नई विचारधारा का उन पर जो अचूक प्रभाव पड़ा है, उसके कारण हम उन्हें अलंकार और रीति संप्रदायों से सीधे संबद्ध नहीं कर सकते। प्रथम वाग्भट ने काव्य की इस प्रकार परिभाषा की है :—

साधु शब्दार्थ सदर्भ गुणालकारभूषितम्।
स्फुटरीति रसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥

द्वितीय वाग्भट ने, जिनका ग्रंथ हेमचंद्र के ग्रंथ की भाँति सूत्र और वृत्ति पद्धति में लिखा गया है, हेमचंद्र द्वारा मम्मट की परिभाषाओं में किए गए संशोधनों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। उनके अनुसार काव्य की कसौटी यह है कि उसके शब्द और अर्थ में गुण, अलंकार, रीति और रस अवश्य विद्यमान होने चाहिए, किंतु इन तत्त्वों का उल्लेख समीक्षा के लिए न होकर सार-तत्व के रूप में होना चाहिए। प्रथम वाग्भट ने प्राचीन लेखकों द्वारा वर्णित दस गुणों को निस्संकोच स्वीकार कर लिया है, किंतु द्वितीय वाग्भट ने मम्मट का अनुकरण करते हुए उन्हें तीन में ही सम्मिलित कर दिया है और उस पर इस प्रकार तीखी टिप्पणी की है :—

इति दंडी-वामन वाग्भटादि प्रणीता दश काव्य गुणाः,
वयं तु माधुर्योजाः प्रसाद लक्षणान् त्रीन् एव गुणान् मन्यामहे।

द्वितीय वाग्भट ने रस को काव्य की आत्मा[1] बतलाया है, किंतु हेमचंद्र तथा अन्य आचार्यों के आधार पर विभिन्न रसों का वर्णन करने के अतिरिक्त उन्होंने इस प्रश्न के सैद्धांतिक पहलू का स्पर्श नहीं किया है और न तो रस के संदर्भ में काव्य के विभिन्न तत्वों के पारस्परिक संबंध का ही संकेत दिया है। सचमुच ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वनि-सिद्धांतवादियों ने समझौते का जो मार्ग निकाला है, उसे दोनों ही स्वीकार नहीं करते। द्वितीय वाग्भट ने भामह और उद्भट के अनुकरण पर ध्वनि को, विशेषकर पर्यायोक्त के अंतर्गत, निविष्ट किया है और उस पर यह टिप्पणी भी की है—एवमादि भेदैर्ध्वनि-

1. दोषमुक्तं गुणयुक्तं अलंकारभूषितं शब्दार्थ-रूप-उक्तं काव्य-शरीरं, परं तत् त्वप्राणिशरीरम् इव निरात्मकं न प्रतिभासते, अतः काव्यस्य प्राणभूतं आह (अध्याय 5, पृ० 53)

तोक्तिर्भवति, परं ग्रंथ-गौरवभयाद् अस्माभिर्नोदाहृयते, स प्रपंचसत्वानंद-वर्धनात् अवगंतव्य: (पृ० 37)।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन अनुशासनों का उद्देश्य (यद्यपि उनमें जैनमत संबंधी कोई भी बात नहीं है) विषय का लोकप्रिय सारांश प्रस्तुत करता है। वे किसी विशेष संप्रदाय या पद्धति से संबंधित नहीं हैं, बल्कि उनमें सार-संग्रह की भावना से परंपरागत धारणाओं का अनुकरण किया गया है। मुख्य सिद्धांत के प्रकाश में वे समीक्षात्मक रूप में क्रमबद्ध नहीं किए गए हैं। इस रूप में उनमें तथा अग्निपुराण के अलंकार भाग और भोजकृत सरस्वती-कंठाभरण में काफी समानता है। उपर्युक्त प्रथम वाग्भट ने भोज द्वारा दी गई काव्य की परिभाषा का अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है।

'वाग्भटालंकार' के पाँच परिच्छेदों की विषय-वस्तु निम्नलिखित है—(1) काव्य की परिभाषा; काव्य के स्रोत—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास; काव्य-रचना के अनुकूल परिस्थितियाँ और काव्य-रूढ़ियाँ या कवि-सम; (2) काव्य की भाषा (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूत भाषा); काव्य के रूप (छंद-बद्ध और छंदविहीन, पद्य, गद्य और मिश्र अर्थात् गद्य-पद्य मिश्रित छंदों के रूप में इसके भेद; क्रमश: पद और वाक्य के आठ दोष और (3) दस गुण; (4) चार शब्दालंकार, दो रीतियाँ—वैदर्भी तथा गौडी; (5) नव रस, नायक-नायिका भेद तथा आनुषंगिक विषय। द्वितीय वाग्भट का 'काव्यानुशासन' वाग्भटा-लंकार से (जो कि सामान्यतया अनुष्टुप् छंद में लिखा गया है और जिसमें केवल एक स्थल पर अर्थात् iii. 14 में गद्यांश आया है) भिन्न है। यह ग्रंथ हेमचंद्रकृत काव्यानुशासन की सूत्र और वृत्ति शैली में लिखा गया है। यह भी पाँच अध्यायों में विभक्त है, जिनके विषय निम्नलिखित हैं।—(1) काव्य का प्रयोजन और हेतु (प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास); इसके भेद—पद्य-गद्य और मिश्र, काव्य साहित्य का वर्गीकरण—महाकाव्य, आख्यायिक, कथा, चंपू और रूपक; (2) सोलह पद-दोष, चौदह वाक्य-दोष और चौदह अर्थ-दोष; वामन और दंडी द्वारा वर्णित दस गुणों का तीन गुणों में अंतर्भाव, जैसे माधुर्य, ओज और प्रसाद; तीन रीतियाँ—जैसे वैदर्भी, गौडी और पांचाली; (3) तिरसठ अर्थालंकार, जिनमें रुद्रट द्वारा वर्णित कुछ पुराने अलंकारों को भी स्थान दिया गया है; (4) छह शब्दालंकार, जैसे चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक और पुनरुक्तवदाभास; (5) नव रस, नायक-नायिका-भेद और रस के दोष।

(२)

जयदेव, अप्पय्य और जगन्नाथ

अब तक हमने ध्वनि-काल के उत्तरवर्ती उल्लेखनीय लेखकों का वर्णन प्रायः समाप्त कर लिया है। कवि-शिक्षा संप्रदाय और शृंगार रस के लेखक कई बातों में इनसे भिन्न हैं, अतः हम आगे के अध्यायों में इनका पृथक् वर्णन करेंगे। किंतु ध्वनि-परवर्ती लेखकों के उपर्युक्त वर्णन से यह नहीं समझना चाहिए कि उस काल के विद्वत्तापूर्ण कार्य-कलापों का असामान्य वैभव इतना ही था। टीकाकारों और मूलग्रंथ लेखकों की संख्या बढ़ती ही गई, और प्रथम खंड[1] में दिए गए नामों पर एक दृष्टि डालने से यह ज्ञात भी हो जायगा कि उनके कार्य-कलाप किस सीमा तक फैले हुए थे। किंतु जगन्नाथ-रचित 'रसगंगाधर' को छोड़कर, जिसका विवरण देकर हम अपना विवेचन समाप्त करेंगे, इन परवर्ती ग्रंथों में एक भी ऐसा ग्रंथ नहीं है, जिसका पृथक् और विस्तृत वर्णन देना आवश्यक हो। केशव मिश्र रचित 'अलंकारशेखर' या अच्युतराय लिखित आधुनिकतर 'साहित्यसार'[2] से भी, जो कि सुगम और सुंदर संग्रह हैं तथा जो औसत ग्रंथों से उच्चतर भी हैं, हमारे ज्ञान में कुछ वृद्धि नहीं होती।

केशव मिश्र ने (अन्य ग्रंथकारों के अलावा) अधिकतर मम्मट और द्वितीय वाग्भट का अनुकरण किया है। उनका कहना है कि उनका ग्रंथ किसी अलंकार-विद्या-सूत्रकार भगवान शौद्धोदनि-रचित कारिकाओं पर आधारित है (देखिए खंड 1 पृ० 203 इत्यादि): किंतु इससे न तो किसी सिद्धांत का प्रतिपादन होता है और न किसी नई पद्धति की ही स्थापना होती है। फिर भी कुछ ऐसे मत हैं, जो ग्रंथ के लिए विलक्षण हैं, उनमें से मुख्य यह है कि इसमें रस को काव्य का सार तत्व (आत्मा) माना गया है। यह ग्रंथ आठ रत्नों में विभक्त है, जिनमें बाईस मरीचियाँ हैं। प्रथम रत्न में' 'रसादिमत् वाक्य' के रूप में काव्य की परिभाषा दी गई है और 'प्रतिभा' इत्यादि को इसके हेतु माना गया है। तीन रीतियों, जैसे 'वैदर्भी', 'गौडी' और 'मागधी' (जिनकी परिभाषा समासों के प्रयोग के संदर्भ में की जाती है) और उक्ति (4 भेद) के विवेचन के पश्चात् इसमें तीन वृत्तियों, जैसे शक्ति (अभिधा), लक्षणा और व्यंजना का विवेचन

---

1. देखिए खंड 1 अध्याय 10, पृ० 247-303,—सामान्य ग्रंथकारों-टीकाकारों के लिए प्रत्येक लेखक के नीचे दी गई पुस्तक-सूची देखिए।

2. इस ग्रंथ की विषय-वस्तु के सारांश के लिए, देखिए खंड 1 पृ० 248.

किया गया है। इसके पश्चात् दोष-रत्न है, जिसमें शब्द और अर्थ के आठ-आठ दोषों और वाक्य के बारह दोषों का वर्णन है। तीसरे अध्याय में, जिसे गुण रत्न कहा गया है, शब्द की पाँच विशेषताओं का वर्णन है (जैसे संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति और समाधि)। इसके पश्चात् ऐसे प्रसंगों/प्रकरणों का वर्णन है, जहाँ उपर्युक्त दोष कभी-कभी गुण बन जाते हैं। ग्रंथ के इस भाग पर भोज के मत का प्रभाव स्पष्ट है। इसके पश्चात् अलंकार-रत्न है, जिसमें आठ शब्दालंकारों (चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ़, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर और यमक) और केवल 14 अर्थालंकारों (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशत्व = मम्मट वर्णित असम्मति, विशेषोक्ति और विभावना) का उल्लेख है। इसके पश्चात् एक विचित्र अध्याय है, जिसका नाम है 'वर्णक रत्न'। उसमें ऐसे उपयुक्त उपमानों का विस्तृत वर्णन किया गया है, जो किसी सुंदरी की मुखाकृति, उसकी केश-राशि, ललाट, भौंह इत्यादि का वर्णन करने में प्रयुक्त होते हैं। कवियों को नायक की शारीरिक विशेषताओं का वर्णन कैसे करना चाहिए, इसके संबंध में इसमें बहुत से व्यावहारिक सुझाव दिए गए हैं, ऐसे शब्दों का उल्लेख किया गया है, जो समरूपता के विचारों को प्रकट करते हैं कवि-समयों, वर्ण्य-विषयों (जैसे राजा, रानी, महानगर, नगर, नदी इत्यादि) और उनके वर्णन की रीति का विस्तृत विवरण दिया गया है, प्रकृति के विभिन्न उपकरणों के वर्णों, ऐसे शब्दों का प्रयोग जो एक से एक हजार तक की संख्या का बोध कराते हैं, कुछ शब्द-कौशल, जैसे भाषा-सम (जहाँ कोई छंद संस्कृत और प्राकृत में एक-जैसा पढ़ा जाता है), समस्या-पूर्ण, नव-रस, नायक-नायिका भेद, विभिन्न भाव, रस-दोष और प्रत्येक रस के अनुकूल शब्दों का संयोजन इत्यादि विषयों का भी इसमें विस्तृत वर्णन किया गया है।

जयदेव का चंद्रालोक[1] निश्चय ही एक लोकप्रिय अनुशासन है। किंतु यद्यपि इसका प्रतिपादन अत्यंत स्पष्ट और संक्षिप्त रूप से किया गया है और इसके उदाहरण भी अत्यंत उपयुक्त हैं, फिर भी यह एक सुबोध सार-संग्रह होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें काव्यालंकारों का विस्तृत वर्णन किया गया है, जो पुस्तक के लगभग आधे भाग को घेरे हुए है।

चंद्रालोक में दस गुणों और एक सौ अलंकारों का वर्णन है। विचित्र बात

1. इसकी विषय-वस्तु के लिए देखिए खंड 1, पृ० 184.

यह है कि तीसरे अध्याय में ऐसे लक्षणों का वर्णन है, जिनका उल्लेख नाट्य-शास्त्र संबंधी प्रकरणों को छोड़कर (जैसा कि विश्वनाथ ने किया है) अन्य प्रसंगों में परवर्ती लेखकों ने नहीं किया है। भरत के 36 लक्षणों (अध्याय xvi. 6-39 देखिए पीछे, पृ० 5-7) के अतिरिक्त जयदेव ने केवल दस की परिभाषा और उदाहरण दिए हैं, जैसे प्रभावशाली अर्थ व्यक्त करने के लिए अक्षरों का संयोजन (अक्षर संहति), विशेषताओं का संकेत करके दोष-निषेध करना (शोभा), ऐसा पर्यालोचन करना, जिससे अभिमान का निराकरण होता है, अन्य संभावित विकल्पों को अस्वीकार कर किसी उक्ति का निर्धारण (हेतु), सुस्थापित कारणों की अवहेलना (प्रतिषेध), किसी संज्ञा का सही और कल्पित (शुद्ध और अशुद्ध) रूप में निर्वचन (निरुक्त), जहाँ किसी प्रस्ताव के प्रधान और मध्य पद लुप्त हों, वहां किसी मिथ्या गुण का आरोप (मिथ्या-अध्यवसाय), किसी सुविख्यात विषय से पूर्ण समानता दिखाकर किसी विषय के गौरव की पुष्टि करना (सिद्ध), दो विभिन्न अर्थों के अंतर द्वारा किसी विशेष गुण की स्थापना करना (युक्ति), किसी कार्य या घटना द्वारा किसी फल की प्राप्ति (फल)। विश्वनाथ ने अपने लक्षणों में 33 नाट्यालंकारों को जोड़ा है, जिनकी संख्या भरत के अनुकरण पर 36 बताई गई है, किंतु वे पूरी तरह भरत के लक्षणों के अनुरूप नहीं हैं, क्योंकि उनमें से पीछे के कुछ विश्वनाथ के नाट्यालंकारों के अंतर्गत भी आते हैं। इन दोनों संप्रदायों में किसी विचारणीय या मान्य सिद्धांत के आधार पर भेद नहीं किया जा सकता और यद्यपि विश्वनाथ ने परंपरागत गणना-शैली का अनुपालन नहीं किया है, किंतु अंत में उन्होंने यह टिप्पणी भी दी है :—

एषां च लक्षणानां नाट्यालंकारणां एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशः गड्डलिका प्रवाहेण।

इस तरह लक्षणों के अंतर्गत हम निम्नलिखित बातें पाते हैं—

गुणों और अलंकारों का सम्मिश्रण, चामत्कारिक भाव पैदा करने के लिए अक्षरों को सामासिक रूप में संयोजित करना, श्लेष द्वारा अल्प-प्रसिद्ध भाव को प्रकट करने के लिए अधिक प्रसिद्ध भाव का प्रयोग करना, सादृश्य और उदाहरण का उपयोग, अदृष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिए संक्षेप में किसी तर्क का उद्धरण देना, जिस पदार्थ की प्रकृति स्पष्ट न हो उसके संबंध में संशय का भाव प्रकट करना, प्रकृति के व्यवहार के अनुरूप किसी पदार्थ के प्रति आशंका करना, अभिव्यक्ति को किसी अर्थ के अनुकूल बनाना, अग्राह्य विचारों के खंडन के लिए स्वीकृत तथ्यों का उद्धरण, सादृश्य से किसी [illegible] की कल्पना करना, किसी भाव

की कुछ विशेषताओं के आधार पर उस भाव का अनुमान लगाना, किसी ऐसे तथ्य का, जो इंद्रियग्राह्य न हो, तर्क द्वारा पता लगाना, समय और स्थान के अनुरूप किसी विषय का वर्णन करना, शास्त्र-सम्मत विचारों का कथन, किसी के गुणों के विपरीत कार्यों का संकेत, किसी वस्तु में सामान्य गुणों के अतिरिक्त अन्य गुणों का आरोप करना, शाब्दिक अर्थ के संकेत द्वारा सुप्रचलित अर्थों में से किसी विशेष अर्थ को अलग करना, किसी पूर्वस्थापित धारणा की पुनरावृत्ति, किसी लक्ष्य विषय की प्रशंसा करते समय विभिन्न विषयों का उल्लेख करना, आवेश में आकर, अनजाने में किसी निष्कर्ष में परिवर्तन, कथन या कार्य द्वारा दूसरों के विचारों का अनुपालन, स्नेहपूर्ण शब्दों द्वारा किसी को फुसलाना, किसी अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक साधनों का क्रमिक रूप में कथन, किसी भिन्न दृष्टिकोण का उल्लेख करके एक दृष्टिकोण के संबंध में सुझाव देना तथा उसे सशक्त बनाना, निंदा करना, सम्मानपूर्ण जिज्ञासा, वर्ण्य व्यक्ति या वस्तु की प्रशंसा में प्रसिद्ध व्यक्तियों या वस्तुओं के नामों का प्रयोग करना, बाह्य रूप में एक-जैसी दिखनेवाली वस्तुओं में भ्रामक एकरूपता दिखाना और परिणामस्वरूप विरोध का अवसर पैदा करना, दूसरे की सेवा के लिए अपने को समर्पित करना, चाटुकारितापूर्ण कथन, किसी ऐसे अर्थ को प्रकट करने के लिए, जो सीधा अभीष्ट न हो, किसी तुलना का प्रयोग करना, अभिलाषा की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति, आवेष्टित प्रशंसा और आनंदप्रद शब्दों में कृतज्ञता का ज्ञापन ।

नाट्यालंकारों के अंतर्गत निम्नलिखित विषय आते हैं —

आशीर्वाद, शोक, प्रवंचना, क्षमारहित प्रवृत्ति, प्रगल्भतापूर्ण अभिव्यक्ति, किसी संकल्प या उत्तम प्रयोजन की अभिव्यक्ति, परिहास, किसी आकर्षक लक्ष्य की प्राप्ति की अभिलाषा, निंदा के कारण क्षोभ, किसी भूल के कारण लक्ष्य के अप्राप्त होने पर पश्चात्ताप, किसी तर्क का प्रयोग, किसी लक्ष्य के लिए अभिलाषा करना, अनुरोध, अवांछित कार्य का प्रारंभ, किसी प्रयोजन का उल्लेख, उत्तेजना, निंदा, शास्त्रों का अनुपालन, सामान्य सम्मति का उद्धरण देकर गुप्त रूप से प्रताड़ित करना, वर्णन, प्रार्थना, क्षमा, उपेक्षित कर्त्तव्य का स्मरण दिलाना, पूर्व वृत्त का स्मरण, तर्क द्वारा किसी कार्य का निर्धारण, अत्यानंद और अनुदेश ।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि लक्षणों और नाट्यालंकारों का विभाजन न केवल एक दूसरे से मिला-जुला है, बल्कि उनमें विस्तार से व्याख्या

की पद्धतियों का विवेचन हुआ है और ऐसे प्रयोग दिए गए हैं, जो अन्य लेखकों की दृष्टि में विशिष्ट अलंकार अथवा कथन-शैली के गौरव माने जाते हैं, जो रस और भाव के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। इस तथ्य को दंडी ने बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया है और उन्होंने व्यापक अर्थ में लक्षणों को अलंकारों के अंतर्गत माना है। धनंजय ने भी ऐसा ही किया है, किंतु वे यह भी मानते हैं कि उनमें से कुछ रस और भाव के अंतर्गत आते हैं। अतः विश्वनाथ ने उन्हें गुण, अलंकार, भाव और संधि के अंतर्गत दिखाया है, किंतु उनका विवेचन केवल नाटक के संबंध में किया है। परवर्ती काल के साहित्य में, जिससे अंततः वे लुप्त हो गए हैं, व्यवहारतः उनकी कोई आवश्यकता नहीं दिखाई पड़ती। उनके कार्य काव्य के अन्य मान्य तत्वों को सौंप दिए गए हैं।

अप्पय्य दीक्षित के तीन सुप्रसिद्ध अनुशासन[1], जिनमें से एक प्रत्यक्षतः जयदेव के ग्रंथ और विश्वेश्वर के अलंकार कौस्तुभ[2] पर आधारित है, उल्लेखनीय ग्रंथ हैं; क्योंकि उनमें काव्यालंकारों का विस्तृत विवेचन हुआ है और उनमें विशेषताएँ भी हैं, किंतु वे वस्तुतः प्राथमिक पाठ्यग्रंथ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फिर भी वे अत्यंत उत्तम सार-ग्रंथ हैं, जिनमें विषयसंबंधी पूर्व धारणाएं क्रमपूर्वक लिपिबद्ध की गई हैं। उत्तरकाल के साधारण लेखकों द्वारा वर्णित विषयों के लक्षणों में इतनी एकरूपता है, प्रतिपादन में इतनी नीरसता है और रूढ़ वाक्यांशों में रूढ़ विषयों की ऐसी पुनरावृत्ति है कि इनके कार्यों का वर्णन करने में समय लगाना उचित नहीं प्रतीत होता। महान् काश्मीरी लेखकों का कार्य पूरा हो चुका था, और यद्यपि परवर्ती कार्य-कलापों में बंगाल और दक्षिण के लेखकों का महत्व बढ़ चला था, किंतु अब तक वस्तुतः मौलिक और विचारपूर्ण लेखकों का युग बीत चला था। इसके पश्चात् टीकाकारों, भाष्यकारों और समालोचकों का युग आया (उनमें से कुछ बड़े ही योग्य और परिश्रमी थे)। यह युग तब तक रहा, जब तक महान लेखकों की कृतियों का समालोचनात्मक विस्तार करने, समझने और व्याख्या करने की आवश्यकता बनी रही। किंतु कालांतर में यह भी अनावश्यक हो गया और सामान्य जनता के लिए बोधगम्य छोटे-छोटे और सरल सारग्रंथों के लिखने के अलावा और कुछ

1. देखिए खंड 1, पृ० 206-8.

2. देखिए खंड 1, पृ० 290, इस ग्रंथ में, जैसा कि इसके नाम से ज्ञात होता है, पूर्णतया काव्यालंकारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें स्वतंत्र रूप से जिन अलंकारों का विवेचन किया गया है, उनकी संख्या 76 है।

करने को शेष नहीं रहा । अधिकांश संप्रदायों के पतनकाल में अनेक सारग्रंथ तथा सारग्रंथों पर सारग्रंथ लिखे गए । किंतु यह वह काल था, जिसमें पतनोन्मुखी ध्वन्योत्तर संप्रदाय की भी, जिसके प्रतिनिधि मम्मट थे, वही परिणति हुई । इतना ही पर्याप्त नहीं था । इन संप्रदायों के ध्वंसावशेष पर सार-संग्रहकारिता की भावना पैदा हुई, जिसका प्रारंभिक संकेत हमें प्राचीन रस, अलंकार और रीति-संप्रदायों के पतन के पश्चात् भोज और वाग्भट के ग्रंथों से मिल चुका था । उसके पश्चात् हमें गुटके प्राप्त होते हैं, जो किसी सिद्धांत या पद्धति पर आधारित नहीं होते, बल्कि जो प्रत्यक्षतः सामान्य जनता को जानकारी देने के लिए लिखे जाते हैं । अब यह माना जा सकता है कि ंस्कृत काव्य-शास्त्र की विभिन्न पद्धतियों ने बहुत अच्छी तरह से अपना जीवन यापन किया और अंत में वे अपने स्वाभाविक अवसान को प्राप्त हुईं ।

(३)

जगन्नाथ

जगन्नाथ प्रणीत 'रसगंगाधर' काव्य-शास्त्र का अंतिम महत्वपूर्ण ग्रंथ है । किंतु इस ग्रंथ में संपूर्ण विषय का विवेचन नहीं हुआ है, क्योंकि ग्रंथ का जो अंश प्राप्त है, वह लेखक द्वारा प्रारंभ में बनाई गई रूपरेखा का केवल ⅗ हिस्सा है । अतः यह ग्रंथ दुर्भाग्यवश अपूर्ण रूप से प्राप्त है और इसके भी लगभग तीन चौथाई भाग में तथा संपूर्ण 'चित्रमीमांसा-खंडन' में काव्यालंकारों का विवेचन और उनके दृष्टांत दिए गए हैं । जैसा कि कहा गया है, यह एक ऐसा विषय है, जिसके संबंध में परवर्ती लेखकों ने सचमुच सर्वाधिक व्यापक और उल्लेखनीय सामग्री प्रस्तुत की है, किंतु सामान्य काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इसका सैद्धांतिक महत्व बहुत कम है । जगन्नाथ की शैली विद्वत्तापूर्ण है । इन्होंने जैसी भाषा का प्रयोग किया है, जैसी सूक्ष्मता से तर्क दिए हैं और पूर्ववर्ती लेखकों की जिस प्रकार निरपवाद रूप से आलोचना की है, उससे पाठक सशंकित हो जाते हैं । इस संबंध में उन्होंने जिन लेखकों की सबसे अधिक समालोचना की है, वे हैं रुय्यक, उनके टीकाकार जयरथ और उनके अनुयायी अप्पय्य दीक्षित । किंतु विवाद के प्रति इस प्रवृत्ति के बावजूद, जो कि बाल की खाल निकालने-जैसी सूक्ष्मता की भावना से प्रभावित है, जगन्नाथ के ग्रंथ में तीव्र और स्वच्छ प्रतिपादन हुआ है अथवा कम-से-कम प्राचीन समस्याओं पर पुनर्विचार का प्रयत्न किया गया है । वे अपने से पूर्ववर्ती लेखकों के काव्यसंबंधी सिद्धांतों से पूर्ण परिचित दिखाई पड़ते हैं, इसीलिए उन्होंने उनकी उपेक्षा नहीं की है,

बल्कि उनमें तथा नई विचारधारा में संगति बैठाने का प्रयास किया है। नए संप्रदाय के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण लेखकों के साथ जगन्नाथ ने इस संबंध में कुछ प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाया है और मम्मट तथा रुय्यक संप्रदाय का निर्बाध समर्थन नहीं किया है।

जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—काव्य ऐसा शब्द अथवा ऐसी पदावली है, जो किसी अभिव्यक्ति को रमणीयता प्रदान करती है (रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः)। यह एक ऐसी परिभाषा है, जो हमें दंडी के सुप्रसिद्ध वर्णन की याद दिलाती है, जिसमें उन्होंने 'काव्य-शरीर' को 'इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' बताया है, किंतु जिसकी पुनः इस प्रकार व्याख्या की गई है—इस रमणीयता का कारण वह भावना होती है, जिसके कारण अलौकिक या निर्लिप्त आनंद प्राप्त होता है। निष्कामता का यह गुण अत्यंत आवश्यक लक्षण है, जो कि आंतरिक अनुभव की वस्तु है और चमत्कार का पर्याय होने के कारण आनंद का एक गुण है। इस आनंद का कारण ऐसी कल्पना या अभिव्यक्ति है, जो स्वयं आनंद की अवस्था के सतत चिंतन से प्राप्त होती है। अतः ऐसे वाक्य से, जैसे 'आपके लड़का पैदा हुआ है' या 'मैं आपको धन दूंगा' जो अर्थबोध होता है, उसमें कोई निर्लिप्तता नहीं होती। अतः ऐसे वाक्य में कोई काव्यात्मकता नहीं है। फलतः काव्य की रचना उन शब्दों से होती है, जिनसे ऐसी भावाभिव्यक्ति होती है, जो मनुष्य को विभोर कर देती है और आनंद प्रदान करती है।[1] अतः काव्य की रमणीयता वह है, जो हमें निर्लिप्त और निर्वैयक्तिक आनंद प्रदान करती है। यह आनंद उस आनंद से विशिष्टतया भिन्न है, जो किसी को वस्तुतः आनंदित होने पर प्राप्त होता है और उस रुचि पर निर्भर करता है, जो किसी को सुंदर विषयों के सतत चिंतन से प्राप्त होता है। इस विवरण से यह ज्ञात होगा कि इस परिभाषा में न केवल रमणीयता का सुंदर विश्लेषण हुआ है, बल्कि इसने अपनी विशालता और व्यापकता में पूर्वकालीन सिद्धांतवादियों द्वारा वर्णित काव्य के सभी तत्वों को, उनका विशिष्ट

1. रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद-जनक-ज्ञान-गोचरता, लोकोत्तरं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति विशेषः, कारणं च तद्-अवच्छिन्ने भावना-विशेषः पुनः पुनरनुसंधानात्मा; पुत्रस्ते जातः, धनं ते दास्यामीति वाक्यार्थधी-जन्यस्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम्, अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्वप्रसक्तिः। इत्थं च चमत्कार-जनक-भावना-विषयार्थ प्रतिपादक-शब्दत्वम्। देखिए Jacobi in Internat. Wochenschrift, 1910, ix, 821.

रूप से उल्लेख किए बिना, अपने में अंतर्भुक्त कर लिया है। हमने पहले ही देख लिया है कि पाठक के मन में उत्पन्न काव्यात्मक भाव या रस का स्वरूप विलक्षण होता है। निस्संदेह यह एक ऐसा तथ्य है, जिसका संबंध किसी की आत्मचेतना से होता है, किंतु सभी प्रबुद्ध पाठकों में पाए जाने के कारण, तथा उनके निजी संबंधों और अभिरुचियों के प्रति महत्वपूर्ण न होने के कारण, यह भाव वस्तुतः सर्वव्यापक और निर्वैयक्तिक होता है। नैसर्गिक आवेग और काव्यात्मक मनोभाव में एक अंतर किया जाता है। नैसर्गिक आवेग व्यक्तिगत और नितांत वैयक्तिक होता है। अतः वह आनंददायी अथवा दुखदायी हो सकता है, किंतु काव्यात्मक मनोभाव सामान्य और निर्लिप्त होता है तथा निर्वैयक्तिक आनंद से पूर्ण होता है। इस दृष्टि से काव्यात्मक मनोभाव अलौकिक होता है और वे बातें जो सामान्य जीवन में निराशा, भय और दुःख का कारण बनती हैं और वे सहज आवेग, जिनकी वास्तविक अनुभूति से रंचमात्र भी आनंद का स्पर्श नहीं होता, जब काव्य के द्वारा प्रकट किए जाते हैं तो आदर्श और सर्वव्यापी बन जाते हैं और ऐसा अलौकिक आनंद प्रदान करते हैं, जिसकी तुलना सामान्य जीवन में अनुभूत मिश्रित आनंद से नहीं की जा सकती। सभी वैयक्तिक रुचियों से मुक्त यह आनंद इस भोग में तल्लीन मानसिक दशा का सार है।

इस प्रकार काव्य की परिभाषा में व्यंजित अर्थ (ध्वनि) का भाव भी सम्मिलित रहता है और इस आधार पर जगन्नाथ ने काव्य को चार श्रेणियों में विभक्त किया है (जैसे उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम)। ये श्रेणियाँ उन श्रेणियों के अनुरूप हैं, जिन्हें ध्वनिकार के समय से लेकर अब तक उनके पूर्ववर्ती विद्वान मानते रहे हैं। उत्तमोत्तम काव्य वह होता है, जिसमें ध्वनि और अर्थ स्वयं गौण रहते हुए किसी अन्य रमणीय अर्थ को व्यंजित करते हैं। इसे ही ध्वनिकार प्रमुख ध्वनिकाव्य मानते हैं। दूसरी और तीसरी श्रेणियाँ, जैसे 'गुणीभूत व्यंग्य' और 'चित्र' जिसका उल्लेख ध्वनिकार ने किया है, तीन भागों में विभक्त[1] हैं, जैसे (1) जहाँ प्रधान अर्थ नहीं, बल्कि व्यंजित अर्थ ही विशेष सौंदर्य का कारण हो (2) जहाँ कथित अर्थ का सौंदर्य व्यंजित अर्थ के सौंदर्य के समान माना जाता हो और (3) जहाँ ध्वनि-सौंदर्य अर्थ-सौंदर्य से विभूषित होने पर भी प्रधान

1. इस विभाजन का उद्देश्य यह है कि गुणीभूत व्यंग्य काव्य के विभिन्न उदाहरणों के और अधिक सूक्ष्म उपविभेद न किए जाएँ और वह उस संपूर्ण काव्य में आ जाए, जो अलंकार-प्रधान कहलाता है।

हो। इस निम्नकोटि के काव्य में, जिसे मम्मट ने शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र का नाम दिया है (इस विभाजन को जगन्नाथ ने स्वीकार नहीं किया है) बाह्य रूप में वे दशाएँ समाहित रहती हैं, जिनमें शब्द-चमत्कृति या तो अर्थ-चमत्कृति को अपने में विलीन कर लेती है अथवा उसे और सशक्त बना देती है। जगन्नाथ का कहना है कि यद्यपि इनसे निम्नतर कोटि अथवा पाँचवी कोटि तक भी काव्य की गणना की जा सकती है, जिसमें ध्वनि-सौंदर्य अर्थ-सौंदर्य से पूर्णतया विहीन होता है (जैसे पद्मबंध की तरह प्रहेलिकावाले प्रसंगों में) और जिनका प्रयोग कुछ कवियों ने किया भी है, फिर भी काव्य की जो परिभाषा पहले दी गई है (अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रकट करनेवाले शब्द को काव्य कहते हैं), उसे ध्यान में रखने पर इन उदाहरणों को छोड़ दिया जाएगा।

इस वर्गीकरण के पश्चात् जगन्नाथ ने ध्वनि के वर्गीकरण की परंपरा रीति का अनुसरण किया है अर्थात् ध्वनि के असंख्य भेदों को दो व्यापक वर्गों में विभाजित किया है, जिन्हें क्रमशः अभिधामूला और लक्षणामूला कहते हैं। रस, अलंकार और वस्तु की अभिव्यंजना करने के आधार पर अभिधामूला के तीन पक्ष माने जाते हैं, किंतु लक्षणामूला की केवल दो स्थितियाँ मान्य हैं, जैसे (1) जहाँ अभिव्यक्त अर्थ से दूसरे अर्थ का बोध हो (अर्थांतर-संक्रमित वाच्य) और (2) जहाँ अभिव्यक्त अर्थ को पूर्णतया लुप्त कर दिया जाए (अत्यंत तिरस्कृत वाच्य)। इसके पश्चात् लेखक द्वारा रस-ध्वनि विषय पर, जिसे परम रमणीय कहते हैं, विस्तृत रूप से विचार करने तथा रस और भाव के सिद्धांत और अंगीभूत तत्त्वों का व्यापक विवेचन करने का प्रसंग आता है (पृ० 74-98), जिसमें रस और भाव के विभिन्न पक्षों, जैसे रसाभास (पृ० 99) भाव-शांति (पृ० 102), भावोत्पत्ति, भाव-संधि और भाव-शबलता (पृ० 102)[1] पर विचार किया गया है। इस संदर्भ में गुणों का विवेचन उस सीमा तक हुआ है, जहाँ तक वे रस से संबंधित हैं। जगन्नाथ ने वामन तथा पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा वर्णित दस शब्द और अर्थ-गुणों का विवेचन किया है और उनकी समीक्षा की है, किंतु मम्मट के आधार पर उन्होंने केवल तीन गुणों को स्वीकार किया है, जैसे माधुर्य, ओजस् और प्रसाद। इनका वर्गीकरण उन्होंने पाठक या श्रोता के मन पर पड़नेवाले क्रमिक प्रभाव के आधार पर किया है, जैसे द्रुति, दीप्ति और विकास। इस संबंध में जगन्नाथ ने निम्नलिखित मंतव्य प्रकट किया है—'गुणानां चैषां द्रुति दीप्ति विकासाख्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तया क्रमेण प्रयोज्याः, तत्-तद्-गुण-विशिष्ट रसचर्वणा-जन्या इति यावत्।' इस मंतव्य द्वारा उन्होने स्पष्ट किया है

1. इन विषयों का वर्णन मम्मट, विश्वनाथ तथा अन्य लेखकों ने भी किया है।

कि इस वर्गीकरण का औचित्य यह है कि रसास्वादन में तल्लीन मानसिक व्यापार की प्रकृति भिन्न-भिन्न हुआ करती है। तथापि वे मम्मट के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि जब हम किसी रचना को 'मधुर' कहते हैं, तब हम इस शब्द को गौण अर्थ में प्रयुक्त करते हैं (जैसे कि जब हम कहते हैं, यह व्यक्ति देखने में बहादुर प्रतीत होता है)। चूँकि गुण रस की विशेषताओं के रूप में होते हैं, अतः पद के अर्थ-विस्तार से, जिसे काव्य की आत्मा कहा जाता है, उसे हम काव्य का शरीर कहते हैं। जगन्नाथ का कहना है कि जब हम कहते हैं कि किसी विशेष प्रसंग में शृंगार का भाव 'मधुर' होता है तो इससे हमारा तात्पर्य मन पर पड़नेवाले इसके प्रभाव, जैसे 'द्रुति' इत्यादि, से होता है और इससे यही समझना चाहिए कि इसका संबंध न केवल रस से होता है, बल्कि शब्द और अर्थ तथा संपूर्ण रचना से होता है (शब्दार्थ रस-रचनागतं एव ग्राह्यम्)।

अगले अध्याय में अभिव्यंजना के अन्य भेदों का विवेचन हुआ है, जिनमें 'लक्षणामूला' अभिव्यंजना भी सम्मिलित है, जिसका विस्तार से निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् काव्यालंकारों का विवेचन आता है (इनकी संख्या लगभग 70 है), जिनका वर्णन शेष संपूर्ण पुस्तक में किया गया है और उत्तर अलंकार के विवेचन के मध्य में ही पुस्तक समाप्त कर दी गई है। काव्यालंकार रमणीयता का प्रधान साधन है। यह रमणीयता ही पहले बताई गई परिभाषा के अनुसार काव्य का प्रधान अभिव्यंजित तत्त्व है (प्राग्-अभिहित-लक्षणस्य काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयता-प्रयोजका अलंकाराः, पृ० 156)। चमत्कार या लोकोत्तरत्व, जिसके भीतर यह रमणीयता चक्कर काटती है, काव्यालंकार का अत्यावश्यक तत्त्व है। इस तरह जगन्नाथ ने काव्यसंबंधी अपनी धारणा की संगति रुय्यक के अलंकार-सिद्धांत से (जिसे उन्होंने स्वीकार किया है और जिसका उन्होंने विस्तार किया है) बैठाई है। इसमें वह 'चमत्कार' (जिसे 'हृदयत्व', 'चारुत्व', या 'सौंदर्य' भी कहते हैं अथवा जिसे पारिभाषिक शब्द 'वैचित्र्य', 'विच्छित्ति-विशेष' या 'भणिति-प्रकार' से अभिहित किया जाता है) भी सम्मिलित है, जो कवि-प्रतिभा द्वारा प्रदत्त है। कुंतक ने, जिनसे रुय्यक ने अपनी विश्लेषण-पद्धति प्राप्त की है, यह सिद्धांत निर्धारित किया है कि प्रत्येक काव्य-कृति में कवि-कर्म ही, जो कि सृजन-कल्पना (प्रतिभा) से बनता है, प्रमुख होता है और यही काव्य-रचना में प्रकट होना चाहिए। जगन्नाथ ने जोर देकर कहा है कि प्रतिभा ही एकमात्र काव्य और काव्यात्मक अभिव्यक्ति

का स्रोत है, अतः इसी से अलंकार के स्वरूप का निर्धारण होता है। कवि अपनी प्रतिभा द्वारा काव्यालंकार को जो विशेष वैचित्र्य (विच्छित्ति-विशेष) प्रदान करता है, उसी को (पृ० 466-79) वह आधार माना जाता है, जिसके अनुसार अलंकार अपनी विशेष विलक्षणताओं में एक दूसरे से पृथक् होते हैं और जब यह विच्छित्ति कविता में अभिव्यक्त की जाती है, तब इसे कवि-कल्पना अथवा चमत्कार [1] कहा जाता है, जो इसके द्वारा प्रसूत होता है। यह 'विच्छित्ति' कैसे समझी जाती है अथवा निरूपित की जाती है, जगन्नाथ ने इस प्रश्न का उत्तर न केवल स्थापित परंपरा के आधार पर दिया है, बल्कि अपने आंतरिक अनुभव के आधार पर दिया है। इस मूलभूत सिद्धांत के आधार पर काव्यालंकारों की सूक्ष्म परिभाषा दी गई है, उनका भेद निरूपित किया गया है, उनके दृष्टांत दिए गए हैं और उनको वर्गीकृत किया गया है। जगन्नाथकृत ग्रंथ के इस अंश में, यद्यपि यह दुर्भाग्यवश अपूर्ण है, सूक्ष्म विवेचनात्मक तथा वाद-विवादपूर्ण पद्धति अपनाई गई है और विषय का अत्यंत वैदग्ध्यपूर्ण विवेचन किया गया है।[2]

---

1. 'चमत्कार' शब्द के इस अनुवाद का औचित्य जगन्नाथ द्वारा दी गई काव्य की परिभाषा से भी सिद्ध होता है।
2. साहित्यालोचक के रूप में जगन्नाथ के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए बी०ए० रामस्वामी शास्त्रीकृत 'जगन्नाथ पंडित' (अन्नामलाई विश्वविद्यालय संस्कृत सीरीज़ 1942, पृ० 78 एफ़, अध्याय 4·6)।

अध्याय : नौ

उत्तरकालीन रस-लेखक

काव्यशास्त्र के संबंध में रस-सिद्धांत को, जिसका सर्वप्रथम निरूपण तो नहीं, किंतु प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने किया है, अंततः सभी ग्रंथकारों ने स्वीकार किया है और रस-ध्वनि को काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्व माना है। विश्वनाथ और केशव मिश्र को छोड़कर अन्य सभी ने अभिनवगुप्त की तरह स्पष्ट रूप से यह घोषणा नहीं की है कि एकमात्र रस ही काव्य का सार है, किंतु उन्होंने यह माना है कि वास्तव में रस के रूप में अभिव्यंजित अर्थ, काव्य का प्रधान अत्यावश्यक तत्व होता है। रस पाठक के मन में विद्यमान सुखद भाव को कहते हैं। पाठक के मन के प्रसुप्त संवेग, जो उसें अनुभव अथवा वंशागत सहजबुद्धि से प्राप्त होते हैं, जब काव्य-पाठ द्वारा जागृत किए जाते हैं तो वे आदर्श और निर्वैयक्तिक आह्लाद का रूप धारण कर लेते हैं। रस उस आस्वादन या आनंद को कहते हैं, जो ऐसी आह्लादमयी मानसिक दशा में प्राप्त होता है, जिसमें पाठक नायक के भावों से अपना तादात्म्य कर लेता है और सामान्य रूप में उनका अनुभव करता है। आनंद की पूर्णता पाठक विशेष की प्रकृति और अनुभूति पर निर्भर होती है। इस तरह से उसमें जो भावना उत्पन्न होती है, वह सार्वजनीन होती है और इसके परिणामस्वरूप उसमें जिस रसानंद की सृष्टि होती है, वह वैयक्तिक नहीं होती (हालांकि उसका पूर्णतया निजी भावना के रूप में आस्वादन किया जाता है), बल्कि वह सामान्य और निरपेक्ष होती है, क्योंकि वह ऐसी होती है, जो सभी भावुक या सहृदय पाठकों में समान रूप में पाई जाती है (समस्त-भावक-स्वसंवेद्य)। अतः इसको कुछ अलौकिक-सी और अत्यंत आह्लादप्रद कहा जाता है और इसकी तुलना जीवन के सामान्य सुखों से नहीं की जा सकती, क्योंकि उनके साथ व्यक्तिविशेष के निजी संबंध तथा उसकी अभिरुचियाँ भी लगी हुई होती हैं और वे सुखद या दुःखद भी हो सकती हैं। जिन बातों को साधारण अर्थ में संवेग का कारण कहा जा सकता है और जो वास्तविक जीवन में निराशा, भय या करुणा पैदा करती हैं, यद्यपि काव्य और नाटक में भी वे इन भावों को पैदा करती हैं, किंतु वे इन्हें ऐसे

आदर्श और सामान्य रूप में प्रकट करती हैं कि वे संवेग अथवा भाव, जो सामान्य जीवन में रंचमात्र भी सुखदायी नहीं होते, ऐसे निर्वैयक्तिक आनंद में परिणत हो जाते हैं, जो अनिर्वचनीय और अखंडनीय होता है। कोई व्यक्ति निराशा, भय और करुणा से द्रवित हो सकता है और असली आँसू बहा सकता है, किंतु इनमें अंतर्निहित भाव सदैव ही परमानंददायी [1] होता है, जिसे सामान्य भाव से निश्चय ही भिन्न समझना चाहिए।

काव्य में रस के स्वरूप और कार्य के संबंध में परवर्ती काल के आचार्यों (आलंकारिकों) ने जो दृष्टिकोण अपनाया है, उसकी सामान्य स्थिति यही है। उदाहरणार्थ धनंजय ने किसी साधारण भाव के, जो किसी रचना का स्थायी भाव हो, किसी रस में परिणत होने की वही प्रक्रिया बतलाई है, जिसे पहले भरत ने निरूपित किया था और कालांतर में जिसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने की थी और उनका यह विवेचन पूर्णतया मम्मट, विद्याधर, विश्वनाथ और अन्य आचार्यों के विवेचन के अनुरूप है। स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के (जिनमें सात्विक भाव भी सम्मिलित होते हैं) संयोग से आस्वाद्य बन जाते हैं तो रस कहलाते हैं। इस कथन की इस उक्ति द्वारा और भी व्याख्या की गई है कि रस का भोक्ता (रसिक) वह दर्शक (सामाजिक) होता है, जिसकी भोजकत्व शक्ति पर यह आश्रित होता है और जब स्थायी भाव का इस प्रकार भोग अथवा आस्वादन किया जाता है तो वह रस बन जाता है। रस एक मानसिक अवस्था को कहते हैं, जो पाठक (सहृदय) की ऐसी आत्मनिष्ठ अनुभूति होती है, जिसमें आस्वादन या भोग (आस्वाद, चर्वणा, रसना या भोग) अत्यावश्यक होता है और जिसमें भोक्ता और भोज्य वस्तु एकरूप हो जाते हैं। पाठक प्रतिबिंबित भाव को अपने हृदय

1. किंतु जैसा कि पीछे पृष्ठ 121 पर कहा गया है, नाट्य दर्पण में लिखा है और भोज का भी विश्वास है (सुख-दुःखावस्था रूपं) कि रस सुख-दुखात्मक होता है। रस-कलिका (खंड 1, पृ० 318) में भी यह मत प्रकट किया गया है। इस मत के समर्थन में नाट्य दर्पण में (GOS संस्करण, पृ० 159) दिए गए विस्तृत तर्क देखिए। सिद्धिचंद्र ने 'नव्यों' के सिद्धांत का (काव्य प्रकाश-खंडन, पृ० 16-21 पर) उल्लेख करते हुए लिखा है कि सभी रस सुखात्मक नहीं होते, किंतु कुछ स्पष्ट दुखात्मक होते हैं। अतः वे स्वीकार करते हैं कि शृंगार, वीर, हास्य और अद्भुत रस सुखात्मक होते हैं और करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक दुखात्मक होते हैं। वी० राघवन कृत 'नंबर ऑफ रसाज', अध्याय 8 में इस प्रश्न का विवेचन पढ़िए।

में ग्रहण करता है और उसका आस्वाद लेता है।[1] रस का स्थान प्रतिदर्शित नायक में नहीं होता, क्योंकि वह तो भूतकाल की वस्तु होता है और न तो वह काव्य में ही होता है, जिसका कार्य केवल ऐसे उद्दीपनों इत्यादि का प्रदर्शन करना है, जिनके द्वारा स्थायी भाव को प्रकट किया जाता है और इस तरह पाठक को रस की अनुभूति होती है। रस की अवस्थिति मात्र पाठक की उस प्रतीति में भी नहीं होती, जो उसे काव्य में प्रकट किए गए अथवा अभिनेता द्वारा अभिनीत भावों से प्राप्त होती है, क्योंकि उस समय पाठक को रस की प्रतीति नहीं होती, बल्कि भाव की होती है, जो कि अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग प्रकार का होता है। जैसे वास्तविक जीवन में प्रेमी-युगल को एक साथ देखकर विभिन्न दर्शकों के मन में विभिन्न भाव पैदा होते हैं। वे भाव उनमें उनकी लज्जा, द्वेष, इच्छा, विरक्ति की भावना के अनुरूप पैदा होते हैं।[2] अत: विभाव इत्यादि स्थायी भावों को रसिक के, सहृदय पाठक या दर्शक के भोग के योग्य बनाते हैं और इस प्रकार उसे रस में परिणत करते हैं, किंतु इन्हें सामान्यीकृत होना चाहिए और इनका किसी व्यक्तिविशेष से विशिष्ट संबंध नहीं होना चाहिए (अर्थात् 'परित्यक्त विशेष' होना चाहिए)। अतः धनिक का कहना है कि 'विभाव' सीता से सामान्य स्त्री का बोध होना चाहिए, न कि किसी व्यक्तिविशेष का, जो जनक की पुत्री थी। अतः वे बातें जो सामान्य जीवन में उद्दीपनकारी (विभाव), अनुवर्ती (अनुभाव) और सहायक परिस्थितियाँ (संचारी भाव) कहलाती हैं, काव्य में विभाव इत्यादि का काम करती हैं और स्थायी भाव को रस के रूप में सर्वसाधारण के लिए आस्वाद्य बनाती हैं। जैसे मंच पर अर्जुन के कर्त्तव्यों को देखनेवाले दर्शक की तुलना उस बच्चे से की जा सकती है, जो मिट्टी के हाथी से खेलते हुए अपनी निजी शक्ति का अनुभव कर हर्षित होता है। दर्शक के मन का आनंद उस हर्ष की अभिव्यक्ति है, जो स्वयं की परमानंदमयी प्रकृति का नैसर्गिक स्वरूप है। यह एक ऐसी परिस्थिति है, जो हमें प्राय: 'रसास्वाद' की तुलना 'ब्रह्मास्वाद' से करने का अवसर प्रदान करती है।

इस आनंद-भोग में तल्लीन मानसिक क्रिया के चार पहलू होते हैं, जो चार

---

1. जैकोबी कृत GgA देखिए, 1913, पृ० 308 और उसके आगे।
2. धनिक का विचार है कि ये परिस्थितियाँ रस के व्यंग्यत्व का निरनुमोदन करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि धनिक ने रस का काव्य से व्यंग्य-व्यंजक संबंध स्वीकार नहीं किया है, बल्कि भट्टनायक के भाव्य-भावक सिद्धांत की भाँति कुछ दृष्टिकोण अपनाया है (परब संस्करण 1917, पृ० 96)

प्रधान रसों शृंगार, वीर, बीभत्स और रौद्र से संबंधित होते हैं। भरत[1] ने भी इन्हें स्वीकार किया है, और ये क्रमशः विकास विस्तार, क्षोभ और विक्षेप की अवस्थाओं के आधार पर बनते हैं। पिछले अध्यायों में हमने देखा है कि भट्ट-नायक ने (और अभिनवगुप्त ने भी) रस के भोग (या आस्वाद) के लिए केवल तीन मानसिक दशाओं का होना बतलाया है, जिन्हें विकास, विस्तार और द्रुति कहते हैं। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं गुणों को क्रमशः प्रसाद, ओज और माधुर्य का आधार तथा औचित्य माना है। धनंजय ने नवें रस अर्थात् शांत रस का, जिसका भरत ने उल्लेख नहीं किया है, किंतु जिसे परवर्ती आचार्यों ने मान्यता दी है, नाटक में वर्णन करना निषिद्ध बताया है (iv. 35), क्योंकि पूर्ण शांति की प्रकृति ऐसी होती है, जिसकी निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती और दार्शनिकों[2] के कथनानुसार इसकी चार अवस्थाएँ होती हैं, जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। ये ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनका सहृदय जन अनुभव नहीं कर पाते। यदि सचमुच शांत रस का रस के रूप में अस्तित्व होता है तो इसमें ऊपर वर्णित चार मानसिक क्रियाओं का समावेश होना चाहिए और वे क्रियाएँ उन चार अवस्थाओं के अनुरूप होनी चाहिए, जो साम[3] (वेद) में दार्शनिकों द्वारा मानी गई हैं।

इस संदर्भ में यहाँ मम्मट, विद्याधर और अन्य लेखकों या ग्रंथकारों के मतों का वर्णन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ऐसा करना अंतिम रस सिद्धांत के विषय में जो कुछ पहले कहा गया है, प्रधानतया उसी की पुनरावृत्ति होगा। परवर्ती आचार्यों में केवल विश्वनाथ ही ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने अभिनवगुप्त के अत्यंत उग्र दृष्टिकोण की, जिसमें केवल 'रस-ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा माना

---

1. पीछे पृष्ठ 23 पर देखिए। इस चतुष्टय विभाजन को इसलिए माना गया है कि भरत द्वारा मान्य चार प्रधान रसों और चार गौण रसों के सिद्धांत को स्पष्टतः समीचीन आधार प्रदान किया जा सके।
2. उदाहरणार्थ योग सूत्र i. 33.
3. न च तथाभूतस्य शांत-रसस्य सहृदयाः स्वादयितारः संति, अथ तद्-उपायभूतो मुदिता-मैत्री-करुणोपेक्षादि-लक्षणांस्तस्य च विकास-विस्तार-क्षोभ-विक्षेप-रूपतैवेति।

जाता है, साहस के साथ अपनाया है और इसी के आधार पर काव्यशास्त्र की पद्धति का निर्माण किया है।[1]

विश्वनाथ ने काव्य के संबंध में दी गई अपनी परिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' का अनुसरण करते हुए रस के सभी पहलुओं का विस्तृत विश्लेषण किया है। उन्होंने आरंभ में दो छंदों में रस की विशेषताओं का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है।

"रस सत्व गुण के उत्कर्ष से उत्पन्न होता है। वह अखंड, स्वयं प्रकट और आनंद तथा भाव की एकरूपता से उद्भूत होता है, अन्यत्र दृष्टिगत किसी वस्तु के स्पर्श से मुक्त होता है, ब्रह्मानुभूति के समकक्ष होता है और उसका सार अलौकिक चमत्कार होता है। ऐसे रस का भोग वे लोग करते हैं, जो स्वयं इसके ज्ञान से और इससे अपार्थक्य या अभिन्नता (ज्ञान के विषय के रूप में) स्थापित करने में समर्थ होते हैं। उन्होंने चमत्कार को मन का विस्तार और विस्मय का पर्याय बतलाया है। इस संदर्भ में विश्वनाथ ने अनुमोदन-सहित अपने पूर्ववर्ती आचार्य नारायण के मत का उल्लेख किया है, जिन्होंने अद्भुत रस के भाव को अत्यधिक महत्ता प्रदान की है और यह कहा है कि सभी रसों में इस भाव का होना अत्यावश्यक है। इस बात की भी स्पष्ट रूप से व्याख्या की गई है कि रस और रस के भोग में तादात्म्य होता है या दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इसके विषय में और रस की प्रतीति की क्रिया में कोई भेद नहीं

---

1. भानुदत्त ने प्रधानतया यहाँ विस्तृत रूप से वर्णित रस-सिद्धांत का अनुसरण किया है। उन्होंने रस के कुछ पहलुओं का निराले ढंग से वर्णन किया है। उन्होंने रस को लौकिक और अलौकिक बतलाया है। फिर अलौकिक को निम्नलिखित भागों में बाँटा है :—(1) स्वाप्निक (जिसका आनंद स्वप्न में लिया जाता है), (2) मानोरथिक (जो आकाश-महल की भाँति कल्पनामय होता है) और (3) औपनायिक (जो काव्य में वर्णित होता है)। उन्होंने पुनः रस की अभिव्यक्ति की रीति को देखते हुए रस की त्रिविध व्यवस्था का वर्णन किया है, जैसे (1) अभिमुख—जब यह भाव, विभाव और अनुभाव द्वारा प्रकट किया जाता है, (2) विमुख—जब इन तत्वों को प्रत्यक्षतः अभिव्यक्त नहीं किया जाता, क्योंकि इनका बोध बड़ी कठिनाई से होता है, (3) परमुख—इसके भी दो भेद होते हैं (क) अलंकारमुख—यह वहाँ होता है, जहाँ अलंकार प्रधान और रस गौण होता है। इसमें रसवत् की भाँति संभवतः ऐसे अलंकार भी सम्मिलित माने जाते हैं, जिन्हें ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणीभूत व्यंग्य काव्य के अंतर्गत माना है और (ख) भावमुख—यह वहाँ होता है, जहाँ भाव भी उसी प्रकार प्रधान होता है।

होता। अतः जब हम कहते हैं कि 'रस का भोग किया जाता है', तब हम केवल आलंकारिक कथन का ही प्रयोग करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि रस के भोग की प्रकृति इसके ज्ञान की सामान्य प्रक्रिया से भिन्न होती है।

विश्वनाथ ने इस बात पर पर्याप्त बल दिया है कि दर्शक में वासना का होना आवश्यक है, जो अनुभव (इदानींतनी) या पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त सहजज्ञान (प्राक्तनी) से मिलकर बनती है। यदि किसी व्यक्ति में रसास्वादन की क्षमता या क्षमता के कीटाणु जन्मजात न हों तो वह उसे काव्यानुशीलन और जीवन के अनुभव द्वारा प्राप्त कर सकता है। वैयाकरण, दार्शनिक और शास्त्रीय गीतों (ईश्वर-भजनसंबंधी गीतों) में प्रवीण लोगों में ये भावनाएँ मृत हो जाती हैं। यदि कभी ऐसा ज्ञात हो कि काव्य के किसी जिज्ञासु छात्र में रसास्वादन की क्षमता की कमी है तो हमें समझना चाहिए कि यह उसके पूर्व जन्म के संचित अवगुणों का परिणाम है। अतः विश्वनाथ यह दिखलाने के लिए उत्सुक हैं कि जो रसास्वादन करना चाहता है, उसमें अनुभव और कल्पना-शक्ति का सृजन होना आवश्यक है।

विश्वनाथ ने इस बात पर भी जोर दिया है कि विभावों इत्यादि तथा स्थायी भाव का अनुभव सामान्य या निर्वैयक्तिक रूप में किया जाना चाहिए। पाठक को यह नहीं समझना चाहिए कि यह उसका निजी भाव है, क्योंकि तब यह उसी का भाव रह जायगा (और रस-दशा को प्राप्त नहीं हो सकेगा), और कभी-कभी (जैसे करुण रस या कारुणिक भाव के प्रसंग में) आनंद की अपेक्षा दुःख का कारण बनेगा। स्थायी भाव को केवल नायक के मन का भी भाव नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में दूसरे के मन का भाव होने के कारण यह पाठक को प्रभावित नहीं कर सकता और रस नहीं बन सकता। अतः यह आवश्यक है कि विभाव-अनुभाव तथा स्थायी भाव साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा, जो उनमें अंतर्भूत होती है, साधारणीकृत हों। इसी साधारणीकरण को भट्टनायक ने काव्य की भावकत्व शक्ति माना है। रस के तत्वों या विभावादि और भावनाओं के साधारणीकरण के कारण पाठक काव्य में वर्णित व्यक्ति से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है और समाजगत इसी कल्पना के कारण पाठक को उन महान् व्यक्तियों द्वारा, जो गुणों और पराक्रम में सामान्य पाठक से श्रेष्ठतर होते हैं, निष्पादित असाधारण घटनाओं को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। विभाव-अनुभाव आदि सामान्यतया कारण अवश्य कहे जाते हैं, किंतु सामान्य अर्थ में उनके प्रभाव या कार्यस्वरूप रस की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि रस के संदर्भ में रस और इसके कारणों (विभावादि)

को उपस्थिति साथ-साथ ही रहती है। साधारण कवि और कारण के प्रसंग में ऐसी बात नहीं होती। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सभी कारकों (विभाव-अनुभाव इत्यादि) का एक साथ ही उपस्थित होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि विचारों की संगति के कारण एक विचार की उपस्थिति से दूसरे विचार भी अपने आप आ जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि काव्य-पाठ में जिस वस्तु का अभाव प्रतीत होता है, उसकी पूर्त्ति विचारों की संगति से स्वयं काव्य की व्यंजना शक्ति के कारण हो सकती है। ऊपर वर्णित रस की प्रकृति से यह ज्ञात होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि रस अभिनेता में पाया जाए। वह जो नियम और क्रम के अनुसार यंत्रवत् नायक का पार्ट अदा करता है, यदि वह सचमुच सुरुचि-संपन्न व्यक्ति है और वस्तुतः उन भावनाओं का अनुभव करता है, जिनका वह अभिनय करता है तो उसे भी प्रेक्षक की कोटि में रखा जा सकता है (और वह भी रस का भोक्ता बन सकता है।)[1]

(२)

ध्वनि-संप्रदाय के निर्विवाद प्राधान्य के बावजूद, जिसमें रस के महत्त्व को मान्यता तो प्राप्त थी, किंतु जिसमें उसे अव्यक्त का केवल एक अवस्थान माना जाता था, ग्रंथकारों का एक वर्ग ऐसा भी था, जो काव्य में केवल रस को ही विचारणीय तत्व मानता था। ऐसे ग्रंथकार एकमात्र रस पर ही ध्यान देते रहे और उन्होंने इसी के आधार पर काव्य-पद्धति का निर्माण किया। इन रसों में सामान्यतया शृंगार रस ही संस्कृत काव्य और नाटक का प्रधान विषय रहा है। चूँकि यह विशेष काव्यात्मक भाव सार्वदेशिक संवेदन का विषय है, अतः इन लेखकों ने इस रस के सभी पहलुओं का विशद विवेचन किया है। परिणामस्वरूप हमें शृंगार-प्रधान रीति ग्रंथों की एक शृंखला प्राप्त होती है। इनमें से सर्वप्रथम ज्ञात और सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ रुद्रभट्ट लिखित शृंगार-तिलक[2]

---

1. इसका आधार धनंजय का यह कथन है कि यदि अभिनेता नाटक में वर्णित भावना का अनुभव करता है तो वह स्वयं रस-भोग के आनंद से वंचित नहीं रहता।

2. इसके तीन अध्यायों में जिन विषयों का वर्णन हुआ है, वे निम्नलिखित हैं—1. रस, स्थायी भाव, नाटकीय वृत्तियाँ, शृंगार और इसके भेद, नायक और उदाहरणों-सहित उनका वर्गीकरण, उनके सहायक, 2. विप्रलंभ शृंगार, पूर्व-राग, प्रेम की दस अवस्थाओं, उपाय इत्यादि की विशेषताएँ, 3. अन्य रस, जैसे हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शांत, रस के अनुरूप चार वृत्तियाँ।

है। अपने ग्रंथ के प्रारंभ में रुद्रभट्ट ने स्पष्ट लिखा है कि यद्यपि भरत ने रस का उल्लेख नाटक में किया है, किंतु वे काव्य के प्रसंग में भी इसका उल्लेख करना चाहते हैं और उनका मत है कि काव्य के स्थायी तत्व के रूप में रस का पाया जाना अत्यावश्यक है। इसके पश्चात् हमें भोज लिखित शृंगार-प्रकाश[1] प्राप्त होता है। इसमें विषय का अत्यंत विस्तार से तथा विवेचनात्मक पद्धति से वर्णन किया गया है, जो इसके लेखक की सामान्य विशेषता है। इसके छत्तीस अध्यायों में से कम-से-कम अठारह अध्यायों में शृंगार रस के प्रत्येक पहलू का विस्तृत उदाहरणों द्वारा वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् इसी प्रकार के अनेक ग्रंथों की रचना की गई।[2] इनका प्रधान वर्ण्य विषय रस, विशेषकर शृंगार रस, है। इन ग्रंथों की रचना स्पष्टतः शृंगारिक प्रसंगों की, जो संस्कृत साहित्य में बहुत लोकप्रिय हैं और बहुतायत से पाए जाते हैं, रचना में कवियों का मार्ग-दर्शन करने के लिए हुई थी। इनमें से शारदातनय लिखित भाव-प्रकाश,[3] जिसमें भोज के ग्रंथ के अधिकांश अध्यायों का सारांश पुनः प्रस्तुत कर दिया गया है और शिंग भूपाल[4] लिखित विस्तृत रसार्णव सुधाकर तथा भानुदत्त[5] के दो प्रसिद्ध ग्रंथों में से किसी ने भी इस विषय में, जिसका पहले ही अत्यंत विस्तार से विवेचन हो चुका था, कोई नई अथवा मौलिक बात नहीं जोड़ी है। रूप गोस्वामी द्वारा लिखित 'उज्ज्वल नील-मणि' ने इस सिद्धांत को एक नया मोड़ दिया। इस ग्रंथ में रस का वर्णन उज्ज्वल या मधुर रस के वैष्णव-विचार के रूप में किया गया है।

---

1. पीछे पृष्ठ 188 पर देखिए।
2. देखिए खंड 1, पृ० 221 और साधारण लेखकों का अध्याय।
3. देखिए खंड 1, पृष्ठ 222.
4. देखिए खंड 1, पृष्ठ 224. इस व्यापक ग्रंथ के तीन विलासों में निम्नलिखित विषयों का विवेचन हुआ है: (1) नायक, उसके गुण और उसका वर्गीकरण और उसके अनुषंगी, नायिका, उसका वर्गीकरण और उसके गुण, सात्विक उद्दीपन विभाव, रीति और गुण, नाटकीय वृत्तियां, सात्विक भाव, (2) व्यभिचारी भाव, अनुभाव, आठ स्थायी भाव, आठ रस, (3) नाटक और उसके भेद, लक्षण इत्यादि।
5. रस-तरंगिणी में निम्नलिखित आठ तरंग हैं :—

   (1) भाव की परिभाषा और उसके भेद, स्थायी भाव, (2) विभाव, (3) अनुभाव, (4) आठ सात्विक भाव, (5) व्यभिचारी भाव, (6) रस और शृंगार रस का विस्तृत विवेचन, (7) अन्य रस, (8) स्थायी-भाव और रसजा दृष्टि। रसमंजरी के, जो अपेक्षाकृत एक छोटा ग्रंथ है, आधे से अधिक भाग में नायिका और उसकी सहेलियों का वर्णन किया गया है और शेष भाग में शृंगार-नायक, उसके सहायक, आठ सात्विक गुण, शृंगार के दो रूप और विप्रलंभ शृंगार की दस अवस्थाओं का विवेचन हुआ है।

मधुर रस का तात्पर्य है शृंगार रस और 'उज्ज्वल' शब्द का सुझाव प्रत्यक्षतः इस रस के वर्णन में भरत द्वारा दिया गया है [1] किंतु मधुर रस की व्याख्या न केवल इसके निरपेक्ष रूप में की गई है, बल्कि इसका वर्णन मुख्यतया भक्ति रस की एक अवस्था के रूप में किया गया है (मधुराख्यो भक्ति रसः i.38), क्योंकि वैष्णव अध्यात्मविद्या के अनुसार पाँच रस होते हैं, जिन्हें मोटे रूप में भक्ति-प्राप्ति की पांच शाखाएँ कहा जाता है, जैसे शांत, दास्य (सेवा या विनम्रता, इसे प्रीति भी कहा जाता है), सख्य (मित्रता या समानता, इसे प्रेय भी कहते हैं), वात्सल्य और माधुर्य। प्रधान होने के कारण अंतिम को उज्ज्वल रस या भक्ति रसराज [2] भी कहते हैं और वर्त्तमान ग्रंथ की विषय-वस्तु भी यही है। कृष्ण-रति या कृष्ण का प्रेम इस रस का स्थायी भाव है और इसका भोक्ता इस प्रसंग में साहित्यिक सहृदय नहीं है, बल्कि भक्त या श्रद्धालु है[3]। इस स्थायी भाव को मधुरा रति कहते हैं, जो रस-विशेष का स्रोत है। इसकी परिभाषा कृष्ण-प्रेम के रूप में की गई है।[4] नायक और नायिका की प्रकृति की परिभाषा भी इसी रूप में की गई है और राधा-कृष्ण की प्रेम-कथाओं की कविताओं से उदाहरण लेकर उनके भावों और आवेगों के दृष्टांत दिए गए हैं। अतः यह ग्रंथ वस्तुतः वैष्णव संप्रदाय का ग्रंथ है, जिसे साहित्यिक वेश में प्रस्तुत किया गया है। इसमें कृष्ण को आदर्श नायक माना गया है, किंतु यह चेतावनी भी दी गई है कि नायक के रूप में कृष्ण के संबंध में जो बात सत्य है, वही सामान्य लौकिक नायक के संबंध में सत्य नहीं हो सकती (i, 18-21)।[5]

---

1. यत्किंचित लोके शुचि मेध्यं उज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते, संस्करण ग्रोसे, पृष्ठ 89-90.
2. विश्वनाथ चक्रवर्ती ने i. 2 की इस प्रकार व्याख्या की है—शांत-प्रीति-प्रेयो वात्सल्योज्ज्वल-नामसु मुख्येषु स इवोज्ज्वला पर-पर्यायो भक्तिरसानां राजा मधुराख्यो रसः।
3. स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानां आनीता श्रवणादिभिः। एषा कृष्ण-रतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्।—विश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा उद्धृत, पृ० 4.
4. मधुराख्याया रतेर्लक्षणानां चोक्तम् मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च संयोगस्यादि-कारणम्। मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः, वही।
5. रुढ़िवादी या परंपरावादी आचार्यों ने (देखिए जगन्नाथ; पृ० 47) भक्ति को (जो अनुराग पर आधारित होने के नाते शांत रस के अंतर्गत नहीं आती) भाव के अंतर्गत ही माना है, क्योंकि इसे देवादि-विषया रति कहते हैं और यह पूर्ण विकसित रस के रूप में अस्वीकार्य है। देखिए भानुदत्त

उज्ज्वल-नीलमणि को छोड़कर, जिसमें रस को सामान्य विषय के शृंगार-पूर्ण धार्मिक विचारों से समन्वित करने का प्रयास किया गया है, इन विशिष्ट ग्रंथों का कल्पनात्मक दृष्टि से बहुत कम महत्त्व है और चूँकि उनका क्षेत्र काव्यशास्त्र की अपेक्षा शृंगारशास्त्र अधिक है, अतः उनका प्रतिपादन या विवेचन अन्यत्र किया जाना चाहिए। इन समस्त ग्रंथों में न्यूनाधिक मात्रा में जिस साधारण विचार का प्रतिपादन किया गया है, वह यह है कि काव्य में रस की उत्पत्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और मूल या प्रधान रस शृंगार रस है, जिसका आगे चलकर उसके विविध रूपों में प्रचुर दृष्टांतों-सहित विवेचन हुआ है। यह भावना अग्नि पुराण के संपादक और भोज के दृष्टिकोण में भी स्पष्टतः व्यक्त हुई है। उन्होंने केवल एक ही रस को काव्य के उपयुक्त रस माना है, जिसे शृंगार रस कहते हैं[1]। इसी प्रकार रुद्रभट्ट ने घोषणा की है कि 'शृंगारो नायको रसः' (i. 20) और भानुदत्त यह मानकर चलते थे कि सभी रसों में शृंगार रस का सम्माननीय स्थान है (तत्र रसेषु शृंगारस्याभ्यर्हितत्वेन इत्यादि, संस्करण बनारस, पृ० 21)

(३)

सामान्य सिद्धांतों का विवेचन करते समय शृंगारिक रस, इसकी विविध रसात्मक वृत्तियों और स्थितियों की व्यापक परिभाषा, भेद और वर्गीकरण, जिनका इन ग्रंथों में बड़े परिश्रम से विवेचन किया गया है और जो मध्ययुगीन विद्वानों का आकर्षण रहा है, न तो आवश्यक है और न उपयोगी। आचार्यों ने पद, चरित्र, परिस्थिति और ऐसी ही अन्य बातों के आधार पर नायक, नायिका और उनके सहायकों के सभी भेदों और उपभेदों का तथा नाट्यशास्त्र और उससे संबंधित क्षेत्र में स्थापित परंपराओं के अनुरूप उनके अंग-विक्षेपों और भावों का क्रमबद्ध विवेचन करने में बड़े आनंद का अनुभव किया है[2]। इस तरह रुद्रभट्ट ने प्रारंभ में रसों और भावों की संख्या का उल्लेख करने और

लिखित रस-तरंगिणी, अध्याय vii, उज्ज्वल-नीलमणि और रससंबंधी वैष्णव सिद्धांत; देखिए एस० के० डे लिखित 'वैष्णव फ़ेथ ऐंड मूवमेंट,' कलकत्ता 1942.

1. देखिए खंड 1, पृ० 122, इसके अलावा मंदार मरंद चंपू, अध्याय ix, पृ० 107 (काव्यमाला संस्करण)

2. देखिए भरत, अध्याय xxii-xxiv, दशरूपक iv. 50 और iii.

परिभाषा देने के पश्चात् शृंगार के दो पक्षों का वर्णन किया है—संभोग शृंगार और विप्रलंभ शृंगार[1]। इसके पश्चात् उन्होंने प्रेमी के रूप में नायक के चरित्र के आधार पर उसको अनुकूल नायक, दक्षिण नायक (ऐसा नायक जिसका ध्यान कइयों के प्रति समान रूप से बँटा हुआ हो), शठ नायक और धृष्ट नायक के रूप में वर्गीकृत किया है। परवर्ती लेखकों ने इनमें से प्रत्येक को उत्तम, मध्यम और अधम के रूप में विभाजित किया है और फिर संपूर्ण वर्गीकरण को नायक वर्ग के चार प्रकारों में क्रमबद्ध किया है, जैसे—(1) धीरोदात्त (वीर और उच्च विचारवाला), (2) धीरोद्धत (वीर और उद्धत), (3) धीर ललित (वीर और विलासी) और (4) धीर प्रशांत (वीर और गंभीर)। इस प्रकार हमें कुल मिलाकर नायक के 48 भेद प्राप्त होते हैं।[2]

इसके पश्चात् प्रेम-प्रसंगों में सहायता देनेवाले नायक के सहायकों (नर्म-सचिव) का सक्षिप्त विवरण दिया जाता है[3]। जैसे पीठमर्द, विट और

1. यह विवरण भरत के विवेचन के आधार पर दिया गया है। इसे सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है, जिसमें भोज भी सम्मिलित हैं, किंतु धनंजय ने आयोग, विप्रयोग और संभोग की तीन स्थितियों में अंतर किया है। पहली स्थिति में बाधाओं के कारण प्रेमियों का संगम नहीं हो पाता। दूसरी स्थिति में एक की अनुपस्थिति या प्रतिरोध के कारण वे एक दूसरे से नहीं मिल पातें। पहले प्रकार का प्रेम सुविख्यात दस अवस्थाओं से होकर गुजर सकता है (अभिलाषा, चिंता, स्मृति, प्रेमिका का गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, ज्वर, जड़ता और मरण (शिंगभूपाल ii. 178-201 से तुलना कीजिए), जबकि दूसरी अवस्था नायक-नायिका में कलह पैदा हो जाने के कारण उत्पन्न होती है। यह नायक के अपने प्रति (नायिका के प्रति) विरक्त होने अथवा उसका अनुमान लगने पर होता है, जिसका समाधान 6 उपायों द्वारा किया जा सकता है, जैसे साम (समझौता), भेद (उसकी सहेलियों को अपनी ओर मिलाना), दान, नति (विनम्रता या पाँवों में पड़ना), उपेक्षा या रसांतर (दूसरी तरफ ध्यान आकर्षित करना)। यह अवस्था व्यवसाय-दुर्घटना या शाप के कारण, अनुपस्थिति या प्रवास होने पर भी उत्पन्न होती है।

2. नायक के सद्गुणों की संख्या असंख्य है। उसके लक्षणों के लिए देखिए धनंजय ii. 1 इत्यादि और विश्वनाथ iii. 30 इत्यादि और शिंगभूपाल i. 61 इत्यादि। अलंकार ग्रंथों में प्रतिपादित नायक-नायिका विषय पर देखिए वी० राघवन् लिखित 'अकबरशाही शृंगार-मंजरी' पृ० 14-60।

3. प्रतिनायक या नायक का प्रतिद्वंद्वी धीरोद्धत होता है। औद्धत्य उसका अत्यावश्यक लक्षण होता है, किंतु उसे हठी और नीच भी कहा जाता है (दशरूपक ii.9, साहित्यदर्पण iii. 130, पृ० 136)। नायक के पीठमर्द में

विदूषक। कुछ लेखकों ने इस गणना में चेट (सेवक) को भी सम्मिलित किया है।

इसी प्रकार नायक के प्रति संबंध के आधार पर सामान्यतया नायिका के तीन भेद होते हैं, जैसे अपनी पत्नी को स्वीया, दूसरे की पत्नी को 'परकीया' और जो किसी की भी पत्नी न हो अथवा सभी की स्त्री हो, उसे 'सामान्या' कहते हैं। स्वीया के पुन: तीन भेद होते हैं—(1) मुग्धा (2) मध्या और (3) प्रगल्भा, जिन्हें क्रमश: अनुभवरहित, आंशिक अनुभवी और पूर्ण अनुभवी कहा जा सकता है। परवर्ती लेखकों ने इनमें से प्रत्येक नायिकाभेद को नायिका के स्वभाव के आधार पर अधिक सूक्ष्मता से विभाजित किया है, जैसे—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। पद के आधार पर नायिका के दो भेद होते हैं, ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इनमें से प्रत्येक नायक को प्रिय होती है। परकीया या अन्य-दीया के, जो वैष्णव विचारों के अनुसार सर्वोत्तम प्रकार की नायिका होती है, दो भेद होते हैं। यदि वह कुमारी है तो उसे कन्या कहते हैं और यदि वह विवाहिता है तो उसे ऊढ़ा[1] कहते हैं।

सामान्या नायिका, जिसकी कभी प्रशंसा की गई है (रुद्रभट्ट) और कभी निंदा (रुद्रट), केवल एक प्रकार की होती है, जिसे वेश्या या गणिका कहते हैं।[2] इस तरह से प्राप्त नायिकाओं के सोलह प्रकार के भेदों के आठ उपभेद और भी

नायक के गुण पाए जाते हैं, किंतु वे कुछ न्यून मात्रा में होते हैं (जैसे मालती माधव में मकरंद)। मालविकाग्निमित्र में 'पीठमर्दिका' का पद एक विश्वसनीय मध्यस्थ के रूप में हुआ है। यह तपस्विनी कौशिकी पर लागू होता है। विट, जो चारुदत्त और मृच्छकटिक को छोड़कर अन्य गंभीर नाटकों में उपेक्षित रहा है, भाण में अपने पूरे वैभव में दिखाई देता है, जिसमें वह नायक के रूप में माना जाता है।

1. रुद्रट और रुद्रभट्ट के अनुसार विवाहिता स्त्री के साथ रति करना किसी नाटक या काव्य में स्थायी रस का विषय नहीं बन सकता, किंतु वैष्णव गीतों का यही प्रधान या मुख्य विषय है।

2. भरत xxii, 197-206, धनंजय ii, 21 इत्यादि, विश्वनाथ iii. 61-70, शिंगभूपाल i. 121-125। केवल कुछ प्रसंगों को छोड़कर वेश्या कभी नायिका नहीं होती, किंतु किसी प्रेम-प्रसंग में यदि वह नायिका हो तो उसका प्रतिनिधान अवश्य होना चाहिए, किंतु यदि नायक देवता या राजपुरुष हो तो वह नायिका नहीं हो सकती। इसका अपवाद प्रहसन और प्रसंगत: भाण या शृंगारपूर्ण एकालाप में पाया जाता है, जहाँ उसे हास्यपूर्ण प्रभाव के लिए अधम और लोलुप रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

होते हैं, जो प्रेमी से उसके संबंध की दशा और स्थिति पर निर्भर करते हैं। उनके नाम हैं (1) स्वाधीनपतिका (ऐसी नायिका, जिसका पति पूर्णतया उसके नियंत्रण में हो), (2) उत्का या विरहोत्कंठिता (ऐसी नायिका, जो किसी आपदा अथवा विवशता के कारण संकेत-स्थल पर उपस्थित न होने के कारण निराश हो), (3) वासकसज्जिका (प्रेमी की आशा में बैठी हुई सुसज्जित नायिका), (4) विप्रलब्धा (वह नायिका, जिसे धोखा दिया गया हो), (5) कलहांतरिता, (इसे अभिसंधिता भी कहते हैं) ऐसी नायिका, जो कलह के कारण अलग हो गई हो, (6) खंडिता—प्रेमी में परस्त्रीगमन के चिह्नों का पता लगने के कारण क्रुद्ध हुई नायिका, (7) अभिसारिका—ऐसी नायिका, जो निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार संकेत-स्थल[1] पर अपने प्रेमी से मिलती है, (8) प्रोषित-पतिका—विदेश गए हुए प्रेमी के लिए दुखी नायिका। इस प्रकार हमें नायिकाओं का एक व्यापक वर्गीकरण प्राप्त होता है, जिसमें उनकी संख्या तीन सौ चौरासी तक पहुँचती है। और पीछे के लेखकों में से एक ने लिखा है कि नायिकाओं के और भी प्रकार हैं, किंतु विस्तार-भय के कारण उनका वर्णन नहीं किया जा सकता—विश्वनाथ iii, 88, पृ० 120।

किंतु आचार्यगण इतने विवेचन से ही शांत नहीं हुए। उन्होंने नायक में आठ अन्य विशेष गुणों का भी समावेश माना है। चारित्रिक गुण (सात्विक गुण) इस प्रकार हैं, (1) शोभा—इसमें वीरता, चातुर्य, सत्यता, महत् जनों से स्पर्धा और लघुजनों के प्रति अनुकंपा की गणना होती है, (2) विलास—इसका पता उसकी दृष्टि, पद और हँसी से लगता है, (3) माधुर्य—इसका परिचय कठिन परिस्थितियों में भी नायक के शांत आचरण से प्राप्त होता है, (4) गांभीर्य—आवेगों पर नियंत्रण रखने को गांभीर्य कहते हैं, (5) स्थैर्य—लक्ष्य प्राप्त करने में दिखाई गई स्थिरता को स्थैर्य कहते हैं, (6) तेज या सम्मान की भावना—यह अपमान के प्रति दिखाई गई अधैर्य या क्रोध की भावना से प्रकट होती है, (7) ललित—वाणी, वेश-भूषा और आचरण के लालित्य से इसका पता लगता है और (8) औदार्य—उदारता, मृदुभाषिता और शत्रु तथा मित्र के प्रति समान व्यवहार से इस गुण का परिचय मिलता है। नायिका में और भी अधिक उदार गुण पाए जाते हैं। पहले हम तीन शारीरिक (अंगज)

1. सामान्यतया निम्नलिखित स्थान 'संकेत स्थल' माने जाते हैं—भग्न मंदिर, उद्यान, किसी मध्यस्थ का घर, कब्रिस्तान, नदी का किनारा या कोई अंधकारपूर्ण स्थान।

गुणों का वर्णन पाते हैं : (1) भाव—जो मनोवेग पहले मन में नहीं पाए जाते, उनका पहली बार संकेत मिलना 'भाव' कहलाता है, (2) हाव—आँखों और भौंहों की ऐसी भंगिमा, जिससे मनोवेगों के जागरण का संकेत मिलता है, 'हाव' कहलाता है, (3) हेला—मानसिक भाव के स्पष्ट और निश्चित प्रदर्शन को हेला कहते हैं। इसके पश्चात् नायिका के सात स्वभावज गुणों का वर्णन किया जाता है। जैसे—(1) यौवन की शोभा, (2) सौंदर्य और उमंग, (3) प्रेम से प्राप्त कांति का स्पर्श, (4) माधुर्य, (5) साहस, (6) औदार्य, (7) दीप्ति और आत्म-नियंत्रण। इसके पश्चात् उसके दस अलंकारों या गुणों का वर्णन किया जाता है। विश्वनाथ ने इनमें आठ गुण और भी सम्मिलित किए हैं। इनके अतिरिक्त नायिका की सभी भाव भंगिमाओं, मनोवृत्तियों और मनःस्थितियों, जैसे हसित, चकित, किलकिंचित, मोट्टायित, विकृति, कुट्टमित तथा गहनतम और कोमलतम भावनाओं के प्रदर्शन का सूक्ष्मतम विश्लेषण और वर्गीकरण किया गया है। इस विवरण के अतिरिक्त उन मनोवृत्तियों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनसे विविध प्रकार की नायिकाएँ अपने स्नेह का प्रदर्शन करती हैं, मुग्धा के स्त्री-सुलभ कोमल आचरण का पता लगता है तथा अधिक अनुभवी अथवा प्रौढ़ा नायिका की निर्लज्ज प्रगल्भता ज्ञात होती है। इन प्रयासों में जिस सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति और अंतर्दृष्टि का पता लगता है, उसे हमें मान्यता देनी चाहिए, किंतु यदि स्पष्ट कहा जाए तो यह विश्लेषण रूप का अधिक, आत्मा का कम है। यह ऐसी बातों पर आधारित है, जिन्हें अत्यावश्यक आधार कहने की अपेक्षा घटनाएँ कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें शास्त्रीय मान्यताओं का उपयोग तो किया ही गया है, साथ-ही-साथ तथ्यों के प्रति न्याय करने का भी त्रुटिहीन प्रयास किया गया है। यह प्रयास न केवल आचार्यों के अनुभव के अनुकूल है, बल्कि सामान्य काव्य-प्रयोग के अनुरूप भी है। और इस सामान्य सिद्धांत के विस्तृत विवेचन में कि रस विविध मनोवेगों या विभावादि की सहायता से किसी-न-किसी स्थायी भाव के आधार पर उत्पन्न होता है, काव्यशास्त्र के लेखकों ने उन काव्यात्मक भावों का बहुत ही व्यापक और सतर्क विश्लेषण किया है, जिनके मनोविज्ञान का उनके सिद्धांत से घनिष्ठ संबंध है, अतः इसका पृथक् रूप से अध्ययन करना समीचीन होगा।

(४)

नायक और नायिका के इस विस्तृत विषय का विवेचन विषय के अनुसार विभाव और अनुभाव के सिद्धांत के अंतर्गत आता है, जो रस की उत्पत्ति में सहायक का कार्य करते हैं। ... जो इसका आधार है, स्थायी

भाव कहलाता है। इसे अंग्रेजी में Dominant Feeling कहते हैं। यह विचारणीय ग्रंथ की मुख्य विषय-वस्तु है। इन भावों को भरत के अनुसार—जिन्हें इस विषय पर सभी लेखक अधिकारी विद्वान मानते हैं—आठ श्रेणियों में बाँटा जा सकता है, जैसे रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। हम आगे चलकर देखेंगे कि कुछ लेखकों ने इसमें शम या निर्वेद को भी जोड़ दिया है। ये स्थायी भाव विभावादि की सहायता से उतनी ही संख्या (आठ या नौ) के रसों में परिणत हो जाते हैं।[1] विभाव दो प्रकार[2] के होते हैं,

1. सिद्धांततः रस एक होता है, यह अखंड, अवर्णनीय और अवैयक्तिक आनंद होता है, किंतु इसे अपनी प्रकृति के अनुसार नहीं, बल्कि भावों के आधार पर, जो इसके अवलंब होते हैं, विभाजित किया जा सकता है। भरत (अध्याय vi) और अन्य आचार्यों ने प्रत्येक रस के संबंध में स्थायी भावों और विभावों इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उनका उल्लेख संभव नहीं है। इसका सारांश लिंडेनौ लिखित रस-लेहरे (रसलहरी) लिपज़िग 1913, पृ० 18 इत्यादि में है। इस प्रकार वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है; असम्मोह, अध्यवसाय, नय, बल इत्यादि विभाव हैं; स्थैर्य, शौर्य, त्याग इत्यादि अनुभाव हैं; सांत्वना, गर्व इत्यादि संचारी भाव हैं। विश्वनाथ ने इनका उल्लेख कुछ भिन्न रूप में किया है। उनके अनुसार वीर रस के आलंबन विभाव पराजित किए जानेवाले व्यक्ति होते हैं और उनके कार्य तथा भाव-भंगिमाएँ उद्दीपन विभाव का कार्य करती हैं। इसके अनुभाव के अंतर्गत सहायकों और अनुयायियों की इच्छा या खोज की भावना आती है। इसके सहचारी भाव हैं धैर्य, बुद्धिमत्ता, स्मरण, चिंता इत्यादि। वीर रस के तीन रूप हो सकते हैं (भरत vi, 79, रेनो vi पृ० 80) जैसे युद्धवीर (युद्ध में साहस दिखाना), धर्मवीर, दानवीर। परवर्ती लेखकों ने (जैसे विश्वनाथ) इसमें दयावीर भी जोड़ दिया है। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक रस के लिए एक-एक विशेष रंग और प्रधान देव की व्यवस्था है। अतः लाल, कृष्ण, श्वेत, श्याम और धूसर वर्णों का रौद्र, भयानक, हास्य, शृंगार और करुण रसों से जो संबंध बताया गया है, वह असमीचीन नहीं है, किंतु यह कहना कठिन है कि भयानक को गहरा नीला, विस्मय को नारंगवर्णी और वीर रस को पीत क्यों माना गया है। इनके अधिष्ठाता देव विष्णु (शृंगार के), यम (करुण), रुद्र (रौद्र), इंद्र (वीर), काल (भयानक), महाकाल (शोक), ब्रह्म (अद्भुत) हैं। विश्वनाथ का कहना है कि शांत रस के अधिष्ठाता देव नारायण हैं और इससे संबंधित रंग को कुंद रंग कहते हैं।

2 भरत ने विभाव के इन दो भेदों को नहीं माना है, किंतु धनंजय ने इन भेदों का वर्णन किया है (iv.2) और विश्वनाथ ने इनका वर्णन कर आगे के लिए इनकी परंपरा चला दी है।

जैसे—(1) आलंबन—इसके अंतर्गत ऐसे महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य तत्व, जैसे नायक, नायिका, प्रतिनायक और उनके सहायक आते हैं, (2) उद्दीपन—इसके अंतर्गत ऐसा समय, स्थान तथा परिस्थिति आती है, जो रस उत्पन्न होने में सहायक होती है, जैसे शृंगार रस के प्रसंग में चंद्रोदय या कोयल की कूक उद्दीपन का काम करती है। आंतरिक भावों के बाह्य लक्षणों को, जो किसी भाव के पीछे उत्पन्न होते हैं और उसे सबल बनाते हैं, अनुभाव कहते हैं, जैसे कटाक्ष, मुस्कान, अंग-विक्षेप या चित्रित व्यक्ति के प्रति दिखाई गई भावपूर्ण अनुभूति से उत्पन्न सहज भाव (सात्विक)[1] जैसे प्रलय, वैवर्ण्य, वेपथु इत्यादि। इनको पुनः आठ भागों में विभाजित किया गया है। इनके अतिरिक्त न्यूनाधिक मात्रा में अस्थायी या क्षणिक प्रकृति के कुछ और भाव भी होते हैं, जो स्थायी भाव के साथ-साथ अथवा उसके बीच-बीच में आते हैं और उसकी पुष्टि करते हैं और जैसा कि हम देख चुके हैं, इन्हें संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं। उनकी तुलना राजा के अनुचरों या समुद्र की लहरों से की जा सकती है और स्थायी भाव को क्रमशः राजा या समुद्र कहा जा सकता है। इनका विस्तारपूर्वक वर्गीकरण किया गया है और इनके तैंतीस भेद माने गए हैं। सर्वप्रथम इनका वर्गीकरण और उल्लेख भरत ने किया था। (पीछे पृष्ठ 23 तथा उसके आगे) और उनके अनुयायियों ने उन्हें ज्यों-का-त्यों मान लिया है।

ये सभी तत्व आठ या नौ स्थायी भावों को विविध प्रकार के आठ या नौ रसों तक पहुँचाते हैं। हमें आठ स्थायी भावों और उनसे उत्पन्न होनेवाले आठ रसों का सर्वप्रथम और सर्वाधिक शास्त्रीय वर्णन भरत के ग्रंथ (पृ० 23) में प्राप्त होता है। इनमें शृंगार, वीर, रौद्र और बीभत्स प्रमुख हैं। इनसे अन्य चार रसों की उत्पत्ति होती है—हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक। दंडी ने इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है (ii. 280-87) किंतु उद्भट ने नवें रस के रूप में शांत रस को भी इस संख्या में जोड़ दिया है,[2] हालांकि भरत ने न

---

1. पीछे पृ० 24, पा० टि० 2. परवर्ती ग्रंथों में सात्विक भावों को अनुभावों की एक विशेष श्रेणी माना जाने लगा।
2. निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह पद उद्भट का ही लिखा हुआ है। देखिए पीछे पृष्ठ 106 पा० टि० 2. शांत रस के संबंध में भरत और धनंजय द्वारा प्रस्तुत विवेचन के विषय में देखिए एस० के० डे लिखित 'सम प्रॉब्लम्स' पृ० 139-141. सामान्यतया रसों की संख्या और नाम के विषय में वी० राघवन लिखित 'नंबर ऑफ रसाज़', अड्यार, 1950.

तो इसकी परिभाषा दी है और न इससे संबंधित विभावों का उल्लेख किया है।[1] रुद्रट ने दसवें रस की एक निराली उद्‌भावना की है, जिसे प्रेयस् कहते हैं। भोज ने भी इसे स्वीकार किया है और शांत रस के साथ-साथ नए रस उदात्त और उद्धत भी गिनाए हैं। रुद्रभट्ट ने काव्य में नौ रसों को स्वीकार किया है। हेमचंद्र और दोनों वाग्‌भटों ने भी ऐसा ही माना है। इसी प्रकार अग्नि पुराण में नौ रसों (और आठ स्थायी भावों) का उल्लेख किया गया है, किंतु उसमें भी चार रसों को प्रधान रस मानने और शृंगार को विशेष महत्त्व देने में भरत का ही अनुकरण किया गया है। आनंदवर्धन ने शांत रस को स्वीकार किया है (पृ० 139-238)। परवर्ती लेखकों ने, जिन्होंने शांत रस को नवाँ रस स्वीकार किया है, निश्चय ही निर्वेद को, जो तत्व-ज्ञान अथवा वास्तविकता के ज्ञान से उत्पन्न होता है, इसका स्थायी भाव माना है। कुछ विद्वानों ने इसे 'शम' कहा है, जो मानसिक उत्ताप[2] को चिंता से मुक्ति प्राप्त होने पर उत्पन्न होता है। वैष्णव लेखकों, विशेषकर कविकर्णपूर, ने दास्य, सख्य, वात्सल्य, प्रेम और भक्ति[3] को भी स्थायी भावों की संख्या में जोड़ा है।

दशरूपक के लेखक का कहना है कि निर्वेद या शम-जैसा कोई स्थायी भाव नहीं हो सकता, क्योंकि इस अवस्था के विकास से (यदि प्रेम, घृणा तथा अन्य मानवीय भावनाओं को पूर्णतया समाप्त करना किसी प्रकार संभव हो सके) सारे भाव समाप्त हो सकते हैं और नाटक में, जिसका उद्देश्य मनोभावों का वर्णन करना और उन्हें उद्दीप्त करना है, यह स्वीकार्य नहीं है। दूसरी ओर अन्य लोगों का कहना है कि शांत रस अवश्य होता है, क्योंकि इसका अनुभव उन लोगों ने किया है, जो इस आनंदमयी स्थिति तक पहुँचे हैं, किंतु नाटक साहित्य में इसके दो स्थायी भाव माने गए हैं। चूँकि निर्वेद उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें सारे सांसारिक कार्यकलाप बंद हो जाते हैं या शम उस स्थिति

1. भरत के नाट्यशास्त्र के कुछ आधुनिक संस्करणों में शांत रस के संबंध में जो पाठ प्राप्त होते हैं, वे प्रक्षेप हैं। ऊपर उद्धृत राघवन लिखित पुस्तक में पृ० 15 और उसके आगे देखिए। कालिदास को केवल आठ रसों का पता था। विक्रमोर्वशीय (ii. 18) में इसका वर्णन है और वहाँ भरत मुनि का भी उल्लेख किया गया है।
2. यह रस बीभत्स रस से भी निकट रूप से संबंधित है, क्योंकि यह सांसारिक वस्तुओं से विरक्ति के कारण उत्पन्न होता है।
3. एस० के० डे लिखित "वैष्णव फेथ ऐंड मूवमेंट" पृ० 195.

को कहते हैं, जिसमें मनुष्य सारे मानसिक उत्तापों से मुक्त होता है, अतः साहित्य में यह वर्णन-योग्य नहीं है। अतः मम्मट ने नाटक में आठ रस (पृ० 98) और काव्य में (पृ० 117) नौ रस स्वीकार किया है। भोज ने उस संप्रदाय के दृष्टिकोण के अनुसार, जिसमें शृंगार को विशेष प्रधानता दी जाती है, अपने 'शृंगार-प्रकाश' में एकमात्र एक रस अर्थात् शृंगार रस को ही स्वीकार किया है। यद्यपि उन्होंने अपने 'सरस्वती कंठाभरण' में 'शांत' और 'प्रेयस्' सहित दस रसों का उल्लेख किया है,[1] किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने ग्रंथ में रसों के विवेचन में सर्वाधिक ध्यान एकमात्र शृंगार रस पर ही दिया है। साहित्य में शांत रस स्वीकार्य है या नहीं, इसका विवेचन एकावली (पृ० 96-97) के संपादक ने किया है। उनका कहना है कि भरत ने स्थायी भावों के संदर्भ में उन्हें गिनाने के ठीक पश्चात् निर्वेद का उल्लेख व्यभिचारी भाव के रूप में किया है और व्यभिचारी भावों की सूची के प्रारंभ में भी इसका उल्लेख किया है। इस तथ्य का अर्थ यह है कि भरतमुनि इसे स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव दोनों ही मानते थे। हेमचंद्र ने यद्यपि शांत रस को नवां रस स्वीकार करने की सामान्य स्थापना से सहमति प्रकट की है, किंतु उन्होंने इस शब्दचातुरी को अस्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने प्रधानतया परंपरागत मान्य आठ रसों को (iii, पृ० 160) स्वीकार किया है, किंतु उपर्युक्त आचार्यों के विचारों का सम्मान करते हुए इस संख्या में नवें शांत रस को भी जोड़ा है और दसवाँ रस भी स्वीकार किया है, जिसे वात्सल्य रस कहते हैं। इस रस को स्वीकार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे वैष्णव विचारों से प्रभावित थे (पृ० 185-186)। उन्होंने एक छंद का उद्धरण देकर इसकी व्याख्या की है कि वह भाव, जिसे महामुनियों ने शांत कहा है और अन्य सभी रसों में, जिसका आधार शम है, वह अवस्था है, जिसमें न दुःख होता है और न सुख, न घृणा होती है और न प्रेम और न कोई आकांक्षा।[2]

---

1. भानुदत्त ने (रसतरंगिणी में) रसों के अंतर्गत माया की भी गणना की है। रुद्रट ने प्रेयस् रस का भी उल्लेख किया है, जिसे भोज ने भी स्वीकार किया है। कुछ लेखकों ने श्रद्धा और भक्ति को भी रस माना है। देखिए ऊपर उद्धृत भानुदत लिखित ग्रंथ, पृ० 56 ii. 25 और उसके आगे (संस्करण रेनो)। शिंगभूपाल ने केवल आठ रसों को स्वीकार किया है, किंतु उन्होंने उनकी विवेचना केवल नाट्यशास्त्र की दृष्टि से की है।
2. न यत्र दुःखं, न सुखं न चिंता, न द्वेष-रागौ न च काचिदिच्छा। रसः स शांतः कथितो मुनींद्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः। दशरूपक में भी यह उद्धृत है (iv, 49, टीका)।

किंतु प्रश्न यह पैदा होता है कि शांत रस, जिसकी प्रकृति का वर्णन अभी किया गया है और जो केवल मोक्ष की ऐसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जिसमें किसी भी प्रकार के भाव या संचारी भाव मन में नहीं होते, रस कैसे बन सकता है ? रस की निष्पत्ति तभी होती है, जब उसके लिए आस्वादन-योग्य स्थिति हो ।[1] इस आपत्ति के संबंध में विश्वनाथ का उत्तर यह है कि शांत रस भी रस होता है, क्योंकि उस अवस्था में आत्मा मोक्ष-प्राप्ति के निकट होती है (युक्त-वियुक्त दशा) और पूर्णतया ईश्वर में तल्लीन नहीं हो गई रहती । अतः इस अवस्था में संचारी आदि भावों का मन में उपस्थित रहना असंगत नहीं है । ऐसा कहना कि इस अवस्था में आनंद का भी अनुभव नहीं होता, विरोधाभास नहीं है, क्योंकि यह आनंद तो केवल सांसारिक वस्तुओं के आनंद [2] तक ही सीमित होता है । इस विषय के अंतिम आचार्य जगन्नाथ ने नौ रसों का प्रतिपादन किया है और लिखा है (पृ० 29-30) कि अन्य रसों की भाँति शांत रस का भी अभिनय किया जा सकता है और दर्शक उसका आस्वादन कर सकतें हैं । चूँकि मन की ऐसी अवस्था, जो अशांति से मुक्त होती है और जिस पर किसी प्रकार की वासना या आकांक्षा का प्रभाव नहीं होता, जब अभिनेता के कुशल अभिनय द्वारा प्रकट होती है तो वह वस्तुतः दर्शक के मन पर एक प्रभाव उत्पन्न करती है, अतः इस प्रश्न का निर्णय उसकी उस मनोदशा से होना चाहिए, जो उसकी शांत और तन्मयता की स्थिति से प्रकट होती है । पूर्ण विरक्ति का अभिनय या अभिनेता की इसे अभिनीत अथवा अभिव्यक्त करने की शक्ति विचारणीय विषय नहीं है, बल्कि विचारणीय विषय उस दर्शक की ग्रहण-शक्ति है, जिसे रस का अनुभव होता है । जगन्नाथ ने यह भी कहा है कि जो लोग इस रस को नाटक में स्वीकार नहीं करते, उन्हें भी काव्य में इसे स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि महाभारत-जैसे काव्यों की मुख्य विषय-वस्तु शांत रस का वर्णन करना है, जो सार्वदेशिक अनुभव द्वारा सिद्ध हो चुका है । (अखिललोकानुभवसिद्धत्वात्) । इस संदर्भ में नागेश का कहना है कि शांत रस को नाटक में इस आधार पर स्वीकार किया जाना चाहिए कि 'प्रबोध चंद्रोदय' को सभी नाटक के रूप में स्वीकार करते हैं (पृ० 30) ।

---

1. इत्येवं रूपस्य शांतस्य मोक्षावस्थायां एवात्मा-स्वरूपापत्ति-लक्षणायां प्रादुर्भूतत्वात् तत्र संचार्यादीनाम् अभावात् कथं रसत्वम् ।
2. यश्चास्मिन् सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिक-सुख-परत्वान्न विरोधः ।

जब हम रस के अत्यावश्यक आधार 'भाव' पर आते हैं तो हम देखतें हैं कि भरत ने सामान्य शब्दों में इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—भाव उसे कहते हैं, जो काव्यार्थ को तीन प्रकार के अभिनयों, जैसे वाचिक, आंगिक और सात्विक द्वारा प्रकट करता है।[1] भाव ही यदि वह स्थायी भाव है तो अंत में रस बनता है, अतः यही रस-निष्पत्ति के लिए आधार का कार्य करता है। किंतु परवर्ती लेखकों ने अधिक सूक्ष्मता-परिशुद्धता का परिचय दिया है और शास्त्रीय दृष्टि से इस पद (भाव) का प्रयोग उन स्थितियों के लिए किया है, जिनमें रस का समुचित या पूर्ण विकास न हुआ हो। धनंजय और भानुदत्त दोनों ने भरत द्वारा दी गई परिभाषा का विस्तार किया है। भानुदत्त ने इसे ऐसा 'विकार' अथवा स्वाभाविक मानसिक अवस्था से विपथन बतलाया है, जो रस-निष्पत्ति में सहायक (रसानुकूल) होता है। यह या तो शारीरिक (शरीर) होता है अथवा मानसिक आंतर। किंतु मम्मट ने भाव की संकल्पना का रूप इस प्रकार निश्चित किया है— 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः (रति का विषय कोई देव अथवा ऐसा ही अन्य कोई अधिष्ठाता होता है तथा इसके अपने व्यंजित व्यभिचारी भाव भी होते हैं), इस पर उन्होंने यह टीका भी लिखी है—'आदि शब्दान्मुनि-गुरु नृप-पुत्रादि-विषया कांता-विषया तु व्यक्ता शृंगारः।' गोविंद ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'रति' शब्द का तात्पर्य यहाँ उस स्थायी भाव से है, जो रस की अवस्था को प्राप्त न हुआ हो।[2] इसका तात्पर्य यह है कि जब रति-जैसे स्थायी भावों का विषय देवता, राजा, पुत्र और ऐसे ही अन्य लोग होते हैं या जब व्यभिचारी भाव किसी साहित्यिक रचना में प्रमुख रस के रूप में अभिव्यक्त किए जाते हैं तो उन्हें रस नहीं कहतें, बल्कि भाव कहते हैं और उनके पश्चात् सभी लेखकों ने उनकी इस परिभाषा को स्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने भाव की व्याख्या इस प्रकार की है :—

संचारिणः प्रधानानि, देवादि-विषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जब संचारी भाव प्रधान हों अथवा जब प्रेम (रति) का विषय कोई देव अथवा उसके जैसा ही और कोई हो अथवा

1. कभी-कभी इसमें चौथे प्रकार का अभिनय भी जोड़ दिया जाता है, जैसे आहाय, जो वेशभूषा, साज-सज्जा इत्यादि से प्राप्त होता है।
2. रतिरिति स्थायि-भावोपलक्षणम् देवादिविषये [illegible]

जब स्थायी उद्‌बुद्ध मात्र हो तो उसे भाव कहते हैं। उपर्युक्त छंद के विषय में स्वयं उन्हीं की वृत्ति में इसकी इस प्रकार व्याख्या दी गई है—यद्यपि ये सभी रस के अनुषंगी होते हैं, जिसमें ये अंततः निवास करते हैं, किंतु ऐसे संचारी भाव, जिनका प्रधान भाव के रूप में विकास होता है, जैसे कोई नौकर अपने विवाह के समय अपने राजा के भी आगे-आगे चलता है, या रति इत्यादि, जिसका विषय देवता, मुनि, आध्यात्मिक गुरु, राजा या राजा-जैसा अन्य कोई व्यक्ति होता है या ऐसे स्थायी भाव, जो उद्‌बुद्ध होते हैं और पूर्ण विकसित न होने के कारण रस की अवस्था तक नहीं पहुँचे होते हैं, भाव कहलाते हैं। इन सभी स्थितियों में बाह्य रूप से रस का पूर्ण या समुचित परिपाक नहीं होता। अतः उत्तरकाल में जो ग्रंथ लिखे गए, उनमें भाव को अपूर्ण रस के रूप में ही वर्णित किया गया है। किंतु इसे रसाभास या मिलते-जुलते भावाभास से भिन्न समझना चाहिए, जो तब उत्पन्न होते हैं, जब रस और भाव की असत्य प्रतीति होती है, (जैसा कुमारसंभव में पशुओं में भी रस उत्पन्न होने का वर्णन आया है, अध्याय 3, पृ० 36-37) अथवा उसकी निष्पत्ति असंगत रूप में होती है, जैसे सभी तत्वों[1] के न होने के कारण जब उनमें परिपूर्णता का अभाव होता है। भोज के अनुसार ये स्थितियाँ तब उत्पन्न होती हैं, जब किसी हीन पात्र, पशु (तिर्यक्), प्रतियोगी नायक या किसी अन्य गौण पदार्थ में भाव या संवेग का विकास (परिपाक) होता है।[2] किंतु विश्वनाथ ने अन्य अनेक स्थितियों का विस्तार से सारांश दिया है (अध्याय 3, पृ० 263-66) और रसों के प्रसंग में आनेवाली असंगतियों की विशेष रूप से विवेचना की है। अतः यदि भयानक रस का निवास किसी सज्जन व्यक्ति में कराया जाए या हास्य रस का निवास किसी धार्मिक गुरु में, तो यह असंगति होगी। जैसा कि जगन्नाथ ने कहा है, यह ध्यान देने योग्य बात है कि यदि किसी भाव का विकास असंगत रूप से होता है तो जब तक यह असंगति अवरोध का काम न

1. अनौचित्य-प्रवृत्तत्वे आभासो रसभावयोः (मम्मट) की व्याख्या इस प्रकार की गई है—अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादि-प्रणीतलक्षणानां सामग्री रहितत्वेत्वेकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम्।

2. शिंगभूपाल ने दोनों स्थितियों में अंतर बतलाया है (1) पहली स्थिति तब मानी जाती है, जब रस का संबंध किसी निर्जीव पदार्थ से बताया जाता है, और दूसरी स्थिति तब होती है, जब रस का परिपाक किसी हीन पात्र में या पशु में होता है।

करे, तब तक इसे दोष नहीं कहा जायेगा।[1]

इसी तरह (1) जब रस का उदय मात्र होता है (और उसका पूर्ण परिपाक नहीं हुआ रहता), या (2) जब दो विरोधी रस, जिनकी अभिव्यंजना एक ही स्थान पर और एक ही समय में होती है, अपनी प्रधानता के लिए प्रयास करते हैं, या (3) जब अनेक रसों में से प्रत्येक अगला रस पिछले को दबा देता है तो इन स्थितियों को क्रमशः भावोदय, भाव-संधि और भाव-शबलता कहते हैं। अब रस को इन सभी अवस्थाओं को, जहाँ तक वे आस्वादन के योग्य हैं, प्रकरण की दृष्टि से रस ही माना जाता है (सर्वेऽपि रसनाद् रसः)। इन स्थितियों को भरत ने औपचारिक दृष्टि से स्वीकार नहीं किया है, किंतु उन्होंने इनका संकेत अध्याय 6 पृ० 40 पर दिया है, जिसकी सूचना हमें अभिनवगुप्त की टीका के छठे अध्याय में मिलती है, जिसका कुछ अंश उन्होंने अपने ग्रंथ लोचन के पृ० 66 पर उद्धृत किया है। सबसे पहले उनका उल्लेख उद्भट ने किया है, जिन्होंने उनका समावेश 'ऊर्जस्विन्' के भीतर माना है (iv. 6), किंतु रुद्रट (xii. 4) और ध्वनिकार (ii. 3) की रचनाओं में उन्हें पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है।

किसी एक ही वर्ण्य विषय में रस के अपूर्ण परिपाक तथा इसकी अधीनता और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले विरोधी रसों की स्थितियों में भेद समझना चाहिए। यह विधिवत् निश्चित माना जाता है कि कुछ रस स्वभावानुसार एक दूसरे के विरोधी होते हैं, जैसे शृंगार रस बीभत्स रस का विरोधी है, वीर रस शांत रस का विरोधी है तथा इसी प्रकार अन्य कुछ रसों में भी परस्पर विरोध है।[2]

असंगति या विरोध तीन प्रकार से उत्पन्न होता है, जैसे (1) आलंबन विभाव से तादात्म्य होने से, (2) भाव के विषय से तादात्म्य होने से और (3) आनुपूर्व या अनुक्रम के नैकट्य से। उपर्युक्त दो स्थितियों में उत्पन्न होनेवाली असंगति को क्रमशः ऐसे रसों का निष्पादन करके दूर किया जा सकता है, जिनके आलंबन विभाव भिन्न-भिन्न हों अथवा जो भिन्न-भिन्न आलंबनों (जैसे—नायक और प्रतिद्वंद्वी नायक) में पाए जाते हों। असंगति या विरोध की अंतिम स्थिति को तत्काल एक दूसरे के बाद आनेवाले रसों के स्थान पर

1. यावतात्वनौचित्येन रसस्य पष्टिस्तावत् तु न वार्यंते रसप्रतिकूलस्यैव तस्य निषेधत्वात्।

2. कुछ रस परस्पर एक दूसरे के अनुकूल होते हैं, जैसे करुण और बीभत्स रस, वीर रस के साथ आते हैं। हास्य रस के साथ-साथ शृंगार रस

एक ऐसे रस की सृष्टि करके दूर किया जा सकता है, जो उनके प्रतिकूल न हो। ये ऐसी स्थितियाँ होती हैं, जहाँ दो या दो से अधिक रस प्रधान रस और गौण रस के रूप में आते हैं। यहाँ 'गौण' शब्द भ्रामक है। कभी-कभी इसे अनुषंगी रस (या संचारी रस) कहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि यह अपने में स्वयं परिपूर्ण नहीं हो सकता। साथ ही यह पूर्ण विकसित रस और अपूर्ण विकसित भाव[1] मात्र से भिन्न होता है। जहाँ किसी विरोधी रस का वर्णन या विवेचन तुलना की दृष्टि से किया जाता है, वहाँ कोई असंगति नहीं होती। वस्तुतः ये सारे प्रश्न रस-संबंधी औचित्य के सिद्धांत के अंतर्गत आते हैं, जिसकी विशद विवेचना आनंदवर्धन तथा उनके अनुयायियों ने की है। अंततः यह ध्वनिकार द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत पर आधारित है। (पृ० 145) और इसके आगे, लोचन (पृ० 138), जिसमें सामान्य शब्दों में कहा गया है कि रस का रहस्य औचित्य के प्रतिष्ठित नियमों का अनुपालन करने में निहित है।

ध्वन्यालोक के इस सिद्धांत ने, कि ऐसे साहित्य में, जिससे रस जागृत किया जाता है, विविध प्रकार के औचित्यों (जैसे वक्ता, विषय, विभावादि के प्रयोग, अलंकारों और अन्य तत्वों के प्रयोग, पृ० 134 और 144 इत्यादि) का ध्यान रखा जाना चाहिए और प्रधान रस को कुछ विरोधी तत्वों से बचाया जाना चाहिए, औचित्य के सिद्धांत को जन्म दिया है। परवर्ती लेखकों ने इस विषय का विवेचन रस-दोष के विवेचन के अंतर्गत किया। इस प्रकार उत्तरकाल में लिखे गए ग्रंथों में वामन के समय से चले आते पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ के दोषों के अतिरिक्त रस-दोष को पृथक् और महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। केवल क्षेमेंद्र ने ही इस विषय के महत्व पर बल दिया है। उन्होंने इसी को अपने

आता है (देखिए भरत लिखित, नाट्य शास्त्र, vi. 40) विश्वनाथ के अनुसार (1) श्रृंगार के विरोधी रस करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक हैं। (2) हास्य के विरोधी भयानक और करुण हैं। (3) करुण के हास्य और श्रृंगार हैं। (4) रौद्र के हास्य, श्रृंगार और भयानक हैं। (5) वीर के भयानक और शांत हैं। (6) भयानक के श्रृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शांत हैं। (7) शांत के वीर, श्रृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक हैं और (8) बीभत्स का श्रृंगार है। विश्वनाथ ने परस्पर-विरोधी रसों का इस प्रकार उल्लेख किया है : श्रृंगार-बीभत्स, वीर-भयानक, रौद्र-अद्भुत; हास्य-करुण।

1. अतएवात्र प्रधानेतरेषु रसेषु स्वातंत्र्य-विश्राम-राहित्यात्, पूर्ण रस-भाव-मात्राच्च विलक्षणतया, संचारी-रस नाम्ना-व्यपदेशः प्राच्यानाम्; विश्वनाथ, पृ० 420।

औचित्य विचार चर्चा का विषय बनाया है, जिसका विवरण यथास्थान देखने को मिलेगा। महिमभट्ट ने अपने ग्रंथ के दूसरे अध्याय में अनौचित्य के प्रश्न पर कुछ विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार क्रमशः शब्द और अर्थ की दृष्टि से अनौचित्य या असंगति के दो पहलू होते हैं। इसके पश्चात् उन्होंने शब्द विषय और अर्थ-विषय के बहिरंग और अंतरंग औचित्य पर विचार किया है। अंतरंग औचित्य के प्रसंगों का, जो विभाव इत्यादि के उचित प्रयोग के कारण उत्पन्न होते हैं, विवेचन पूर्ववर्ती लेखक पहले ही कर चुके हैं (जैसे ध्वन्यालोक पृ० 144 इत्यादि)। अतः महिमभट्ट ने बहिरंग औचित्य के प्रश्न को उठाया है। उनके विचारानुसार यह साहित्य के पांच दोषों के अंतर्गत आता है, जैसे 'विधेयाविमर्श' (विधेय के साथ भेद-भाव न करना), प्रक्रम भेद, क्रम-भेद, पौनरुक्त्य, वाच्य-वचन (कथनीय प्रसंग का अभाव)। उन्होंने अन्य प्रसंग-व्यतिक्रमों के साथ-साथ दूसरे अध्याय का शेष भाग इन्हीं के विवेचन और उदाहरण देने में लगा दिया है। यह कहना कठिन है कि अभिव्यंजना की केवल इन्हीं त्रुटियों को ऐसा दोष क्यों माना जाता है, जो इस भंग के कारण माने जाते हैं। परवर्ती लेखकों ने इन्हें सामान्य दोषों के अंतर्गत दिखाया है और रस-विरोध के प्रसंगों को रस-दोष के विशिष्ट उदाहरण माना है।

अध्याय : दस

कवि-शिक्षा-विषयक लेखक

वस्तुतः जिन थोड़े से लेखकों ने कवि-शिक्षा विषय का विवेचन किया है, उनका वर्णन सीधे सामान्य काव्य-शास्त्र के अंतर्गत नहीं आता, फिर भी उनका उल्लेख आवश्यक है। इसका एक कारण तो यह है कि इनमें से कुछ लेखक प्रतिष्ठित और आधिकारिक विद्वान् माने जाते हैं, किंतु प्रधान कारण यह है कि इससे एक विशेष प्रवृत्ति का परिचय मिलता है, जो काव्यशास्त्र के अनुशासनात्मक पहलू पर बल देता है। यह काव्यशास्त्र का व्यावहारिक पहलू है, जिसका विकास इसके सामान्य सिद्धांतों के सैद्धांतिक पक्ष के साथ-साथ हुआ है। इन ग्रंथों में काव्य-शास्त्र के परंपरागत विषयों, इसके सिद्धांतों, मतों, परिभाषाओं इत्यादि का विवेचन नहीं किया गया है। इनका प्रधान कार्य दीपिका के रूप में कवियों का, उनके कार्य अथवा व्यवसाय में, मार्ग-दर्शन करना है। इनका प्रमुख उद्देश्य कवि-शिक्षा अथवा काव्य-रचना के आकांक्षी कवि को काव्य-कला की शिक्षा देना है। तिथियों या आंकड़ों के अभाव में इस संप्रदाय की उत्पत्ति का समय निश्चित करना कठिन है, किंतु इस संप्रदाय ने जो प्रवृत्ति अपनाई है, वह महत्वपूर्ण है। यह प्रवृत्ति प्रायः काव्यशास्त्र के मूल दृष्टिकोण के समान ही व्यापक मानी जाती है, जिसे न्यूनाधिक रूप में यांत्रिक माना जाता है[1]। सामान्य काव्य-शास्त्र के प्राचीन और आधुनिक लेखकों ने निस्संदेह समय-समय पर कवि-शिक्षा के व्यावहारिक पहलू का स्पर्श किया है[2]। किंतु यह असंभव नहीं है कि यह विषय कालांतर में पृथक् अध्ययन का विषय बना और इन सुगम गुटकों की संख्या बढ़ती गई, किंतु तुलनात्मक दृष्टि से इनकी प्रतियाँ हमें बहुत बाद प्राप्त होती है।

---

1. पीछे पृ० 32-33 और पादटिप्पणी 2 देखिए।
2. पीछे पृ० 40 और इसके आगे देखिए।

(१)

क्षेमेंद्र

क्षेमेंद्र की दो कृतियाँ 'औचित्य-विचार-चर्चा' और 'कवि-कंठाभरण', जिन्हें आसानी से यहां एक साथ रखा जा सकता है, अनेक दृष्टियों से विलक्षण और महत्त्वपूर्ण हैं। औचित्य[1] के सिद्धांत के विवेचन में उन्होंने मुख्यतया रस के संबंध में आनंदवर्धन द्वारा प्रतिपादित विषय को ही अपनी खोज का विषय बनाया है। इस विषय का स्पष्ट रूप ध्वन्यालोक के प्रायोल्लिखित या बहुचर्चित इस छंद में पाया जाता है— अनौचित्य से बढ़कर रस-भंग के लिए और कोई परिस्थिति नहीं होती; रस का सर्वोच्च रहस्य औचित्य के प्रतिष्ठित नियमों का पालन करने में निहित होता है[2]। इस का वर्णन करने में औचित्य के नियमों का पालन करना आवश्यक है। और विषय-वस्तु, वक्ता, जागृत किए जानेवाले रस की प्रकृति या रस को जागृत करने से प्रयुक्त साधनों के आधार पर इस विषय के, जिसकी कल्पना भरत ने (जिन्होंने उदाहरणार्थ अनुभावों के प्रयोग की बात कही है) की थी, विविध रूप हो सकते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि इस विषय का बहुत कुछ विवेचन ध्वनि-संप्रदाय के प्रतिपादकों, महिमभट्ट तथा अन्य अनेक उत्तरकालीन लेखकों ने सामान्यतया रस-दोष के अंतर्गत किया है। क्षेमेंद्र ने इस विचार को विकसित किया है और वे उसे चरम सीमा तक ले गए हैं। उन्होंने औचित्य को रस का सार (रस-जीवितभूत) बताया है और रसास्वादन के लिए चमत्कार या सौंदर्यानंद को अत्यावश्यक माना है। इसी तत्त्व के कारण काव्य के अलंकार और गुण का औचित्य सिद्ध होता है और उन्हें उनका वास्तविक महत्त्व प्राप्त होता है। अतः इन्हें यथार्थतः काव्य की आत्मा कहा जा सकता है।[3] जो बात किसी विषय के लिए उपयुक्त या अनुरूप होती है, वह उसके लिए 'उचित' कहलाती है।[4] काव्य में अनेक प्रसंगों, जैसे, पद, वाक्य, प्रबंधार्थ,

1. वी० राघवन 'सम कांसेप्ट्स', पृ० (194-257) ने औचित्य के इतिहास का सुंदर और विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।
2. अनौचित्याद् कृते, नान्यद् रस-भंगस्य कारणम्।
   प्रसिद्धौचित्य-बंधस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥
3. काव्यमाला, गुच्छक, पृ० 115-116।
4. 'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्' वृत्ति में इसकी व्याख्या इस प्रकार दी गई है : 'यत् किल यस्यानुरूपम् तद् उचितम् उच्यते'—पाक और शय्या के सिद्धांत के संबंध में, जो औचित्य के सिद्धांत का समवर्ती है, देखिए पीछे पृ० 215-216।

काव्य के गुण, इसके अलंकार, रस, क्रिया के प्रयोग, कारक, लिंग, वचन, संबंधबोधक अव्यय, विशेषण, उपसर्ग के प्रयोग या देश और काल के विचार के संदर्भ में इसकी आवश्यकता पड़ती रहती है, और इनके प्रयोग की परिस्थितियों की संख्या निश्चित रूप से 27 मानी जाती है (श्लोक 8-10)। इन परिस्थितियों या प्रसंगों में से प्रत्येक परिस्थिति की प्रत्येक बात का विवेचन भिन्न-भिन्न कवियों की रचनाओं से बड़े-बड़े उदाहरण लेकर किया जाता है। इसकी सबसे लोकप्रिय प्रणाली यह है कि पहले किसी नियम के समर्थन में छंदों के उदाहरण दिए जाते हैं और तब उनमें से एक या दो ऐसे छंदों के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं, जो नियम का समर्थन नहीं करते। इस सिद्धांत में स्वयं कोई मौलिक बात नहीं है, क्योंकि यद्यपि इस सिद्धांत के अनुसार इस बात पर ठीक ही यह जोर दिया जाता है कि काव्य में औचित्य का समुचित स्तर बना रहना चाहिए, फिर भी इसमें यह मान लिया जाता है कि काव्य की कसौटी बहुत कुछ अपनी-अपनी रुचि और वैयक्तिक गुण-ग्राहिता पर निर्भर होती है। आनंदवर्धन तथा अन्य लोगों ने इस भावना को 'सहृदयत्व' कहा है, किंतु इसकी परिभाषा बड़ी अस्पष्ट है या यों कहा जाए कि इसे अस्पष्ट होना ही था, इसीलिए इसका पूर्ण रूप से विधिवत् विवेचन नहीं किया जा सकता। यह वस्तुतः रुचि या आलोचना का क्षेत्र है, न कि विशुद्ध काव्यशास्त्र का।

साथ ही इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि संस्कृत साहित्य के इस प्रकार के ग्रंथों के जो स्पष्टतः काव्येष्णु कवियों के मार्गदर्शन के लिए लिखे गए हैं, काव्यगत औचित्य के विवेचन से रूढ़िगत काव्यशास्त्र के घिसे-पिटे मार्ग से भिन्न चलनेवाली सच्ची समालोचना की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। और चाहे कुछ भी हो, इन ग्रंथों ने अपने सरल ढंग से रुचि और समीक्षात्मक निर्णय का एक मानक स्थापित किया है। निस्संदेह काव्यशास्त्र के अधिकांश लेखकों ने समीक्षात्मक प्रवीणता के प्रति प्रवंचना दिखाई है और किसी नियम या सिद्धांत का विवेचन करते समय, विशेषकर दोष और गुण के अध्यायों में, हमें बहुत मात्रा में समीक्षात्मक और अर्ध-समीक्षात्मक सामग्री प्रदान की है, किंतु दृढ़ नियमों और विशिष्ट परिभाषाओं[1] से बंधे रहने के

---

1. हम देख चुके हैं कि कृत्रिम काव्य के विकास के कारण अलंकारशास्त्र का विश्लेषण और अध्ययन अत्यावश्यक बन गया था। किंतु अलंकारशास्त्र

कारण उनका दृष्टिकोण प्रायः और अवश्यमेव सीमित दिखाई पड़ता है।

इस प्रसंग में क्षेमेंद्र के ग्रंथ का अद्वितीय महत्त्व है और उसका कुछ अंश, जिसमें दृष्टांतयुक्त छंदों का विवेचन हुआ है, अत्यंत रोचक है। इसे मूल्यांकन के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य में ऐसे अंश अपेक्षाकृत दुर्लभ हैं। क्षेमेंद्र ने अपनी सीमाओं के भीतर प्रशंसा और निंदा दोनों की है और ऐसे सच्चे समालोचक की भूमिका निभाई है, जो मात्र व्यक्ति के रूप में किसी का आदर नहीं करता, यहाँ तक कि अमर, कालिदास और भवभूति के सम्मानित नामों के आने पर भी उनके विवेचन में कोई अंतर नहीं आता। एक से अधिक स्थलों पर उन्होंने अपनी रचनाओं से विविध श्लोकों का उद्धरण देकर, किसी नियम द्वारा निर्धारित किसी गुण या दोष के दोनों पहलुओं पर अपने विचार प्रकट किए हैं और कुछ प्रसंगों में तो उन्होंने परंपरागत सम्मतियों का विरोध करने में भी संकोच नहीं किया है।[1] उनके समीक्षात्मक विवेचन का आंतरिक मूल्य चाहे कुछ भी हो, उसमें से कुछ तो बहुत ही साधारण और अपरिष्कृत दिखाई पड़ता है, किंतु उससे यह पता चलता है कि उनका संपूर्ण

के अंतर्गत समीक्षा भी आ जाती है (और कभी-कभी इसका विवेचन ही समीक्षा बन जाता है।) किंतु ऐसे आलंकारिकों के लिए यह असंभव-सा हो जाता है, जो साहित्य के रूप और सामान्य विषय से बचने के लिए नियमों के आधार पर सिद्धांत बनाते हैं। अतः अधिकांश ग्रंथों में, चाहे वे सामान्य काव्यशास्त्र पर लिखे गए हों अथवा अलंकारशास्त्र पर, कुछ-न-कुछ समीक्षात्मक सामग्री होती ही है, जिससे बचा नहीं जा सकता। यह भी स्मरणीय और उल्लेखनीय है कि हमारे प्राचीन ग्रंथकारों ने सौंदर्यशास्त्र, काव्यशास्त्र और अलंकारशास्त्र में कोई सूक्ष्म भेद नहीं किया था और न तो इन शास्त्रों के विस्तार-क्षेत्र की कोई सुनिश्चित कल्पना की थी। इन आचार्यों ने काव्यशास्त्रसंबंधी अपने विचारों को मुख्यतया वर्तमान श्रेण्य संस्कृत साहित्य से प्राप्त किया था। यद्यपि वह साहित्य अपनी आंशिक पूर्णता में बड़ा महनीय था, किंतु सामान्य समालोचना की दृष्टि से वह संपन्न नहीं था। उस समय तुलना के लिए किसी अन्य साहित्य का न होना भी एक बहुत बड़ी कठिनाई थी। बाद की प्राकृत तथा अन्य अनुषंगी जो भाषाएँ निकलीं, वे सब संस्कृत से ही उत्पन्न हुई थीं। इस व्याख्या से किसी अंश तक यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि उनका दृष्टिकोण इतना सीमित क्यों था और उनके सिद्धांत तथा परिभाषाएँ इतनी दकियानूसी या पुरासक्त क्यों थीं।

1. उदाहरणार्थ एक रचना की विषय-वस्तु के औचित्य के प्रश्न का विवेचन करते हुए उन्होंने कुमारसंभव के अध्याय 8 (पृ० 120) का—जिसे वे कालिदास की कृति मानते हैं—उद्धरण दिया है और कवि को, हर और

श्रेण्य काव्यशास्त्र से व्यापक परिचय था और निश्चय ही उनकी रुचि परिष्कृत थी। यदि इस सामान्य कहावत में कि 'प्रायः असफल कवि सफल समालोचक बन जाता है', कुछ भी बुद्धिमत्ता है तो यह क्षेमेंद्र पर पूर्णतया लागू होती है, क्योंकि वस्तुतः उनकी समालोचना-शक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

क्षेमेंद्र का दूसरा ग्रंथ कवि-कंठाभरण,[1] यद्यपि उससे कम रोचक है, किंतु अपनी नवीन प्रतिपादन-शैली के कारण वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। क्षेमेंद्र ने काव्य-सृजन की क्षमता प्राप्त करने के लिए दो प्रकार की प्रेरणाओं की कल्पना की है—दैवी सहायता (दिव्य प्रयत्न) और वैयक्तिक प्रयास (पौरुष)। पहली प्रेरणा की प्राप्ति के लिए प्रार्थना, मंत्र-जप और दैवी सहायता की आवश्यकता पड़ती है। दूसरी प्रेरणा प्राप्त करनेवाले काव्येष्णुओं को उन्होंने तीन कोटियों में विभक्त किया है।[2] जैसे, ऐसे व्यक्ति, जिनके लिए थोड़े प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है (अल्पप्रयत्न साध्य); वे व्यक्ति, जिनके लिए अधिक प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है (कृच्छ्र साध्य) और वे लोग, जिनके लिए सारा प्रयत्न निष्फल होता है (असाध्य)। उन्होंने यह कहकर इसे समाप्त किया है कि काव्य-सृजन की क्षमता केवल योग्य और कुछ थोड़े ही व्यक्तियों में पाई जाती है। दूसरे अध्याय में दूसरों की रचनाओं से उद्धरण लेने या काव्य की चोरी[3] करने की समास्या पर सोदाहरण विचार हुआ है। काव्यचौर्य की समस्या पर

पार्वती की कामचेष्टा को साधारण व्यक्ति की कामचेष्टा के रूप में वर्णित करने की रीति की निंदा की है। उन्होंने आनंदवर्धन के साक्ष्य या प्रमाण के प्रतिकूल ऐसा किया है, जिन्होंने अश्लीलता के आरोप के विरुद्ध ऐसे साहित्य का समर्थन किया है।

1. इस ग्रंथ की एक रूपरेखा स्कोनवर्ग (बियेन 1884) द्वारा संपादित 'क्षेमेंद्रस कविकंठाभरण' के पृ० 9 और उसके आगे के पृष्ठों पर प्राप्त होती है। इस ग्रंथ की पाँच संधियों या पाँच अनुभागों में निम्नलिखित विषयों का विवेचन हुआ है : (1) अकवि द्वारा कविता की प्राप्ति (अकवेः कविताप्तिः), (2) प्रतिभाशाली कवि को काव्य की शिक्षा (शिक्षा प्राप्त-गिरः कवेः), (3) चमत्कृति और काव्य के दोष और गुण, (4) काव्य में चमत्कार के लिए अन्य कलाओं और विज्ञानों का कवि को परिचय (परिचय चारुत्व)।
2. देखिए वामन i. 2, i. 5; राजशेखर iv.
3. बाण ने (हर्ष-चरित i. 5-6) क्षुद्र कवियों और कविता चुरानेवालों की स्पष्ट निंदा की है। वामन काव्यशास्त्र पर लिखनेवाले पहले ग्रंथकार हैं, जिन्होंने अर्थ का वर्गीकरण करते समय काव्य-चौर्य की समस्या का उल्लेख किया है।

'ध्वन्यालोक'[1] के चौथे अध्याय में कुछ विवेचन किया गया है, किंतु इसका विस्तृत विवेचन तो राजशेखर[2] ने किया है। इस दृष्टि से क्षेमेंद्र ने कवियों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया है—(1) ऐसे लोग, जो कवि का छायानुकरण करते हैं (छायोपजीविन्), (2) ऐसे लोग, जो शब्द या पद चुराते हैं (पदक और पद उपजीविन्) या संपूर्ण कविता चुराते हैं (सकलोपजीविन्), (3) और वे लोग, जो संसार भर में वैध माने जानेवाले स्रोतों से कविता चुराते हैं (भुवनोपजीव्य, जैसे व्यास)। इसके पश्चात् उन्होंने कवि के जीवन, चरित्र और उसकी शिक्षा के संबंध में विस्तृत रूप से नियमों का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् चमत्कार या रमणीयता का निरूपण किया गया है, जिसके बिना कहा जाता है कि किसी रचना का काव्य कहा जाना संभव नहीं है। इसके साथ-ही-साथ (भिन्न-भिन्न कवियों की रचनाओं से उद्धरण लेकर) चमत्कार या रमणीयता के दस रूपों के उदाहरण भी दिए गए हैं, जैसे यह रमणीयता बिना

1. इस तथ्य के बावजूद कि सैकड़ों कवियों ने ऐसे ग्रंथों की रचना की है, जो शतियों तक चलते हैं, आनंदवर्धन की सम्मत्ति में काव्य का क्षेत्र असीमित है, किंतु दो प्रबुद्ध कवियों के विचारों में कुछ समानता हो सकती है। यह समानता इस प्रकार की हो सकती है, जैसी किसी वस्तु और उसकी छाया के बीच होती है, जैसी किसी वस्तु और उसके चित्र के बीच होती है या जैसी दो व्यक्तियों के बीच होती है। पहले कही गई दो प्रकार की समानताओं से बचना चाहिए, किंतु तीसरे प्रकार की समानता आकर्षक है (iii. 12-13)।

2. अध्याय xi और xii में। उनके विचारों का सारांश जानने के लिए देखिए वी० एम० कुलकर्णीकृत 'संस्कृत राइटर्स ऑन प्लेगियरिज्म' में JOS iii. (1954) पृ० 4''3-411. राजशेखर ने यह घोषणा की है कि ऐसा कोई कवि नहीं है, जो चोरी न करता हो; ऐसा कोई सौदागर नहीं है, जो चोरी नहीं करता; किंतु जो चोरी को छिपाना जानता है, वह बिना किसी बदनामी के, उन्नति करता जाता है। उन्होंने दो प्रकार के काव्य-चौर्य की विवेचना की है, एक तो वह, जिसका परिहार किया जाना चाहिए; दूसरी वह, जिसे स्वीकार किया जाना चाहिए। उनकी सम्मति में कोई कवि या तो उत्पादक हो सकता है, या परिवर्तक या आच्छादक या संग्राहक। वह व्यक्ति, जो किसी शब्द और अर्थ में नवीनता का अवलोकन करता है और कुछ प्राचीन विषयों का वर्णन करता है, वह महान् कवि कहा जा सकता है। काव्य चोरी की दृष्टि से जहाँ तक अन्य योनि, निह्नुत योनि या अन्योनि का प्रश्न है, राजशेखर ने अर्थ का व्यापक वर्गीकरण किया है। इसका विवरण आगे राजशेखर के विवेचन के अंतर्गत देखिए।

विचार किए अथवा अधिक विचार करने पर पाठक को द्रवीभूत करती है (अविचारित रमणीयता या विचार्यमाण रमणीयता)[1] यह संपूर्ण रचना में पाई जाती है अथवा उसके किसी अंश में, यह ध्वनि पर आधारित है या अर्थ पर या दोनों पर, यह अलंकार के कारण है या रस के कारण अथवा विषय-वस्तु की सुप्रसिद्धि के कारण इत्यादि। इसके पश्चात् किसी रचना में आनेवाले अर्थ, शब्द और रस के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् उस ज्ञान-क्षेत्र का संकेत देकर ग्रंथ को समाप्त किया गया है, जो किसी कवि में अवश्य होना चाहिए, साथ ही उन कलाओं और विज्ञानों की लंबी सूची दी गई है, जिसमें किसी कवि को प्रवीण होना चाहिए, उसका विवरण इस प्रकार है—'तत्र तर्क-व्याकरण-भरत-चाणक्य-वात्स्यायन भारत-रामायण-मोक्षोपायात्म-ज्ञान धात्वाद-रत्न-परीक्षा-वैद्यक-ज्योतिष-धनुर्वेद-गज-तुरग-पुरुष-लक्षणद्यु तेंद्रजालप्रकीर्णेषु परिचयः कवि साम्राज्य व्यंजनः। इस ग्रंथ की विषय-वस्तु के इस स्थूल सारांश से यह ज्ञात होगा कि इसे सैद्धांतिक महत्त्व का महान् ग्रंथ कहलाने का कोई विशेष अधिकार नहीं है, किंतु इसका महत्त्व इसकी विषय-वस्तु में नहीं है, बल्कि इसके व्यावहारिक पक्ष के प्रतिपादन और भिन्न-भिन्न कवियों की रचनाओं से उदाहरण लेकर प्रत्येक बात की ऐसी सजग और सूक्ष्म व्याख्या करने में है, जिसमें ज्ञान और समीक्षात्मक विवेचन का रंचमात्र भी उपयोग न हुआ हो।[2]

अरिसिंह, अमरचंद्र और देवेश्वर

अरिसिंह और अमरचंद्र द्वारा लिखित 'काव्य कल्पना-वृत्ति' और उसी के अनुकरण पर देवेश्वर के द्वारा लिखित 'कवि कल्पलता' का वर्णन करने में अधिक समय लगाने की आवश्यकता नहीं है। ये वस्तुतः श्लोकों की रचना के संबंध में लिखे गए ग्रंथ हैं। इनमें छंद और अलंकार का व्यावहारिक विवेचन भी किया गया है। इनमें निम्नलिखित विषयों पर विस्तृत सूचनाएँ दी गई

1. राजशेखर ने उद्भट के नाम से एक कथन का उल्लेख किया है, जिसमें कहा गया है कि क्रमशः शास्त्र और काव्य में पाएं जाने के आधार पर अर्थ के दो भेद हो सकते हैं, जैसे विचारित सुष्ठु या अविचारित रमणीय। पीछे पृष्ठ 55 पाद-टिप्पणी 3 देखिए।
2. क्षेमेंद्र के व्यंग्यात्मक और शिक्षात्मक ग्रंथों के लिए देखिए एस० के० डे लिखित—'ऐस्पेक्ट्स ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर' कलकत्ता, 1947 पृ० 404-410.

हैं—भिन्न-भिन्न प्रकार के छंदों की रचना, विविध प्रकार के शब्द-कौशल का प्रदर्शन, वाग्विलास और श्लेष-रचना की चातुरी, कूट प्रश्न, प्रहेलिकाएँ, अनुप्रास और तुकांत छंद और शाब्दिक कौशल के विविध उपाय। अंतिम अध्याय में उपमाओं की रचना और सामान्य तुलना के लिए सादृश्यों की गणना करके ग्रंथ समाप्त किया गया है। इसमें कवि समयों की भी एक सूची दी गई है और इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है कि किसका वर्णन करना चाहिए और किस प्रकार वर्णन करना चाहिए। इन विलुप्तमान या ह्रासोन्मुख ग्रंथों से, जैसे यमक शब्द-कोष या इसी प्रकार के अन्य ग्रंथों से, आशु कविता लिखने के लिए ऐसी नकली सहायता मिल जाती है, जैसी अपेक्षित हो।

यदि काव्य-कल्पलता और इसकी वृत्ति में दिए गए मुख्य विषयों का सारांश दे दिया जाए तो उससे उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जाएगा और उससे ऐसे ग्रंथों के विस्तार-क्षेत्र तथा उनकी प्रकृति का भी परिचय मिल जाएगा। इस ग्रंथ के प्रथम 'प्रतान' को 'छंदः सिद्धि' कहते हैं। इसमें पाँच अनुच्छेद हैं (1) अनुष्टुप शासन (अनुष्टुप छंद की रचना), (2) प्रमुख छंदों की गणना, क्रिया के व्याकरण-सम्मत रूप में परिवर्तन, प्राकृत से लिए गए शब्द (जहाँ हेमचंद्र से अधिकतर उदाहरण लिए गए हैं), किसी कवि की अपनी या दूसरे कवि की रचना को उसी छंद में या भिन्न छंदों में परिवर्तित करना, एक छंद को दूसरे छंद में परिवर्तित करना, यति; इस संपूर्ण अनुच्छेद का नाम 'छंदोभ्यास' है, (3) पादपूरक शब्दों और छंद के रिक्त स्थानों की पूर्ति करनेवाले शब्दों का प्रयोग (छंदः पुराण) जैसे श्री, सम्, सत्, द्राक्, वि, प्र, इत्यादि (सामान्य-शब्दक), (4) तर्क देना, मार्मिक कथन, निंदा या स्तुति के विषय, प्रश्नावलियाँ, जैसे कुल शास्त्रादि, स्वशास्त्राध्ययन प्रथा इत्यादि (वाद), (5) विवरणात्मक काव्य के विषय, राजा, उसके मंत्री, राजकुमार, सेना, युद्ध और आखेट, नगर, गाँव, वाटिका, झील इत्यादि के वर्णन करने की रीति, कवि-समयों की गणना (वर्ण्यस्थिति)। द्वितीय अध्याय का नाम शब्द-सिद्धि है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित विषयों का विवेचन हुआ है—शब्द-व्युत्पत्ति, समस्त पदों के व्युत्पन्न अर्थ, छंद के बीच में अनुप्रास और यमक का प्रयोग, साथ-ही-साथ इस प्रयोजन के लिए उपयुक्त शब्दों की सूची, संबंधी अभिव्यक्तियों की परिगणना, ध्वनि संप्रदाय का प्रभाव दिखाते हुए शब्दों के अभिधार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। अगले अध्याय का नाम है 'श्लेष-सिद्धि', जो विविध प्रकार के

शब्दों की क्रीड़ा के आधार पर रखा गया है। इसमें निम्नलिखित विषयों का विवेचन हुआ है (1) ऐसे शब्दों की रचना करने की पद्धति बतलाना, जो विभाजन के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में पढ़े जा सकें; साथ ही श्लेषोपयोगी शब्दों की सूची भी दी गई है, (2) सादृश्यों के द्वारा किसी विषय के वर्णन में आनेवाला एक प्रकार का ऐसा श्लेष, जिसमें एक ही जैसे शब्दों में या उनके पर्यायों में एक ही प्रकार का गुण या दशा खोजी जाती है, (3) दुहरे अर्थ देनेवाले प्रसंग, जो ऐसे भिन्नार्थक शब्दों से बनाए जाते हैं, जिनके एक दूसरे से काफी भिन्न अर्थ लगाए जा सकते हैं, (4) विभिन्न व्युत्पत्तियों के रूपों की एकरूपता के कारण पैदा हुई वक्रता, (5) विभिन्न प्रकार के चमत्कार या विचित्रताएँ, जैसे ऐसे श्लोक, जिनमें प्रत्येक शब्द में एक ही स्वर या व्यंजन की पुनरावृत्ति हुई हो; ऐसे श्लोक, जिनकी रचना चित्रों के रूप में हुई हो और जो विभिन्न रूपों में पढ़े जा सकते हों, जैसे शतरंज में घोड़े की चाल के अनुसार इत्यादि। इस विषय का विस्तृत विवेचन धर्मदास सूरि लिखित 'विदग्ध मुख मंडन' नामक ग्रंथ में हुआ है।[1]

अंतिम अध्याय का नाम अर्थ-सिद्धि है। इसमें निम्नलिखित विषयों का वर्णन किया गया है—उपमा, शब्दलोप और ऐसे ही अन्य अलंकारों की रचना। इसमें ऐसे सादृश्यों या समतुल्यों की लंबी सूची दी गई है, जो तुलना किए जानेवाले लक्ष्यों की समान परिस्थितियों और गुणों के कारण उत्पन्न होते हैं, जैसे ओष्ठों की तुलना मूंगे, बिंब फल और नवपल्लव इत्यादि से दी जा सकती है।

इस विवेचन के अधिकांश भागों की पुनरावृत्ति केशवकृत 'अलंकार शेखर' और देवेश्वर कृत 'कवि-कल्पलता' में हुई है। कविकल्पलता सीधे काव्य-कल्पलता के आधार पर लिखी गई है, जिसमें बड़े-बड़े उद्धरणों की चोरी की गई है। अतः इन ग्रंथों पर पृथक् रूप से ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। केशव द्वारा लिखित पुस्तक में (देखिए खंड 1, पृ० 203-204) उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र के सामान्य विषयों का विवेचन हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवेचन किया तो गया है अपने गुरु शौद्धोदनि के विचारों के अनुसार, किंतु वास्तव में यह आधारित है मम्मट, हेमचंद्र और वाग्भटों के विचारों पर। अतः यह ग्रंथ सिद्धांत या प्रतिपादन, किसी भी दृष्टि

1. इस विषय का विवेचन बहुत पहले ही दंडी, रुद्रट और अग्निपुराण द्वारा भी हो चुका है।

से, कठिनता से ही मौलिकता का दावा कर सकता है। जैन ग्रंथकारों के अधिकांश ग्रंथ, जिनमें हेमचंद्र और वाग्भटों द्वारा लिखे गए ग्रंथ भी सम्मिलित हैं,[1] स्पष्टतः उपर्युक्त पाठ्य ग्रंथ की रचना के व्यावहारिक दृष्टिकोण से लिखे गए हैं और जहाँ उनमें सामान्य सिद्धांतों पर विचार-विमर्श हुआ है, वहाँ सदैव ऐसे मामलों पर सुझाव दिए गए हैं, जो व्यवहारतः काव्य रचना में सहायक होते हैं।

(३)
राजशेखर

यद्यपि राजशेखरकृत 'काव्यमीमांसा' काल्पनिक शैली में लिखी गई है और उसमें किसी क्रमबद्ध सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं हुआ है, फिर भी उसका यहाँ उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि इसमें कवि-शिक्षा और मुख्य काव्य-शास्त्र के विषय में संयुक्त रूप से प्रस्तुत किए गए हैं। साथ ही उसमें विविध प्रकार के असंबद्ध विषयों का बहुत कुछ निरुद्देश्य प्रतिपादन भी हुआ है।

यह ग्रंथ इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें भिन्न-भिन्न मतों का अलग-अलग संग्रह हुआ है और इससे कतिपय काल की साहित्यिक प्रथाओं पर प्रकाश पड़ता है। इसमें प्रतिपादित दृष्टिकोण का किसी विशेष संप्रदाय से सीधा संबंध नहीं दिखाया जा सकता, किंतु यह नितांत संभव है कि इसके लेखक ने मुख्य रूप से ऐसी मत-परंपरा का अनुसरण किया हो, जो उसे अपने साहित्यिक पूर्वजों से प्राप्त हुई हो और जिसका उल्लेख उन्होंने प्रायः 'यायावरीयम्' के रूप में किया है।

राजशेखर ने काव्यशास्त्र का उद्गम स्वर्ग और ईश्वरीय विभूतियों से बतलाया है और इसकी रचना के लिए उन्होंने उच्च कोटि का अनुशासन अपेक्षित माना है। यह सातवाँ 'अंग' माना जाता है, जिसके बिना वैदिक ग्रंथों का महत्त्व नहीं समझा जा सकता। स्वजात श्रीकंठ ने स्वेच्छा से उत्पन्न अपने चौंसठ शिष्यों को इस विज्ञान की शिक्षा दी थी। उनमें सर्वाधिक सम्माननीय काव्यपुरुष थे। वे सरस्वती से उत्पन्न हुए थे। वे इस अर्ध-उपदेशात्मक ग्रंथ के नाममात्र के नायक थे। चूँकि प्रजापति ने उन्हें इस विज्ञान का विश्व में प्रचार या आख्यापन करने के लिए भेजा था, अतः उन्होंने इसकी शिक्षा अपने सत्रह दैवी शिष्यों सहस्राक्ष तथा अन्य लोगों को प्रदान की। उन शिष्यों ने जिन-जिन

1. उदाहरणार्थ हेमचंद्र, पृ० 5-15, 126-135; कनिष्ठ वाग्भट पृ० 38-68. दोनों ने क्षेमेंद्र और राजशेखर से बड़े पैमाने पर उद्धरण लिए हैं।

अंशों का अध्ययन किया था, उन पर उन्होंने पृथक्-पृथक् अठारह 'अधिकरणों' की रचना की।[1] हमारे ग्रंथकार ने एक ग्रंथ में, जिनमें अठारह अधिकरण हैं, उन समस्त शिक्षाओं का सारांश दे देने का प्रयास किया है, जो उनके समय में बहुत कुछ लुप्त हो गई थीं। यदि हम लेखक की इस योजना को स्वीकार कर लें तो इस महत्वाकांक्षी लेखक का 'कवि-रहस्य' पर लिखा हुआ केवल पहला 'अधिकरण' ही अस्तित्व में रह जाता है। काव्य पुरुष, जिससे सर्वप्रथम छंदोबद्ध वाणी निःसृत हुई और जो काव्य की आत्मा के प्रतीक माने जाते हैं, हिमालय पर दीर्घकालीन तपस्या के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए विद्या-देवी सरस्वती के पुत्र माने जाते हैं। लड़के को संगति प्रदान करने के लिए सरस्वती ने उनकी वधू के रूप में साहित्य विद्या की सृष्टि की, जिसने उनका अनुसरण किया तथा उन्हें जीत लिया अथवा अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इस मामूली कल्पना पर आगे इस पुस्तक में इसके बिलक्षण सिद्धांत दिए गए हैं और इसके स्वच्छंद विस्तार-क्षेत्र में विविध प्रकार के साहित्यिक मंतव्य और रूढ़ियाँ सम्मिलित हैं। साथ-ही-साथ इसमें सामान्य भूगोल, कवि-समय, ऋतुओं का विस्तृत वर्णन, 'कवि गोष्ठी' का विवरण और अन्य संगत तथा असंगत विषय दिए गए हैं।

ग्रंथ का प्रारंभ साहित्य (वाङ्मय) को दो भागों में विभाजित करते हुए होता है। एक भाग को शास्त्र (मानवीय और ईश्वरीय) और दूसरे को काव्य कहते हैं। इसमें विभिन्न शास्त्रों की संख्या बताई गई है और उनकी प्रकृति तथा रूप की परिभाषा दी गई है। ईश्वरीय शास्त्रों के अंतर्गत वेद, उपनिषद् और छह अंग आते हैं (यायावरीयों ने अलंकारशास्त्र को सातवाँ शास्त्र माना है) और मानवीय या मानव-प्रसूत शास्त्रों के अंतर्गत पुराण, इतिहास आन्वीक्षिकी, दो मीमांसाएँ और स्मृतियाँ आती हैं। इसके पश्चात् इसमें चौदह (या अठारह) 'विद्या स्थानों' का उल्लेख हुआ है, जिससे इसके अंतर्गत अनेक तकनीकी और दार्शनिक विषय आ गए हैं। इसके पश्चात् इसमें सूत्र, वृत्ति, भाष्य, समीक्षा, टीका, पंजिका, कारिका और वार्तिक के, जो शास्त्रों के विभिन्न रूप या शैलियाँ हैं, अर्थ समझाए गए हैं और प्रसंगवश 'साहित्य विद्या'[2] की व्युत्पत्तिमूलक परिभाषा भी दी गई है। इसके पश्चात् काव्य-पुरुष की कल्पित कथा का भिन्न प्रसंग (अध्याय-3) देने के बाद लेखक ने

1. देखिए खंड 1 पृ० 1-2.
2. पीछे देखिए, पृ० 35, पा० टि० 1.

विभिन्न प्रकार के शिष्यों का विवेचन (अध्याय iv. में) किया है, जिन्हें शास्त्र-ज्ञान की शिक्षा दी जा सकती है। जैसे 'बुद्धिमत्' और 'आहार्य-बुद्धि'। 'आहार्य-बुद्धि' को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—अन्यथाबुद्धि और दुर्बुद्धि। इस संबंध में लेखक ने 'शक्ति', 'प्रतिभा', 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' के बल का भी विवेचन किया है। यायावरीयम् का कहना है कि शक्ति ही काव्य का स्रोत है और उसी से प्रतिभा और व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है, किंतु दूसरों का मत है कि समाधि और अभ्यास की सहायता की भी आवश्यकता पड़ती है। प्रतिभा[1] दो प्रकार की होती है—'कारयित्री' और 'भावयित्री'। कारयित्री प्रतिभा के तीन भेद हो सकते हैं—सहज, आहार्य या औपदेशिक। इन्हीं के आधार पर कवियों की भी तीन श्रेणियाँ होती हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक। भावकत्व प्रतिभा, कवित्व से पृथक् मानी जाती है। भावक या तो असंतुष्ट जन होते हैं (अरोचकिन:) जैसे वे लोग, जिनमें प्रतिभा तो होती है, किंतु जिनके लिए मार्ग दर्शन अपेक्षित होता है या ऐसे लोग, जो तृण पर जीवित रहते हैं, (सतृणाभ्यवहारिण:), जैसे वे अशिष्ट जन, जो प्रतिभा से पूर्णतया वंचित होते हैं,[2] या ईर्ष्यालु जन होते हैं (मत्सरिण:) और या तो वास्तविक तत्वा-भिनिवेशि जन होते हैं (तत्वाभिनिवेशिन:), जो बिरले ही पाए जाते हैं।

अगले अध्याय (अध्याय v) में विभिन्न दृष्टिकोणों से कवि के विस्तृत वर्गीकरण दिए गए हैं। कवियों को सामान्यतया तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे शास्त्र-कवि, काव्य-कवि और उभय-कवि। शास्त्र-कवि या तो शास्त्र की रचना करते हैं या शास्त्र में काव्य का प्रभाव पैदा करते हैं अथवा काव्य में शास्त्र का प्रभाव। यद्यपि काव्य-कवि का वर्गीकरण तर्कपूर्ण नहीं है, किंतु इसका विस्तृत रूप से आठ भागों में वर्गीकरण किया गया है, जैसे रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि, अलंकार-कवि, उक्ति-कवि, रस-कवि, मार्ग-कवि और शास्त्रार्थ-कवि। इसके पश्चात् दस ऐसे प्रशिक्षणों के नाम गिनाए गए हैं, जिनसे होकर किसी कवि को 'कवि-राज' होने के पहले गुजरना पड़ता है। यद्यपि 'कवि-राज' सर्वोच्च सम्मान या पदवी नहीं है, किंतु राजशेखर के अनुसार, जिन्हें स्वयं यह पदनाम दिया गया था, इससे ऐसी पदवी का पता लगता है, जो 'महाकवि' से भी ऊँची होती है। दूसरी जगह, दसवें अध्याय में, उन्होंने ऐसे सम्मान या प्रतिष्ठा के लिए होनेवाली कवियों की जाँच या साहित्यिक परीक्षा का विवरण दिया है। इसमें सफल होनेवाले कवि को

---

1. इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है''''या शब्द-ग्रामं अर्थ-सार्थं अलंकार-तंत्रं मुक्तिमार्गं अन्यद् अपि तथाविधं अधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।
2. देखिए वामन 1. 2. 1-3.

विशेष रथ में बैठाकर घुमाया जाता है और पट्टा-बंध से सज्जित किया जाता है। उन्होंने कवि के लिए अपेक्षित शरीर, वाणी और विचार की शुद्धता का उल्लेख किया है और कवि के गृह, उसके सेवकों, उसकी लेखन-सामग्री, उसके संपूर्ण दिन का आठ भागों में विभाजन और उसके अनुकूल उनके कर्त्तव्यों का वर्णन भी किया है। विचाराधीन अध्याय 'पाक' के सिद्धांत का संदर्भ देकर समाप्त किया गया है। इसमें नौ प्रकार के पाकों का, जिनके नाम विभिन्न प्रकार के फूलों के स्वाद पर रखे गए हैं, उल्लेख किया गया है।

अगले अध्याय (अध्याय vi.) में शब्द और वाक्य का और उनके व्याकरण-सम्मत, तर्कपूर्ण और अन्य प्रकार के कर्त्तव्यों का विवेचन हुआ है। इस संदर्भ में राजशेखर ने कहा है कि जिस वाक्य में साहित्यिक गुण पाए जाते हैं और जो अलंकारों से सज्जित होता है, उसे काव्य कहते हैं (गुणवद् अलंकृतं च वाक्यं एव काव्यम्, पृ० 24)। यदि इस कथन से कोई निश्चित निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो वह यह है कि राजशेखर ने मौन रूप से सामान्य सिद्धांत के अंतर्गत 'रीति संप्रदाय' की स्थिति को मान्यता प्रदान की है, क्योंकि इस वाक्य में उन्होंने वामन की प्रसिद्ध उक्ति (काव्यशब्दोऽयंगुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयो-र्वर्तते, अध्याय i, 1, 1, पर) को प्रस्तुत किया है। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि उन्होंने बाह्य रूप से उद्भट और रुद्रट के मत के प्रति प्रतिकूल भाव प्रकट किया है और मंगल तथा वामन के मतों के प्रति स्पष्ट रूप से पक्षपात दिखाया है, जिनका रीति-संबंधी वर्गीकरण पृ० 31 पर स्वीकार किया है। यह सत्य है कि उनके संप्रदाय ने इस पर भी विशेष जोर दिया है [1] और आनंदवर्धन के पश्चात् आनेवाले अधिकांश लेखकों की भांति राजशेखर भी रस को महत्ता दिलाने में असफल या पीछे नहीं रहे हैं। इससे इस बात को समझना कठिन हो जाता है कि उनका ग्रंथ निश्चित रूप से किसी सिद्धांतविशेष के लिए रचा गया था। किंतु यह स्पष्ट है कि उनकी सहानुभूति प्राचीन रीति और रस-संप्रदायों के प्रति है, न कि आनंदवर्धन के नए संप्रदाय के प्रति। यद्यपि आनंदवर्धन को पृ० 16 पर उद्धृत किया गया है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने विचारों से अधिक प्रभाव नहीं डाला है। यह संभव है कि उन्होंने किसी ऐसी प्राचीन परंपरा का अनुकरण किया हो, जो रूढ़िगत संप्रदायों से भिन्न हो, किंतु जिसकी बहुत-सी बातें प्राचीन विचारधाराओं और मतों से मिलती-जुलती हों।

---

1. उदाहरणार्थः-किंतु रसवत एव निबंधो युक्तः न नीरसस्य पृ० 45.

शेष ग्रंथ से, जिसमें इसी प्रकार के विषयों का वर्णन हुआ है, उनके काव्य-शास्त्र संबंधी सामान्य विचार पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अगले अध्याय में, जो इसके बाद आता है, नवीन आधार पर भाषण की रीतियों का विश्लेषण हुआ है। यह विश्लेषण विभिन्न धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर ब्राह्म, शैव और वैष्णव तथा उनके संप्रदायगत उपविभाजनों के कारण हुआ है। इसके पश्चात् वामन द्वारा वर्णित तीन रीतियों का संक्षेप में उल्लेख किया गया है।[1] और फिर काकु पर तथा पठन-प्रणाली या विभिन्न लोगों के उच्चारण के संबंध में कुछ मंतव्य प्रकट किया गया है, प्रसंगवश देवताओं, अप्सराओं, पिशाचों इत्यादि की उपयुक्त भाषा और शैली की समस्या पर विचार-विमर्श हुआ है। आठवें अध्याय में काव्य के स्रोतों या सहायता-सामग्री (काव्य योनयः) की गणना की गई है, इसका उल्लेख भामह (i, 9) और वामन (i, 3) ने पहले ही किया है, जैसे धर्मग्रंथ, विधिसंबंधी पुस्तकें, महाकाव्य, पुराण इत्यादि। इसके बाद कला, विज्ञान, दर्शनशास्त्र इत्यादि की एक ऐसी लंबी सूची दी गई है, जिससे काव्य को विषय-सामग्री प्राप्त होती है।[2] अगले अध्याय में (ix) काव्य की संभावित विषय-वस्तु का विवेचन हुआ है, जिसका हवाला आनंदवर्धन ने (पृ० 146 पर) दिया है। विषय-वस्तु का विभाजन घटनाओं और व्यक्तियों के आधार पर या मनुष्य, देवता अथवा पाताल संबंधी विषयों के आधार पर अलग-अलग या भिन्न-भिन्न प्रकार से मिले-जुले रूपों में हुआ है। किंतु उन्होंने यह भी बतलाया है कि विषय-वस्तु

---

1. राजशेखर ने रीति की उत्पत्ति का जो विवरण दिया है, वह विलक्षण है। उनका कहना है कि साहित्य-विद्या के विविध देशों में घूमने के कारण, विविध प्रकार की काव्य की रीतियाँ स्वयं उत्पन्न हो गईं। उनमें से सबसे महत्वपूर्ण वे तीन रीतियाँ हैं, जिनका उल्लेख वामन ने किया है।

2. ये निम्नलिखित हैं—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण-विद्या, समय-विद्या, राज-सिद्धांतत्रयी (अर्थ-शास्त्र, नाट्य,-शास्त्र और काम-शास्त्र), लोक, विरचना, (कवि-मनीषा-निर्मितं कथा तंत्रं अर्थमात्रं वा), और प्रकीर्णक (विविध विषय, जैसे हस्ति-शिक्षा, रत्न-परीक्षा, धनुर्वेद इत्यादि)। दसवें अध्याय में उन्होंने निम्नलिखित बातें बताई हैं (i) काव्य-विद्याएँ, जैसे नाम धातु-पारायण (व्याकरण), अभिधान कोश, छंदो-विचिति (छंदः-शास्त्र) और अलंकार (काव्य-शास्त्र), (ii) चौंसठ कलाएँ, जो उप-विद्याएँ (सहायक अध्ययन-सामग्री) कहलाती हैं और (iii) काव्य मातरः, जैसे कवि सन्निधि, देश-वार्ता, विदग्ध-वाद, लोक-यात्रा, विवाद-गोष्ठी और पुरातन-कवि-निबंध।

निश्चय ही रसवत् होनी चाहिए। दसवें अध्याय में कवि के चाल-चलन, उसके गृह और परिवेश, उसके दैनिक कर्त्तव्य और नियमित कार्य का विवरण दिया गया है। इसके बाद उसमें उस राजा का वर्णन दिया गया है, जो कवि को आश्रय प्रदान करता है और जिसका एक कार्य यह है कि वह कवियों और विद्वानों की सभा बुलाए। इसके पश्चात् दो बड़े रोचक अध्याय (अध्याय xi और xii) आते हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार की काव्य चोरियों या हरण का विस्तृत वर्गीकरण[1] किया गया है। यह वर्गीकरण क्रमशः शब्दों की चोरी या विचारों की चोरी के संदर्भ में किया गया है। अंत में एक ऐसा श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें कहा गया है कि बिरला ही ऐसा कोई कवि होता है, जो दूसरों से चोरी नहीं करता, किंतु सर्वोत्तम चोरी वह है, जिसमें तथ्य को कुशलता से छिपाया गया हो।[2] किंतु मात्र छाया ग्रहण करने या विचारों के अनुकरण को अकाव्यात्मक मानकर निंदित किया गया है (सोऽयं कवेरकवित्व-दायी सर्वथा प्रतिबिंब-कल्पः परिहरणीयः, पृ० 68)। सच्चा कवि उसे कहते हैं, जो शब्दों और विचारों की अभिव्यंजना में कुछ नूतन बातें प्रकट करता है और साथ ही-साथ प्राचीन बातों को नवीन ढंग से प्रस्तुत करता है।[3] अतः अगले अध्याय (अध्याय viii) में काव्य-हरण या साहित्यिक चोरी की बत्तीस ऐसी भिन्न-भिन्न प्रणालियों का विस्तृत विवरण दिया गया है, जिनसे

1. हेमचंद्र (पृ० 8 इत्यादि) और वाग्भट (पृ० 12 इत्यादि) ने राजशेखर के विवेचन के इस अंश की चोरी की है और उसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने कुछ अंश क्षेमेंद्र से भी लिया है (पीछे पृ० 261 इत्यादि देखिए)। इन उद्धरणों के संबंध में एफ० डब्ल्यू० टामस द्वारा लिखित 'भंडारकर कमेमोरेशन वाल्यूम' पृ० 279-383 देखिए)। दो कवियों (पीछे पृष्ठ 262 पाद टि० 1 देखिए)। में पाई जानेवाली तीन प्रकार की समानता के संबंध में आनंदवर्धन ने जो वर्गीकरण किया है, उसमें इन कवियों ने चौथा प्रकार भी जोड़ा है, जैसे 'परपुर प्रवेश प्रतिमता' (दूसरे नगर में प्रवेश करने की समानता) अर्थात् जहाँ विषयसंबंधी पर्याप्त तादात्म्य हो, किंतु अलंकरण या सज्जा में पर्याप्त भिन्नता हो। इन चार प्रकारों में श्रेष्ठता ऊर्ध्वगामी क्रम में है अर्थात् पहले से श्रेष्ठ दूसरा, दूसरे से तीसरा इत्यादि।
2. नास्ति अचौरः कवि जनो नास्ति अचौरो वणिग् जनः।
   स नंदति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितम्॥
3. शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येद् इह किंचन नूतनम्।
   उल्लिखेत् किंचन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥

इन्हें कुशलतापूर्वक उपयोगी बनाया जा सकता है (यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसे अवश्य ही राजशेखर के समय में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेना चाहिए था।) इस रोचक अध्याय में विविध कवियों की रचनाओं से उदाहरण लेकर सभी प्रसंगों या विषयों के विस्तृत दृष्टांत दिए गए हैं।

इस विवेचन के पश्चात् तीन ऐसे अध्याय (अध्याय xiv-xvi) आए हैं, जिनमें स्थापित कवि-समयों का वर्णन हुआ है। ये कवि-समय देशों, वृक्षों, पौधों, फूलों इत्यादि के विषय में हैं, साथ-ही-साथ ये अमूर्त या अस्पृश्य विषयों के संबंध में भी हैं (जैसे हास्य का वर्णन सदैव श्वेत के रूप में किया जाना चाहिए)। इसके आगे दो और अध्याय हैं (अध्याय xvii-xviii), ये क्रमशः भूगोल (देश-विभाग) और ऋतु-काल-विभाग कहलाते हैं। देश-विभाग में भारत के देशों, नदियों, पर्वतों इत्यादि, प्रत्येक की अलग-अलग उपज, विविध प्रकार के लोगों के रग और उनकी मुखाकृति इत्यादि का वर्णन हुआ है। काल विभाग में पवन, पुष्पों और पक्षियों तथा विविध ऋतुओं के अनुकूल कार्यों का वर्णन हुआ है।

काव्यमीमांसा जहाँ तक सुलभ है और वास्तव में जहाँ तक प्रकाशित हुई है, उसके अठारह अध्यायों की रूपरेखा से यह स्पष्ट हो जाएगा कि इसकी लगभग संपूर्ण विषय-वस्तु, यदि ठीक-ठीक कहा जाए तो, सामान्य काव्य-शास्त्र के बाहर आती है, जिसके परंपरागत विषयों का मुश्किल से स्पर्श किया गया है। साथ-ही-साथ राजशेखर ने जिन विषयों का विवेचन किया है, उनका यद्यपि विस्तार से तो नहीं, किंतु संदर्भ मात्र वामन-जैसे रूढ़िवादी लेखकों ने भी दिया है। और इस विषय पर राजशेखर द्वारा लिखे गए अपेक्षाकृत एक प्राचीन ग्रंथ के अद्वितीय साक्ष्य से, जो स्पष्टतः कुछ प्राचीन परंपराओं के अनुरूप लिखा गया था, इस अनुमान को समर्थन प्राप्त होता है कि प्रारंभ में 'साहित्य' या काव्य-कला के व्यापक विषय-क्षेत्र में तब तक ऐसे सभी विविध साहित्यिक विषय आ जाते थे, जब तक धीरे-धीरें कवि-शिक्षा एक संबद्ध किंतु पृथक् विषय नहीं बन गया और जब तक स्वयं शास्त्र भी बहुत कुछ सामान्य सिद्धांतों का विवेचन करने तक ही सीमित नहीं हो गए। फिर भी ये विषय अपने में अत्यंत रोचक हैं और श्रेण्य संस्कृत काव्य और इसके प्रयोग के कुछ साहित्यिक पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। राजशेखर की संक्षिप्त किंतु सरल और चित्रमयी शैली के कारण, जो कि उचित रीति से चुने गए विभिन्न प्रकार के ऐसे दृष्टांतों से सज्जित है, जो काव्यशास्त्र की साधारण पाठ्य पुस्तकों में मिलनेवाले रूढ़िगत दृष्टांतों से बिलकुल भिन्न है, ये विषय और भी अधिक आनंददायी पठन-सामग्री बन गए हैं।